प्रगति से परम्परा की ओर
रामविलास शर्मा

सम्पादक

डॉ. विकास दवे

सह सम्पादक

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

सम्पादन सहयोग

श्री राकेश शर्मा

प्रकाशक

साहित्य अकादमी, भोपाल

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

प्रगति से परम्परा की ओर
रामविलास शर्मा

सर्वाधिकार : **प्रकाशनाधीन**

प्रकाशक : **साहित्य अकादमी (म.प्र.सं.प.)**
मध्यप्रदेश शासन, संस्कृति विभाग,
संस्कृति भवन, बाण गंगा चौराहा, भोपाल-3
फोन : 0755 : 2554782
Email : sahityaacademy.bhopal@gmail.com

संस्करण : **प्रथम 2021**

मूल्य : **रु. 300/- (रुपये तीन सौ मात्र)**

आवरण : **अमरजीत कुमार**

आकल्पन : **राकेश सिंह**

मुद्रण : **मध्यप्रदेश माध्यम**, अरेरा हिल्स,
भोपाल (म.प्र.)

भारतीय मनीषा के राजदूत : रामविलास शर्मा

रामविलास शर्मा भारतीय समालोचना जगत का एक ऐसा नाम जिस नाम को मुख से उच्चारित करते ही मस्तक श्रद्धा से स्वत: झुक जाता है। भारतीय साहित्य में समालोचना के यूँ तो अनेक स्वर उठते रहे किंतु दुर्भाग्य से यह सभी स्वर निष्पक्ष और न्याय संगत नहीं हो पाये। उसका मूल कारण यह रहा की समालोचना जगत को वाम और दक्षिण के नाम पर पूरी तरह ध्रुवीकरण और विभाजित करके रख दिया गया। यह ध्रुवीकरण तब और अधिक मजाक बनता चला गया जब भारतीय साहित्य से परंपरा के बहिष्कार के नाम पर भारतीय अस्मिता से जुड़े प्रत्येक प्रतीक और बिम्ब को खारिज करते हुए विदा करना अनिवार्य घोषित कर दिया गया। इसी की परिणिति भारतीय साहित्य के आधुनिक युग ने बाबा नागार्जुन और त्रिलोचन जी के जीवन के उत्तरार्ध में उनके साथ हुई वैचारिक मानसिक निष्ठुरता के रूप में नई पीढ़ी ने देखी। प्रगतिशीलता एक ऐसा साहित्यिक हिंसक नारा बन कर उभरा जिसने असहिष्णुता की पराकाष्ठा प्रस्तुत कर दी। उस समय वेद, पुराण, उपनिषद, स्मृति, दर्शन, धर्म, अध्यात्म सहित गंगा जैसे पवित्र शब्द भी प्रगतिशीलता में बाधक घोषित कर दिये गये। उन्हें साहित्य से अत्यंत क्रूरता पूर्वक केवल बाहर ही नहीं किया गया अपितु उनके प्रयोग मात्र को साहित्यिक अपराध घोषित कर दिया गया। ऐसे में हिंदी साहित्य समालोचना जगत में एक अद्भुत व्यक्तित्व प्रकट हुआ नाम था रामविलास शर्मा। साहित्य जगत को अनेक वर्षों तक इस अनूठे समन्वय वादी समालोचक की मूल धारणाओं को समझने में बड़ी कठिनाई आई। यह कठिनाई 'अंध भक्तों' को अधिक आ रही थी, जिन्होंने अपने वैचारिक पूर्वजों से यह सुना था कि भारतीय दर्शन के समस्त धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन मूल्य केवल ढकोसला पोंगापंथी और रूढ़ियों के पर्याय हैं। किंतु उसी खेमे में खड़े रामविलास जी अपनी आलोचना की दुधारी

तलवार लेकर ऐसी सभी साहित्यिक तालिबानी मान्यताओं को निस्तेज करने में सफल हुए। उनकी लेखनी कभी भी वैदिक साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करते रचनाकारों को खुले मन से श्रेष्ठतम घोषित करते हुए भारतीय मान्यताओं और परंपराओं को विश्व के सभी दर्शनों से श्रेष्ठ सिद्ध करने में नहीं हिचकी। कभी वे निराला की 'राम की शक्ति पूजा' के बहाने भारतीय मनीषा में व्याप्त जन-जन के राम को मार्क्स द्वारा घोषित दलित, शोषित और पीड़ित जन के तारक के रूप में भी उभारने से नहीं चूकते। वे जब बाबा तुलसी को अपनी लेखनी से प्रणाम करते हैं तो लगता है अवध क्षेत्र का कोई सहज सरल राम भक्त अपने इष्ट देव को प्रणाम कर रहा है। हिमालय से निकलने वाली गंगा जिनके लिए मोक्षदायिनी हो न हो किंतु इस गंगा के आसपास के परिक्षेत्र में उपजी संस्कार परंपरा को वह भारत की मूल पहचान बताने से कभी नहीं चूकते। वे जब 'हिंदी पट्टी' और 'हिंदी नवजागरण' की चर्चा करते हैं तो यूँ लगता है वे स्वभाषा स्वाभिमान के जीवंत राजदूत बनकर जन-जन के मन में पैठ ही नहीं बना रहे बल्कि उनकी संपूर्ण श्रद्धा को अपने चुंबकीय लेखन के प्रति आसक्त करने में पूरी तरह सफल हो रहे हैं। उन्हें भारतेंदु का भारतीय सांस्कृतिक पक्ष भी भाता है तो दूसरी ओर अपनी ही बिरादरी के तथाकथित इतिहासकारों द्वारा स्थापित 'आर्य बाहर से आये हैं' थ्योरी को चुनौती देने से भी नहीं चूकते। इतिहास का यह 'शव साधक' ऋग्वेद के प्रति अपनी संपूर्ण श्रद्धा भी प्रकट करता है और वामपंथी मार्क्सवादी विचार के भारतीयकरण का पक्ष भी लेता नजर आता है। भाषाई अस्मिता को राष्ट्रीय अस्मिता का पर्याय कहने वाले रामविलास जी अत्यंत मुखरता से संस्कृत को अपने प्राचीन भरतगण की भाषा घोषित करने में भी संकोच नहीं करते।

यह रामविलास जी की वैचारिक दृढ़ता ही थी कि वह मार्क्सवादी खेमे में बैठकर डंके की चोट पर तुलसी के राम को केवल दीनबंधु ही नहीं बल्कि दलित, शोषित, पीड़ित समाज के उद्धारक के रूप में स्थापित करते हैं। रामविलास जी अत्यंत मुखरता से उस विचार की प्राण प्रतिष्ठा करते हैं जो भारतीय समाज को एक ऐसा गौरवबोध प्रदान करता है जो हमें यह समझाने में सक्षम हो जाता है कि 'ग्लोबलाइजेशन', 'वसुधैव कुटुंबकम्' की संतति है।

रामविलास जी अपनी कविताओं में इस्लाम के सबसे उदार चरित्र दाराशिकोह को न्याय भी प्रदान करते हैं तो अपनी 1948 में लिखी कविता श्री

भजन दास की चिट्ठी में इस्लाम के विशुद्ध भारतीय राष्ट्रीय चरित्र को भी उकेरने में सफल हो जाते हैं। वे अत्यंत स्पष्टता से कहते हैं-

तुम तो भूल पाकिस्तान गयो,
औलादि अपनि कुछू छाँड़ी गयो
हिंदू मुस्लिम दूई कौमें हैं
कुछ हिंदून का सिखलाय गयो।
मुस्लिम का जो अब नास करी
तब हम ही घर माँ बास करी।
ऐसे हिंदू जगजोधन का
हम मूरखता माँ बास करी।
यह खेलू भला कब तक होई?
जनता आखिर कब तक सोई?

यह रामविलास जी के जीवट का ही कमाल है कि वह स्वामी विवेकानंद सहित भारतीय मनीषा में रचे बसे प्रत्येक नायक का यशोगान गाने से कभी परहेज नहीं करते। भले ही उन्हें 'दक्षिणपंथी प्रगतिशील' जैसे विशेषण से नवाज कर मजाक बनाने का प्रयास किया जाए।

हिंदी साहित्य के स्वर्णिम युग भक्ति आंदोलन को वे प्रगतिशील चेतना से ओतप्रोत आंदोलन घोषित करके साहित्य समाज को प्रगतिशीलता की बनी बनाई परिभाषा से बाहर निकालने में सफल हो जाते हैं। रामविलास जी के इस अनूठे व्यक्तित्व कृतित्व को एक ही अंक में समाहित करने के लिए साक्षात्कार के एक त्रैमासिक विशेषांक की योजना की गई। दुर्भाग्य से साक्षात्कार के इन अंकों का प्रकाशन कोरोना काल में लंबे समय तक बाधित रहा। इसलिए इस त्रैमासिक विशेषांक को पुस्तकाकार में प्रकाशित करने की योजना बनाई गई। रामविलास जी के संस्कृत वाङ्मय के प्रति अनुराग के विशिष्ट अध्येता प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी और साहित्यिक पत्रकारिता के सौ वर्ष पूरे करने जा रहे प्रख्यात पत्रिका 'वीणा' के संपादक जो रामविलास जी की राष्ट्रीय चेतना पर अध्ययन करने वाले शीर्ष विचारकों में अग्रगण्य भी हैं, श्री राकेश शर्मा जी से इस विशेषांक के संपादन में सहयोग लिया।

मैं इन दोनों अतिथि संपादकों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ और

साथ ही इस पुस्तकाकार विशेषांक में समाहित रचनाओं के समस्त लेखकों के प्रति भी हृदय से आभार प्रदर्शित करता हूँ। आप सबका परिश्रम इस सुंदर ग्रंथ के रूप में हम सबके हाथों में है।

आइए प्रगतिशील को परंपरा की धरा पर लौटाने के भगीरथ डॉ. रामविलास शर्मा की स्मृति को प्रणाम करते हैं और आनंद लेते हैं रामविलास जी पर केंद्रित इस अनूठे विमर्श ग्रंथ का।

धन्यवाद।

डॉ. विकास दवे
निदेशक
साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश

अनुक्रम

प्रगतिवादी समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा **प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित** // 09

डॉ. रामविलास शर्मा और हिन्दी नवजागरण **भगवान सिंह** // 20

हिंदी नवजागरण, नवजागरण की पुनर्मीमांसा और रामविलास शर्मा
डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे // 32

इतिहास के शवसाधक रामविलास शर्मा : नामवर सिंह की दृष्टि–
एक उधेड़बुन **आनन्द कुमार सिंह** // 49

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की नवमीमांसा : रामविलास शर्मा के सन्दर्भ में
डॉ. प्रवीण पण्ड्या // 66

यूरोपीय नवजागरण के भारतीय स्रोत **डॉ. ऋषिकेश राय** // 78

संस्कृत काव्यधारा–रामविलास शर्मा की समीक्षा **राधावल्लभ त्रिपाठी** // 94

रामविलास शर्मा का अर्थशास्त्रीय चिन्तन–लेखन **रविभूषण** // 107

रामविलास शर्मा और हिंदी नवजागरण **योगेश प्रताप शेखर** // 134

डॉ. रामविलास शर्मा के प्रति **विश्वनाथ त्रिपाठी** // 147

डॉ. रामविलास शर्मा के 'तुलसीदास' **अमन कुमार** // 149

शक्ति और सौन्दर्य की अजेय कविता **विजय गुप्त** // 168

हिन्दी की आत्मकथा परम्परा और रामविलास शर्मा **कौशल तिवारी** // 171

डॉ. रामविलास शर्मा के सृजनात्मक व्यक्तित्व में भारतीयता
अजित कुमार राय // 180

भारतीयता, राष्ट्रीय अस्मिता तथा भाषा **रामविलास शर्मा** // 191

साहित्य अकादमी का सर्वोच्च सम्मान 'महत्तर सदस्यता' ग्रहण करते हुए
दिया गया वक्तव्य **रामविलास शर्मा** // 238

मेरा साहित्य संसार **रामविलास जी का भाषण** // 247

रामविलास शर्मा की कविताएँ : कवि // 266

प्रगतिवादी समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी समीक्षा जगत के शलाका पुरुष हैं। उन्होंने लगभग 65 वर्षों तक लेखन कार्य किया और लगभग सौ ग्रन्थ हिन्दी जगत को दिए। शर्मा जी का मुख्य क्षेत्र तो रहा है समीक्षा साहित्य, किन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने अन्य कई विधाओं में भी अपनी छाप छोड़ी है। आरम्भिक वर्षों में वे कविता से जुड़े। उन्होंने 'अगिया बैताल' नाम से प्रगतिवादी धारा की कई कविताओं की रचना की। 'रूपतरंग', गीति माला, बुद्ध वैराग्य आदि काव्य संकलन अपने समय में काफी चर्चित रहे हैं। शायद इसीलिए अज्ञेय जी ने 'तार सप्तक' में उन्हें सम्मानित स्थान दिया, किन्तु काव्य-रचना के साथ शर्मा जी का जुड़ाव आगे नहीं रह सका। शायद उनकी वैचारिकता उनकी भावुकता पर हावी हो गयी और इसीलिए वे शोध-समीक्षा में केन्द्रित हो गए। अपने परवर्ती जीवन काल में उन्होंने उत्कृष्ट कोटि के संस्मरण अवश्य लिखे हैं, किन्तु वे भी उनके साहित्य चिन्तन से अनुस्यूत हैं।

डॉ. शर्मा मूलरूप से अंग्रेजी के विद्वान थे। उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से 1938 में अंग्रेजी साहित्य में पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की थी और पाँच वर्षों तक लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया था। वे 1930 से 1943 अर्थात् 13 वर्षों तक अपने अध्ययन, अन्वेषण और अध्यापन के दौरान लखनऊ में रहे। इसी बीच 1933 से 1942 (अर्थात् 10 वर्षों) तक उन्हें निराला जी का नैकट्य प्राप्त हुआ। निराला जी इनसे लगभग 15 वर्ष बड़े थे, लेकिन दोनों बैसवारा के पड़ौसी गाँवों से जुड़े हुए थे, इसलिए परस्पर बहुत घनिष्ठ थे। इन्हें निराला से कोई बड़ा कवि नहीं दिख रहा था और निराला को इनसे बड़ा कोई समीक्षक नहीं लग रहा था। दोनों अन्योन्याश्रित थे।

शर्मा जी ने निराला जी की अनेक रचनाओं को उनके मुँह से सुना था अर्थात् उनकी रचना प्रक्रिया को निकट से देखा-परखा था और उनसे प्रभावित होकर उन पर कई लेख भी लिखे थे। निराला सम्बन्धी उनका पहला लेख 1934 में छपा था। शर्मा जी की पहली-पहली समीक्षा कृति 'निराला' नाम से 1948 में प्रकाशित हुई। उन दिनों निराला जी पर अनेक प्रकार के आक्षेप किए जा रहे थे। मुख्यत: उनकी काव्य भाषा, उनकी छन्दयोजना और उनकी छायावादी भावधारा को लक्ष्य करके। इन समीक्षाओं से शर्मा जी प्रतिक्रिया प्रेरित हुए और फिर निराला जी के बचाव में वे स्वयं समीक्षा क्षेत्र में कूद पड़े। एक स्थान पर उन्होंने यह अंगीकार किया है कि 'मेरे प्रिय कवि पर द्वेषपूर्ण आरोपों की वर्षा न होती तो आलोचना क्षेत्र में मैं न आता।'' यह स्मरणीय है कि 1942 में निराला जी लखनऊ छोड़कर इलाहाबाद चले गए। इलाहाबाद के साहित्यिक मण्डल में उन दिनों पन्त जी का सम्मोहन छाया हुआ था, जो निराला जी को किसी प्रकार सह्य नहीं था। शर्मा जी भी इस प्रतिस्पर्धा में सक्रिय हो गए। निराला विषयक उनके लेखन का एक उद्देश्य हो गया पंत जी की कटु समीक्षा करना। इस वाद-विवाद में उन्हें बैसवारी तेवर अपनाना पड़ा। वे विवादी लेखन में फँस गए। इससे उनका न्यायिक संतुलन प्रभावित हुआ और विश्वसनीयता भी संदिग्ध हो गयी। उन दिनों शर्मा जी दलीय राजनीति में काफी सक्रिय थे। वे 1949 से 1953 तक सी.पी.आई. के प्रलेस (प्रगतिशील लेखक संघ) के कभी अध्यक्ष तो कभी सचिव रहे। अस्तु, मार्क्सवाद का उन्होंने गहन अध्ययन किया था और उसे साहित्य समीक्षा में घटित करने का भरसक प्रयास भी किया था। डॉ. शर्मा ने अपने लेखन द्वारा मार्क्सवादी परिधि का परिविस्तार किया। मार्क्सवादी चिन्तकों के अनुसार अतीत गौरव या पूर्व परम्परा को प्रश्रय नहीं दिया जाना चाहिए। शर्मा जी की धारणा थी कि ये परम्पराएँ हमारी सांस्कृतिक विरासत हैं। उन्होंने ऋग्वेद का गंभीर मंथन करके सरस्वती घाटी का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत किया। उनके मतानुसार लगभग 2000 ई. पू. इस देश का भरतगण आदिम साम्यवाद से प्रभावित था। यह संस्कृति सुमेरी सभ्यता से कहीं ज्यादा प्राचीन है। यहाँ प्रजातांत्रिक व्यवस्था में कर्मकाण्ड नाम मात्र को नहीं था। यह सारस्वत सभ्यता सप्त सिन्ध से लेकर कोसल तक फैली हुयी थी। शर्मा जी ने प्रसिद्ध इतिहासकार कौसाम्बी के इस मत का खण्डन किया कि आर्य आक्रामक थे, बाहर से आए थे मांसाहारी थे और घुमन्तू प्रकृति के

थे। उन्होंने प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया कि आर्यों के पास तीव्रगामी रथ थे। वे गाय को अवध्य मानते थे, नारी का सम्मान करते थे और इन्द्र, अग्नि, मित्र आदि के पूजक थे। शर्मा जी ने इतिहासकार सातवलेकर का भी कहीं-कहीं अतिक्रमण किया है और वैदिक संस्कृति को काल क्रमानुसार सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया है। उनकी इन स्थापनाओं से प्रगतिवादी हिन्दी कवि लेखक आहत हुए। उन्होंने शर्मा जी की छद्म हिन्दू और ब्राह्मणवादी विचारक तक घोषित कर दिया, किन्तु इससे शर्मा जी विचलित नहीं हुए। वे प्रगतिशील भी बने रहे और गौरवपूर्ण परम्पराओं के पोषक भी। आज सरस्वती घाटी सभ्यता सम्बन्धी उनके चिन्तन को उनका, सर्वोत्तम अवदान कहा जा रहा है। उन्होंने 6000 वर्ष ई.पू. के भाषायी प्रमाण देकर वामपंथी इतिहास को ध्वस्त-निरस्त कर डाला।

मार्क्सवादियों के अनुसार सामन्ती वर्ग बुर्जुआ होता है। शर्मा जी इस मत से सहमत नहीं हो पाए। उनके अनुसार सब सामन्ती बुर्जुआ नहीं होते। भारतेन्दु जितने सामन्ती थे, उससे ज्यादा जनवादी थे। उन्होंने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि को लोकवादी तथा नवजागरणवादी सिद्ध करते हुए उक्त मत का खण्डन किया।

मार्क्सवादियों की धारणा है कि वर्ग संघर्ष विहीन इतिहास पूँजीवादियों की देन होता है। शर्मा जी इससे भी सहमत नहीं हो पाए। उन्होंने भक्ति काव्य की जमकर सराहना की, यह कहते हुए कि वह जीवन आस्था का काव्य है तुलसी और कबीर जनवादी हैं। जायसी लोकवादी हैं। संत प्राय: क्रान्तिकारी रहे हैं। यह भक्तिकाव्य तत्कालीन आतंकी सत्ता के विरुद्ध एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। डॉ. शर्मा ने छायावाद के भी कई पक्षों की संपुष्टि की। उन्होंने घोषित किया कि यह मूलत: मानववादी विचारधारा है। उन्होंने प्रसाद जी के नाटकों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना को रेखांकित किया। छायावादी कवि निराला की तो जमकर प्रशंसा की छायावाद को उन्होंने मुक्ति के अन्दोलन से जोड़ा।

डॉ. शर्मा प्रगति और परम्परा के समन्वयकर्ता रहे हैं। उन्हें कम्यून की अपेक्षा रामराज्य कहीं ज्यादा प्रिय लगा है। विद्रोह की जगह वे सामाजिक प्रजातंत्रवाद का समर्थन देते दिखायी देते हैं। कबीर का ध्वंसात्मक दृष्टिकोण उन्हें इष्टकर नहीं, लगा। उनके अनुसार आदर्श है तुलसी का विधेयवादी जीवन-दर्शन। उनके मरणोपरांत प्रकाशित तुलसी संबन्धी उनका ग्रन्थ इस कथन का प्रमाण है कि

उनके प्रादर्श थे तुलसीदास।

वस्तुस्थिति यह है कि शर्मा जी को मार्क्स की अपेक्षा रूसो का आदर्श कहीं ज्यादा प्रियतर रहा है। उन्होंने जो द्वंद्वात्मक भौतिकवादी विवेचन किया है, उस पर स्तालिन का काफी प्रभाव है। इस दर्शन की नींव उन्होंने भारतीय वैदिक व्यवस्था में स्थापित की थी।

प्रगतिशीलता का अर्थ-विस्तार डॉ. शर्मा ने कई रूपों में किया है। उनके अनुसार भारतेन्दु की जनवादी चेतना और लोक करुणा मार्क्सवाद के बहुत निकट है। प्रेमचंद की कृषक चेतना और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टि पर मार्क्सवाद का प्रभाव है। महादेवी की वेदना में जीवन की चाह है और निराला का अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन प्रगतिशील विचारधारा की उपज है। यह प्रगतिदर्शन उन्हें भारतीय ग्रामीण जीवन एवं कृषि संस्कृति से मिला था।

प्रगतिवादी इतिहास दर्शन के विपरीत मार्क्सवादी दल से जुड़े हुए साहित्यकारों में उन्हें जगह-जगह खोट दिखायी पड़ी है। उनके अनुसार शिवदान सिंह चौहान में दुहरापन है। रांगेय राघव सामन्ती है। राहुल जी स्वेच्छाचार प्रेरित होकर अपने इतिहास लेखन में मुख्यत: विकृतियाँ उभारते रहे हैं। यशपाल अधिकांशत: नारेबाज हैं और एक अश्लील बाजारू लेखक भी। अमृतराय अर्थवादी हैं। भैरव प्रसाद गुप्त मुख्यत: नकारवादी हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त कलावादी हैं। जैनेन्द्र ने कुत्सित समाजशास्त्र बनाया है। डुलीचन्द जोशी, अली सरदार जाफरी, हंसराज रहवर, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि अधिकतर नस्लवादी दिखायी देते हैं। पंत जी पर इनके प्रहार अपेक्षाकृत ज्यादा निर्मम रहे हैं। एक स्थान पर वे लिखते है कि पंत जी धरती पर उतरना चाहते हैं, पर सशंकित हैं कि इनकी जुल्फें और पैन्ट की क्रीज बिगड़ न जाए। शर्मा जी का यह दृढ़ मत रहा है कि प्रगतिशील आंदोलन मात्र बौद्धिक व्यसन नहीं है, मात्र फैशन नहीं है, इसलिए यह केवल निष्ठावान रचनाकारों के द्वारा ही साध्य है।

डॉ. शर्मा ने प्रगतिशील आंदोलन को विदेशी आयात न मानकर शुद्ध भारतीय प्रदेय माना है। हिन्दी में जो प्रगतिवाद हैदर अब्बास, पी.सी. जोशी जैसे अभिजात बुद्धिवादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह हिन्दी जगत का आदर्श नहीं है। ये विलायती लेखक पृथकतावादी भी थे। इन्होंने उर्दू को हिन्दी से जुदा करने का प्रयास किया, जिसकी परिणति अन्तत: भारत पाक विभाजन में दिखाई दी।

शर्मा जी हिन्दी और उर्दू की मिलीजुली भाषा के समर्थक रहे हैं, जिसे हिन्दुस्तानी कहा जाता है। उसे जिस रूप में प्रेमचन्द ने अपनाया था वह शर्मा जी को अभीष्ट रहा है। दूसरी ओर निरालाकृत 'राम की शक्तिपूजा के शब्द शिल्प सौष्ठव पर थे ...।

राष्ट्रीय मुक्ति आदोलन को लेकर डॉ. शर्मा ने कई नए चिन्तन सूत्र दिए हैं। उनका मानना है कि आजादी की लड़ाई और कृषक क्रांति यहाँ समानान्तर चली है। इसलिए 1857 के गदर को उन्होंने सिपाही झड़प न कहकर कृषक-कामगार जागरण माना है। इसका श्रेय उन्होंने अवध (मुख्यत:) वैसवारा को दिया है।

भाषा-चिन्तन के क्षेत्र में रामविलास जी का लेखन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने प्राचीन भाषा परिवारों का एवं भाषा तथा समाज के अन्त:सम्बन्धों का बारीक विश्लेषण किया है। हिन्दी जाति सम्बन्धी उनकी अवधारणा तो सर्वथा मौलिक है। उनके अनुसार यहाँ भाषावार क्षेत्र में बड़ा भाईचारा रहा है। वे मानते हैं कि हिन्दी शब्द हिन्दू का विकल्प बनकर उभरा है। उनके अनुसार यह मध्य हिन्दी देश भारत के नव जागरण का प्रेरक और पूरक रहा है।

वामपंथी होते हुए भी डॉ. शर्मा अतिवादी और उग्रपंथी अथवा प्रगतिवादी विचारधारा से अभिभूत नहीं हुए। उनके अनुसार चीनी समाजवाद, मुख्यत: माओवाद अधिकांशत: जड़ है। उन्होंने प्रगतिवादियों की पेटेन्ट नामावली की जगह कई गैर प्रगतिवादियों में प्रगति की खोज की है। भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रसाद, निराला आदि के प्रति लिखी गई समीक्षाएँ इस कथन का प्रमाण हैं। अवधि कवि 'पहीरा' और 'तस्लीम लखनवी' (नागर) के साहित्य का स्वाद तो उनके दिलो-दिमाग पर छाया रहा। दूसरी ओर किसी कैडर कम्युनिस्ट कवि को उन्होंने कभी नहीं सराहा।

आधुनिक हिन्दी कविता में चलाए गए कई आंदोलनों से शर्मा जी असहमत रहे हैं। उनके मतानुसार प्रयोगवाद और नयी कविता अस्तित्ववाद से ज्यादा प्रभावित हैं। क्षणवाद, मृत्युबोध और नियतिवाद, शर्मा जी के अनुसार विज्ञान विरोधी दर्शन है। इनके पीछे स्वच्छन्दतावादी नास्तिक विचारधारा सक्रिय है। नागार्जुन की राजनीति, शमशेर की कलाबाजी, माचवे का बड़बोलापन, सुमन की चाटुकारिता यानी कामरेडों की कविताई उन्हें रास नहीं आयी।

भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से शर्मा जी को रस शास्त्री कहा जा सकता है। उन्होंने रसशास्त्र और समाजशास्त्र का मेल कराया है। वे प्रकट रूप से कलावाद के विरोधी थे। पर ये छायावादी काव्य-कौशल पर मुग्ध रहे हैं। इसीलिए शुक्ल जी के छायावाद विरोध में उन्हें संकीर्णता दिखाई देती है।

डॉ. शर्मा मुख्यत: काव्य समीक्षक थे, किन्तु गद्य की समीक्षा भी उन्होंने जमकर की है। उनकी प्रथम समीक्षा प्रेमचंद के कथा साहित्य से सम्बन्धित है। उन्होंने यह स्थापित किया है कि प्रेमचद में बड़ी मनोवैज्ञानिक गहराई है। अपने कथा-लेखन द्वारा उन्होंने जनरुचि के नए मानक बनाए हैं। डॉ. मेहता और होरी का समन्वित रूप है प्रेमचंद का व्यक्तित्व। उनका होरी एक अजेय किसान है। कर्मभूमि, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, गोदान आदि कृतियों में उन्होंने जनता की जो पक्षधरता निभाई है, वह अनुकरणीय है। प्रेमचंद ने हिन्दी-उर्दू का मेल करके एक जनभाषा निर्मित की है। निराला सम्बन्धी शर्मा जी की समीक्षाएँ, परिमाण और स्तर, दोनों दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने सिद्ध किया है कि निराला की 'जूही की कली' रोमेन्टिक क्रांति की कविता है। 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति', 'वन बेला' आदि कविताओं में उनका आत्म मुखरित हुआ है। अणिमा में युग का यथार्थ चित्रित हुआ है। 'जागो फिर एक बार' तथा 'बादल राग' में वर्ग-संघर्ष का स्वर है। 'भिक्षुक' तथा 'दीन' नामक कविताओं में दलित चेतना है। निराला के गीत प्राय: जनोन्मुख हैं। उनका कथा साहित्य उत्कृष्ट कोटि का है। यत्र-तत्र उन्होंने निराला की सीमाएँ भी प्रस्तुत की हैं। उनके अनुसार 'शक्तिपूजा' में सहज भाषा नहीं है। उसका अन्त भी गलत है। 'कुकुरमुत्ता' को वे एक असफल (उपहास्यास्पद) कविता मानते हैं, क्योंकि उसमें 'लुम्पेन प्रोलिटेरियेट' तत्व हावी है। निराला के मुक्त छंद को भी उन्होंने बहुत जनोपयोगी नहीं माना है। अपनी तटस्थता और निष्पक्षता प्रदर्शित करने के लिए शर्मा जी ने निराला द्वारा घोषित जन्म तिथि (बसंत पंचमी) का खण्डन किया है। वे यह भी नहीं मानते कि 'जूही की कली' की रचना 1916 में की गयी थी। जनजीवन में निराला की अवढरदानी प्रवृत्ति की जो चर्चा छायी हुयी है, उसका खण्डन करते हुए शर्मा ने जो सिद्ध किया है कि वे स्वभावत: मितव्ययी (बल्कि कंजूस) थे। यदा-कदा वे अन्तर्विरोध से ग्रस्त भी देखते हैं, जैसे सरोज के स्वजातीय विवाह प्रकरण में। कहीं-कहीं शर्मा जी ने अतिरंजित अनुमान का भी सहारा लिया है। उदाहरणार्थ 'सुधा' के सारे संपादकीय

निराला के ही लिखे हुए थे, इसका कोई पुष्ट प्रमाण किसी के पास प्राप्य नहीं है और पास भी नहीं। यों, निराला की 'साहित्य साधना' द्वारा जीवनीपरक समीक्षा का जो नमूना उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह अभूतपूर्व है, बावजूद इसके कि उसमें कई 'फिक्शन' भी भर दिए गए हैं। उन्होंने नंददुलारे वाजपेयी के अतिरिक्त किसी विद्वान द्वारा लिखी निराला विषयक समीक्षा को कभी महत्त्व नहीं दिया।

डॉ. शर्मा की समीक्षाओं को पाँच कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम कोटि है- व्याख्यात्मक समीक्षा की उन्होंने निराला की कई कविताओं का गद्यान्वय किया है। इससे एक और दुरूहता का सरलीकरण हुआ है, दूसरी ओर अपने पूर्वग्रहों का बरबस आरोपण भी। वे पूर्वापर खण्डित उद्धरणों को जोड़कर अपनी मतपुष्टि करने में प्रवीण थे। वस्तुत: विवादीलेखन की एक विचारोत्तेजक शैली उन्होंने खोज ली थी।

दूसरे, उनकी अनेक समीक्षाएँ जीवनीपरक अथवा नायकवादी हैं। निराला, तुलसीदास, भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, और केदारनाथ अग्रवाल, शर्मा जी के परम प्रिय नायक रहे हैं। प्रख्यात प्रगतिवादियों में शायद उनका कोई आदर्श नहीं बन पाया। इसलिए भी कि कुछ अलग कहने या कुछ मौलिक स्थापना करने का आग्रह उनके लेखन में बराबर सक्रिय रहा है। तीसरी प्रकार की समीक्षाएँ विवादी लेखन से जुड़ी हुई हैं। उनकी आरम्भिक कृतियों में सामाजिक, राजनीतिक चिन्तन क्रम में जगह-जगह प्रतिवाद दिखायी देते हैं। चौथी कोटि है सैद्धान्तिक समीक्षाओं की। उन्होंने भारतीय साहित्य की अवधारणा, तुलनात्मक साहित्य-प्रविधि, आस्था और सौन्दर्य, लोक चेतना आदि की गहरी चर्चा की है। पाँचवीं प्रकार की समीक्षाएँ भाषाशास्त्र से सम्बन्धित हैं। शर्मा जी ने ऐतिहासिक भाषाविज्ञान, प्राचीन भाषा परिवार, भाषिक संस्कृति आदि पर गहन मनन किया है। स्पष्ट है कि उनकी समीक्षाओं में विषयगत वैविध्य है।

डॉ. शर्मा के लेखन का एक बड़ा भाग इतिहास से सम्बद्ध है। उन्होंने वैदिक समाज, मार्क्स और पिछड़ा हुआ समाज, 1857 की क्रान्ति, यूरोप और एशियाई समाज आदि विषयों पर खूब लिखा है। उनके इस लेखन में जहाँ चिन्तन की गहनता है, वहीं काफी सृजनात्मकता भी है। नि:संदेह वे आधुनिक समीक्षकों में अग्रगण्य हैं। मुख्यत: हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षकों में डॉ. रामविलास शर्मा अग्रगण्य हैं। उन्होंने अनेक समीक्षात्मक निबंध लिखे हैं, जो 'आस्था और सौन्दर्य',

'संस्कृति और साहित्य', 'भाषा और संस्कृति', 'प्रगति और परम्परा', 'लोकजीवन और साहित्य', साहित्य : स्थायी मूल्य और मूल्यांकन', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें', विराम चिन्ह जैसे- संकलनों में समाहित हैं। इनमें सैद्धान्तिक विषयों पर चिन्तन किया गया है और अनेक रचनाकारों तथा उनकी रचनाओं का मूल्यांकन भी।

डॉ. शर्मा का पहला समीक्षात्मक लेख 'निराला जी की कविता' शीर्षक से 'चाँद' पत्रिका के अक्टूबर 1934 ई. के अंक में प्रकाशित हुआ था। कालक्रम में निराला जी पर उन्होंने दो समीक्षात्मक ग्रंथ लिखे। निराला (1946), निराला की साहित्य साधना (3 भागों में,1960-1965) इन कृतियों में शर्मा जी ने निराला के व्यक्तित्व-कृतित्व का जो मूल्यांकन किया है, उसे 'न भूतो न भविष्यति' कहा जायेगा। इनमें कहीं-कहीं वे अपने विचार निराला पर थोपते दिखाई देते हैं। यहाँ उनके कुछ दुराग्रह भी व्यक्त हुए हैं- जैसे निराला के अध्यात्म दर्शन और उनके युग-विद्रोह, दोनों को मार्क्सवादी क्रान्ति का ही प्रतिफलन मानना।

शर्मा जी ने यों तो पूरे भारतीय साहित्य, विशेषत: हिन्दी जाति के साहित्य पर विचार किया है, पर उनमें सर्वाधिक महत्त्व दिया है- भारतेन्दु, निराला, प्रेमचंद, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, केदारनाथ अग्रवाल को। समीक्षा के लिये जितने चरित नायक उन्होंने चुने हैं, वे एक निश्चित साँचे में ढले हुए युग नायक हैं। भारतेन्दु पर उनकी दो कृतियाँ हैं- 1. भारतेन्दु युग, 2.भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा।

इन कृतियों में उन्होंने भारतेन्दु मण्डल के वैचारिक और भाषिक प्रदेय पर अभिनव दृष्टिक्षेप किया है। 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में उन्होंने द्विवेदी जी की देन, मुख्यत: उनकी दूरदर्शिता की विवेचना करते हुए 'हिन्दी नवजागरण' की एक नयी अवधारणा प्रस्तुत की है, जो काफी विवादास्पद है और साथ ही विचारोत्तेजक भी। शर्मा जी के अनुसार हिन्दी संस्कृति उत्तर प्रदेश के साथ-साथ मालवा, हरियाणा और मिथिलांचल तक व्याप्त है। 1857 ई. के गदर में यही क्षेत्र सर्वाधिक प्रसिद्ध रहा है। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' नामक ग्रंथ में हिन्दी समीक्षा का विकास विश्लेषण किया गया है। यह कृति 'दूसरी परम्परा की खोज' की एक रचनात्मक प्रतिक्रिया है। केदारनाथ अग्रवाल पर उन्होंने मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से बड़ी अंतरंगता के साथ प्रकाश

डाला है।

शर्मा जी के चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहा है- मार्क्सवाद। उन्होंने 'मार्क्स और पिछड़ा हुआ समाज पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अंतर्विरोध आदि कृतियों में यह अंतर स्थापित किया है कि मार्क्सवाद मूलत: मानवतावाद है। प्रेमचंद पर भी शर्मा जी के दो ग्रंथ हैं- 1. प्रेमचंद, 2. प्रेमचंद और उनका युग। ये कृतियाँ ऐतिहासिक समीक्षा की धरोहर हैं।

शर्मा जी का भाषा-चिंतन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने भाषा और समाज, ऐतिहासिक भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा', 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी भाषा (3 खण्ड) में सिद्ध किया है कि आर्य मूलत: भारत निवासी थे तथा 'सरस्वती घाटी सभ्यता' 'सिंधु घाटी सभ्यता' से हजारों वर्ष पुरानी है। यूरोपीय दर्शन मात्र 2500 वर्षों का है, जबकि भारत, चीन, मिश्र आदि का इतिहास 6 हजार वर्ष पुराना है। शर्मा जी के इस इतिहास को कुछ दलीय मतवादी समीक्षकों ने प्रच्छन्न हिन्दुत्व और 'इतिहास की शव-साधना' का नाम दिया है, जो दुर्भावना प्रेरित है। शर्मा जी प्रतिबद्ध मार्क्सवादी थे, पर संघ समर्थक नहीं थे, इसलिए 'कैडर' से हटाए जाने पर भी उन्होंने तुलसीदास एवं वैदिक संस्कृति से परहेज नहीं किया। मार्क्सवाद उनकी चेतना में था। ये सत्ता-सुविधा से नहीं जुड़े। ऐसा ईमानदार समीक्षक दुर्लभ है।

शर्मा जी का यह मत कि भक्ति काव्य एक राष्ट्रीय आन्दोलन था। यह तथाकथित प्रगतिशील पार्टीजन लेखकों को स्वीकार्य नहीं हुआ है, क्योंकि उन्हें डॉ. शर्मा जैसा मुक्त चिंतन-संस्कार नसीब नहीं हुआ है।

इसी प्रकार शर्मा जी की समकालीन साहित्य विषयक कुछ स्थापनाएँ भी वादविवाद की विषय हैं। जैसे-वे मानते हैं कि मुक्तिबोध अस्तित्वादी कवि थे। दूसरे, साहित्य के ये नये आन्दोलन पश्चिम के व्यापारियों के पूँजीवाद की उपज हैं। इधर मुक्तिबोध का प्रचार थम गया है और अब डॉ. शर्मा का निर्णय सुविचारित लगने लगा है। 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' उनकी कृति निश्चय ही एक 'विजन' से ओत-प्रोत है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वे एक गम्भीर अध्येता और मौलिक चिंतक रहे हैं। उनकी समीक्षा भाषा बड़ी सरल और जीवंत है। उनके निष्कर्ष हमें पुनर्विचार करने के लिये बाध्य करते हैं। निश्चय ही भाषाशास्त्र,

इतिहास बोध, मार्क्सवादी दर्शन और हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य का उनसे बड़ा विचारक कोई नहीं हुआ है। उन्होंने डॉ. जानसन की तरह जीवनीपरक समीक्षा (निराला की साहित्य साधना-भाग 1) का प्रवर्तन किया है और उसे सृजनात्मक भी बनाया है। राजनीतिक प्रतिबद्धता के बावजूद समग्रत: उनका समीक्षा साहित्य उच्च स्तर का है।

डॉ. शर्मा जीवन्त परम्परा और प्रगतिशीलता के रचनाकार थे। वे प्रतिबद्धता के कायल थे, किन्तु अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई अनुशासन नहीं मानते थे। मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार हिन्दी भक्ति काव्य पर विचार करना वर्जित रहा है। शर्मा जी ने भक्तिकाव्य की विस्तृत विवेचना की है। तुलसी के प्रति उनके मन में अगाध आस्था थी। 'कैडर' से निकाले जाने से भयभीत न होकर उन्होंने तुलसी को लोकवादी कवि सिद्ध किया, साथ ही पूरे भक्ति आंदोलन को उन्होंने लोक जागरण का संवाहक माना। आचार्य शुक्ल के समर्थक होकर भी उन्होंने निर्गुण-सगुण, सूफी-संत आदि का विभाजन नहीं स्वीकार किया। दूसरी ओर शुक्ल जी की तुलना में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी को दूसरी परम्परा का खोजी नहीं माना।

डॉ. शर्मा की बहुत बड़ी देन है हिन्दी की 'जातीय संस्कृति' की स्थापना। वे इसे 'हिन्दी जागरण' का नाम देते हैं। उनकी दूसरी देन है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बजाय प्रगतिशील साहित्य को भारतीय संदर्भ से जोड़ना। हिन्दी के अधिकतर प्रगतिवादी लेखकों से वे असहमत रहे हैं। एक मात्र अपवाद रहे हैं, केदारनाथ अग्रवाल। शर्मा जी ने कई चरित्र नायक बनाए, जैसे- भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, निराला, प्रेमचंद और रामचन्द्र शुक्ल। ये सब पहले से प्रतिष्ठित थे, किन्तु शर्मा जी के पुनर्मूल्यांकन से वे शिखर पर पहुँच गए। इनसे जुड़कर उन्होंने विवादी लेखन को अपनाया और आत्म संशोधन करते हुए उसे प्रौढ़ समीक्षा का रूप दिया। वे आधुनिक युग के विभिन्न आंदोलनों को पूँजीवादी मानसिकता की उपज मानते रहे हैं, किन्तु छायावाद को उन्होंने रोमान्टिक क्रान्ति घोषित किया। पंत विषयक उनका दृष्टिकोण यद्यपि संतुलित नहीं है, पर छायावाद विषयक उनकी व्याख्या बड़ी सटीक है।

डॉ. शर्मा ने भाषा वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा अनेक मौलिक सूत्र प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने भाषा के सहारे यह सिद्ध किया कि आर्य इसी देश के निवासी थे और सरस्वती घाटी सभ्यता अंग्रेजों द्वारा स्थापित सिन्धु घाटी से हजारों वर्ष पुरानी

है। उन्होंने यह नहीं माना कि हिन्दी शब्द 'सिन्धी' से बना है। शर्मा जी ने उच्चारण-विज्ञान के सहारे आर्यावर्त का जो नया इतिहास लिखा है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। ऋग्वेद सम्बन्धी उनका अध्ययन कोसाम्बी और सातवलेकर के अध्ययन से कहीं ज्यादा गहन है। अपने ऐतिहासिक भाषा विज्ञान द्वारा उन्होंने भारत के प्राचीन भाषा परिवारों का नया अन्वेषण किया है। वे हिन्दी को संस्कृत से सीधे उत्पन्न नहीं मानते। उनके अनुसार हिन्दी की भाषिक प्रकृति अपभ्रंश के अधिक निकट है। अवधी (कोसली) भाषा को वे मध्य हिन्दी देश का केन्द्र मानते हैं।

शर्मा जी की समीक्षा में जितनी निर्भीकता है, उतनी ही निस्संगता भी। उन्होंने प्रतिपक्षियों पर पूरे तेवर के साथ, पूरी तल्खी और व्यंग्यवेधकता के साथ प्रहार किया है। उनके निजी पुस्तकालय में पताका लगी पत्रिकाएँ भरी पड़ी थीं जिनमें उनकी प्रतिक्रियाएँ पूरी चमक के साथ छपी हैं। वे पहलवानी और पंजा लड़ाई के शौकीन थे। किन्तु वेद से जुड़कर प्रगतिवाद को त्यागकर अपने अंतिम चरण में वे आर्षद्रष्टा हो गए।

डॉ. रामविलास शर्मा और हिन्दी नवजागरण

भगवान सिंह

सुविदित है कि ''हिन्दी जाति'' और 'हिन्दी नवजागरण' की अवधारणाओं के प्रतिपादन का श्रेय महान समालोचक डॉ. रामविलास शर्मा को है। 'हिन्दी जाति' की अवधारणा को लेकर बहुतों की असहमतियाँ इस बात को लेकर थीं कि इससे हिन्दी का राष्ट्रव्यापी फलक संकुचित हो जाता है। इसके विपरीत 'हिन्दी नवजागरण' की अवधारणा का हिन्दी जगत में लगभग सर्वसम्मति से स्वागत हुआ। किन्तु शनैः शनैः, विशेषकर डॉ. शर्मा के निधनोपरान्त इस अवधारणा पर भी बमबारी की जाने लगी, इसकी चिंदी की जाने लगी है। डॉ. शर्मा के जीवनकाल में ही उनसे चिढ़े हुए कुछ पुराने हिन्दी आलोचक, तो उनसे दीक्षित कुछ नये आलोचक 'हिन्दी नवजागरण' को कोरा बकवास या फिर 'हिन्दू नवजागरण' सिद्ध करने के द्रविड़ प्राणायाम में पिल पड़े। इस प्रतिपक्षी मंडली का बहुविधि विलाप यह है कि इस नवजागरण के पुरस्कर्ता माने जाने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों ने प्रचुर मात्रा में राजभक्तिपूर्ण साहित्य लिखा, हिन्दू हितों पर ध्यान केन्द्रित किया, साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप समाज को अनुकूलित करने के प्रयास किये। इसी क्रम में यह भी कहा जाता है कि 1857 के विद्रोह को लेकर 'हिन्दी नवजागरण' के लेखकों के रचना-संसार में कोई स्वर नहीं है, और सन् सत्तावन के लिए सिवाय वितृष्णा या मौन के कुछ नहीं था। अब इन आरोपों में कितना दम है, इसका परीक्षण करना ही लेख का उद्देश्य है।

इस संदर्भ में हमारे लिए सबसे पहले आवश्यक है यह देखना कि डॉ. रामविलास शर्मा किन आधारों पर सन् सत्तावन के विद्रोह से संबंध स्थापित करते हुए हिन्दी नवजागरण की बात करते हैं। यहाँ पर गौरतलब है कि अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' में डॉ. शर्मा भारतेन्दु

हरिश्चंद्र और उनके समकालीन सहयोगी लेखकों का 1857 के विद्रोह से जिन दो चीजों के आधार पर संबंध स्थापित करते हैं उनमें पहली है 'राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य' और दूसरी है 'अंग्रेजी राज के स्वरूप की पहचान'। ये दोनों मान्यताएँ सुस्पष्ट होने के लिए कुछ विस्तार में जाकर विश्लेषित-विवेचित होने की अपेक्षा रखती हैं।

यह तथ्य सदैव ध्यान में रखने योग्य है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के कई आयाम थे, कई प्रयोजन थे। इसे केवल ब्रिटिश शासन से मुक्ति तक सीमित कर देना सही नहीं है। इतिहास ऐसे प्रमाणों से भरा पड़ा है कि जब भी किसी देश या कौम को गुलाम बनाया जाता है तो सिर्फ उसकी राजनीतिक स्वाधीनता का ही अपहरण नहीं किया जाता, बल्कि उस पर अपने राजनीतिक प्रभुत्व को अधिक से अधिक सुदृढ़ एवं स्थायी बनाने के ध्येय से उसकी भाषा, शिक्षा, साहित्य, संस्कृति आदि पर भी विजेता कौम अपना वर्चस्व स्थापित करने वाली नीतियाँ लागू करती है। यह तथ्य हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिए कि सन् 1857 में बंगाल की हुकूमत हथियाने के बाद अंग्रेजों ने यहाँ की भाषा, शिक्षा पर भी अपना वर्चस्व स्थापित करने का जो सिलसिला शुरू किया, उसकी स्वाभाविक परिणति स्वरूप ही उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में मैकाले की शिक्षा-नीति क्रियान्वित हुई जिसके अनुसार अंग्रेजी भाषा एवं शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया और यह किया गया भारत के आधुनिकीकरण के नाम पर जो वस्तुतः आधुनिकीकरण की ओर में भारत के पश्चिमीकरण की औपनिवेशिक चाल थी। बहुत खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे भारतीय नवजागरण के आदि पुरुष माने जाने वाले राजा राममोहनराय भी उपनिवेशवादियों की धूर्ततापूर्ण चाल को समझ नहीं पाये और भारत के विकास या आधुनिकीकरण के लिए अंग्रेजी भाषा एवं शिक्षा को अपरिहार्य समझ कर उसके पक्षधर बन बैठे।

1857 के स्वाधीनता संग्राम के विफल हो जाने के बावजूद उसकी कोख से औपनिवेशिक वर्चस्व से मुक्ति की जो चेतना पैदा हुई उसने भारतीय नवजागरण के बौद्धिकों के अन्दर कई स्तरों पर ब्रिटिश राज के प्रति आलोचनात्मक विवेक को जन्म दिया। इनमें पहला स्तर था अंग्रेजी भाषा एवं शिक्षा के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण के उन्मेष का, अंग्रेजी भाषा एवं शिक्षा को गुलामी के उपकरणों के रूप में देखने की दृष्टि प्रकट होने लगी। इसके परिणामस्वरूप पूरे देश की राजनीतिक

तथा राष्ट्रीय एकता के लिए एक सम्पर्क-भाषा के रूप में एक राष्ट्रभाषा की खोज का प्रयास शुरू हुआ और यही प्रयास 'हिन्दी नवजागरण' का उत्स सिद्ध हुआ। इसका बीजवपन बंगाल की धरती पर कोलकाता में हुआ जब केशवचन्द्र सेन, बंकिमचन्द्र जैसे बौद्धिकों ने इसके लिए हिन्दी के पक्ष में अपने मंतव्य व्यक्त किये। उल्लेखनीय है कि जब 1870 के करीब स्वामी दयानंद सरस्वती कोलकाता पधारे और वहाँ के बौद्धिक समाज के साथ उनका संवाद हुआ, तो केशवचन्द्र सेन ने उन्हें परामर्श दिया कि वे अपनी बातों का प्रचार अगर हिन्दी के माध्यम से करें, तो उससे पूरा राष्ट्र लाभान्वित होगा। गुजराती भाषी दयानंद जी संस्कृत के तो विद्वान थे, लेकिन उन्हें हिन्दी का ज्ञान नहीं था। केशवचन्द्र सेन जी के सुझाव को शिरोधायी कर दयानंद जी ने दो वर्षों तक बनारस में रहकर हिन्दी सीखी और तब उन्होंने हिन्दी में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ ''सत्यार्थ प्रकाश'' की रचनाकर 1875 में ''आर्य समाज'' की स्थापना की। बाद के दिनों में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी नवजागरण को फैलाने में ''आर्य समाज'' की जो शानदार भूमिका रही, उसका अपना इतिहास है जिसके विस्तार में जाने का यहाँ अवकाश नहीं।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को आगे बढ़ाने का ऐसा ही उत्साह उत्तरी भारत में पैदा हुआ जिसके प्रमुख पुरोधा के रूप में सामने आये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जिन्होंने अपने उत्साहपूर्ण प्रयासों से प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, बद्रीनारायण उपाध्याय 'प्रेमधन' आदि के रूप में राष्ट्रभाषा सेवियों एवं प्रेमियों की एक जमात खड़ी कर दी। अंग्रेजी भाषा के मोह-पाश को छिन्न-भिन्न करते हुए स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह उद्घोष किया-

''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय के शूल।।''

यही नहीं उन्होंने खुद बनारस से अठारह वर्ष की उम्र में हिन्दी की समृद्धि के लिए 'कवि वचन सुधा' नाम की पत्रिका का प्रकाशन 1868 ई. में किया। तत्पश्चात् उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', हरिश्चन्द्र चंद्रिका तथा स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए 'बालबोधिनी' जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। उनकी प्रेरणा से बालकृष्ण भट्ट ने प्रयागराज से 'हिन्दी प्रदीप', प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर से 'ब्राह्मण', बद्रीनारायण उपाध्याय ने मिर्जापुर से 'आनंदकादम्बिनी' जैसी पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। इसी दौरान कोलकाता से 'उचित वक्ता', 'सार सुधा निधि', 'भारत मित्र'

जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इन सभी पत्रिकाओं का 'निज भाषा' के रूप में या फिर राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के अनुकूल वातावरण में पैदा करने में महत्त्वपूर्ण अवदान रहा। इसके अतिरिक्त 1893 ई. में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' तथा 1910 में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' जैसी संस्थाओं की स्थापना से भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार को त्वरा प्राप्त हुई। इनके कारण देश के व्यापक हिस्से में एक ऐसा माहौल बना कि नये-नये लेखक कवि अपनी-अपनी ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही जैसी जनपदीय बोलियों का मोह छोड़कर राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी, को सँवारने, समृद्ध करने के पुनीत कार्य में प्रवृत्त हो चले।

हिन्दी नवजागरण की यह लहर बीसवीं शताब्दी के शुरू होते ही और व्यापक रूप लेने लगी और इसके मुख्य ध्वजारोही के रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी सामने आये। 1903 में 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन भार लेते हुए द्विवेदी जी ने हिन्दी नवजागरण को विस्तार देने में जो उल्लेखनीय भूमिका निभाई उसका बड़ा ही विशद विवेचन डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण में किया है। यहाँ पर उन बातों की आवृत्ति अपेक्षित नहीं, किन्तु ध्यान देने लायक एक विशेष बात यह है कि इस अवधि में 'हिन्दी नवजागरण' केवल हिन्दी भाषी क्षेत्र तक सीमित न रहकर अखिल भारतीय राष्ट्रीय जागरण का एक अभिन्न अंग बन गया। यह कार्य संभव हो सका देश की राजनीति में महात्मा गाँधी के आगमन के कारण जिन्हें 1918 ई. में इन्दौर में हुए हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का सभापति सुशोभित करने का अवसर प्रदान किया गया। सच कहा जाए तो बीसवीं सदी के दूसरे दशक में ही देश के राजनीतिक मंच पर हिन्दी को अपने राष्ट्रीय प्रचारक, संदेश-संप्रेषक के रूप में गाँधी जी मिल गये जो गुजराती भाषी होते हुए भी 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस आने पर हिन्दी के राष्ट्रव्यापी प्रचार-प्रसार में संलग्न हो गये। वे जीवन पर्यन्त देश के पश्चिमी छोर से लेकर पूर्वी छोर, उत्तरी छोर से लेकर दक्षिणी छोर तक राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को अपनाने की गुहार लगाते रहे। उन्हीं के प्रयत्न स्वरूप दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रसार के लिए 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा' का गठन किया गया जो आज भी कार्यरत है। इस प्रकार गाँधी जी ने देश के उत्तरी हिस्से में उभरे 'हिन्दी नवजागरण' को राष्ट्रीय जागरण का एक अभिन्न अंग बना दिया। यह सब कहने का मतलब यह कि निजभाषा की उन्नति हो या राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का

राष्ट्रीय जागरण हो, यह सीधे-सीधे 1857 के स्वाधीनता संग्राम से उपजी उपनिवेशवाद विरोधी चेतना की उपज था और इस लिहाज से 1857 से हिन्दी नवजागरण का संबंध जोड़कर डॉ. रामविलास शर्मा ने एक ऐतिहासिक सत्य को ही उद्घाटित किया है।

अठारह सौ सत्तावन के संग्राम के प्रभावस्वरूप जो दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुआ, वह था देश के कतिपय बौद्धिकों की शिक्षा संबंधी सोच में। सर्वविदित है कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा देश के कोलकाता, मुंबई और मद्रास-तीन महानगरों में 1857 ई. में विश्वविद्यालय खोले गये और इस कार्य को और अधिक व्यापक बनाने के लिए विभिन्न शहरों में भी स्कूल-कॉलेज खोले जाने लगे। बंगाल का 'भद्रलोक' इस अंग्रेजी शिक्षा से मोहाविष्ट था क्योंकि सरकारी नौकरी पाने का यह एकमात्र साधन बना दी गई थी। किन्तु अंग्रेजी शिक्षा का चलन किस तरह यहाँ के शिक्षित लोगों को देश एवं समाज-विमुख बना रहा था, इसका प्रमाण 1857 में ही मिल गया जब अंग्रेजी पढ़े-लिखे बाबुओं ने खुलकर इस संग्राम का विरोध किया था। इसका नतीजा हुआ कि शिक्षित और अशिक्षित, विशिष्ट एवं सामान्य जन जैसे वर्ग-भेद उत्पन्न करने वाली इस अंग्रेजी शिक्षा पर भी अँगुली उठायी जाने लगी। इसका एक प्रमाण है। 1878 ई. के 'बंगदर्शन' नामक पत्रिका में बंकिमचन्द्र का 'लोकशिक्षा' शीर्षक से छपा लेख। यहाँ पर दृष्टव्य है उस लेख का एक महत्त्वपूर्ण अंश- ''अंग्रेजी शिक्षा के कारण शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच कोई सहानुभूति, कोई संवाद नहीं है। शिक्षित समुदाय अशिक्षित समुदाय के दिल की धड़कन को महसूस करने में असमर्थ है। यही नहीं, शिक्षित-अशिक्षित की तरफ नजर उठाकर भी नहीं देखते। कृषक राम की अगर खेत जोतते-जोतते थककर मौत भी हो जाती है, तो हमें क्या? जब तक मुर्ग-मुसल्लम और मच्छी का स्वादिष्ट झोल सुलभ है, हमें फिकर क्यों? कृषक राम कैसे जीवन यापन करता है, उसकी रुचि क्या है, अंग्रेजियत के रंग में रँगे बंगाली युवकों को इन सवालों से कोई मतलब नहीं। कृषक राम भाड़ में जाए, उन्हें इससे क्या मतलब?'' बंकिम बाबू के इस कथन से स्पष्ट है कि यहाँ के बौद्धिकों को महसूस होने लगा था कि आधुनिकीकरण के नाम पर अपनाई गई अंग्रेजी शिक्षा पढ़े-लिखे समुदाय को आम जनता से अलग-थलग कर देश की गुलामी की बेड़ियों को मजबूत करने वाली 'टॉनिक' बनती जा रही थी।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रति ऐसा आलोचनात्मक दृष्टिकोण हिन्दी नवजागरण से जुड़े लेखकों के रचना संसार में भी प्रकट होने लगा था। एक अन्तर्विरोध के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहमत लेखक यद्यपि भारत के विकास के लिए यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं, किन्तु इसके साथ ही उनके लेखन में अंग्रेजी शिक्षा के कारण समाज में उभर रही ''विलायतीकरण'' की प्रवृत्ति के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि भी देखने को मिलती है। मसलन, 1882 में शिक्षा आयोग के समक्ष दिये वक्तव्य में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने जहाँ समाज की उन्नति के लिए सरकारी ढंग से स्कूलों की आवश्यकता स्वीकार की, वहीं उन्होंने इस शिक्षण पद्धति के इस दोष की तरफ संकेत करते हुए यह भी कहा- ''सरकारी कॉलेजों और विद्यालयों में कर्त्तव्यों और नियमों जैसे नैतिक निर्देशों के लिए कोई जगह नहीं है। इन चीजों को विद्यालयों तथा कॉलेजों की पाठ्यचर्या में जगह देने की जरूरत अनिवार्य रूप से महसूस की जा रही है।'' ध्यान में रखने योग्य बात यह भी है कि अंग्रेजी शिक्षण-पद्धति को अपर्याप्त समझने के कारण ही भारतेन्दु ने भारतवर्ष की उन्नति के लिए ''जातीय संगीत'' की परिकल्पना प्रस्तुत करते हुए कहा था- ''भारत वर्ष की उन्नति में जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं, उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय में बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं, किन्तु वे जन साधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जायें। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, वह सार्वदेशिक होगी और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता।'' (सामाजिक क्रांति के दस्तावेज, पृ. 380, सं. डॉ. शंभुनाथ)

जाहिर है, अगर अंग्रेजी शिक्षण-प्रणाली गाँव-गाँव में साधारणजनों तक देश की बात पहुँचाने में सक्षम रही होती, तो भारतेन्दु को 'जातीय संगीत' की ऐसी योजना प्रस्तावित करने की जरूरत नहीं पड़ती। वास्तव में 'जातीय संगीत' प्रकारान्तर से जन विमुख अंग्रेजी शिक्षा का स्वदेशी विकल्प था। अंग्रेजी शिक्षा के कतिपय दोषों को प्रकट करते हुए भारतेन्दु के सहयोगी लेखक बालकृष्ण भट्ट ने 'सुशिक्षितों का कर्त्तव्य' शीर्षक लेख में लिखा- ''अब इस शिक्षा का क्रय किया जाता है

जिसमें ऐसा स्वार्थ आ समाया है कि गुरु-शिष्य दोनों में सच्ची सहानुभूति होती ही नहीं। हमारी शिक्षा में इस बात की बड़ी कोशिश शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की रहती है कि इसमें कहीं पर किसी अंश में स्वाधीनता का बीज न जमने पावे। परिणाम में यह शिक्षा केवल पेट पालने मात्र के लिए रहती है। पढ़-लिखकर ऊँची तनख्वाह की कोई अच्छी नौकरी मिल जाना ही उत्तम शिक्षा का जहाँ फल माना जाता है वहाँ हमारा कर्त्तव्य क्या है, इसकी चर्चा ही चलाना व्यर्थ है।'' (उप.पृ. 359)

भारतेन्दु युग के एक अन्य, महत्त्वपूर्ण लेखक प्रतापनारायण मिश्र ने भी युवकों को आत्मकेन्द्रित, स्वार्थ संकुल बनाने वाली अंग्रेजी शिक्षण पद्धति की भर्त्सना करते हुए लिखा- ''लोग अपने लड़कों को आँखें मींचकर स्कूल भेज देने की भेड़ चाल छोड़ें, क्योंकि वहाँ आत्मगौरव, स्वजातिव्य, देश-प्रेम, सनातनाचार इत्यादि की शिक्षा नहीं होती जो मनुष्य जीवन का भूषण है। बरसों का समय और सैकड़ों रुपया केवल ऐसी पढ़ाई में जाता है जिसका फल इतना मात्र है कि तन नाजुक, मन अपनेपन से फिरंत और जीवन केवल परसेवा द्वारा पेट पालने में बिता देने के योग्य रह जाए।'' (उप. पृ. 403)

भारतेन्दु युग में शुरू हुए इस हिन्दी नवजागरण में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति जो आलोचनात्मक स्वर प्रकट हुआ, उसका परवर्ती काल में भी पल्लवन होता रहा। अंग्रेजी शिक्षा किस तरह पढ़े-लिखे लोगों का एक अलग द्वीप बनाती जा रही थी उसे लक्ष्य करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने एक निबंध में बहुत तल्ख शब्दों में कहा- ''जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो यह भी झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयों, बिना परिचय के यह प्रेम कैसा?'' स्पष्टत: शुक्ल जी का यह संकेत अंग्रेजी शिक्षा द्वारा गढ़े गये उन बाबू लोगों की ओर था जो यहाँ की प्रकृति से, किसानों के जीवन तक से अधिक पढ़े-लिखे होने के कारण अपरिचित हो चले थे। शिक्षित समुदाय की अपने ही कृषक समुदाय से संवेदनाशून्य हो जाने की वस्तुस्थिति की ही सशक्त अभिव्यक्ति प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' में हुई। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने अच्छी तरह यह दर्शाया है कि शहर में रहने वाले राय

साहब, मि. खन्ना, प्रो. मेहता, पत्र-संपादक ओंकारनाथ मिर्जा, खुर्शेद, मिस मालती जैसे पढ़े-लिखे लोगों का गाँव में खून-पसीना एक कर अनाज पैदा करने वाले होरी जैसे किसानों से कोई वास्ता नहीं और जब होरी जैसा किसान अभाव, दैन्य, कर्ज से जूझते हुए बेमौत मर जाए, तो उसके लिए इनकी आँखों में न आँसू हैं, न दिल में गम। वस्तुत: बंकिमचन्द्र का ''कृषक राम'' ही प्रेमचंद के होरी के रूप में मरता हुआ दिखाई देता है। इस संबंध में डॉ. नामवर सिंह की यह टिप्पणी गौरतलब है- ''भारतीय उपन्यास की यह लोकधर्मी परम्परा हिन्दी के पिछड़े इलाके में प्रेमचंद के हाथों और अधिक व्यापक फलक पर विकसित हुई तो अकारण नहीं। इसके पीछे 1857 के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम की चेतना का हाथ है।'' (प्रेमचन्द और भारतीय कथा-साहित्य, ''पाखी पत्रिका के अक्टूबर 2010 में प्रकाशित)

इन तमाम दृष्टान्तों के आलोक में यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि 1857 के साम्राज्यवाद विरोधी समर ने जो स्वाधीन चेतना पैदा की, उसने ही हमारे बौद्धिकों एवं लेखकों को अंग्रेजी भाषा एवं शिक्षा से मोहभंग करते हुए उससे होने वाले देश एवं जनविरोधी दुष्परिणामों के प्रति सचेत कर दिया, नतीजतन इसके प्रति आलोचनात्मक स्वर हिन्दी नवजागरण की एक मुख्य प्रवृत्ति बना। अतएव डॉ. रामविलास शर्मा का 1857 से हिन्दी नवजागरण का संबंध दिखाना एक ऐतिहासिक सत्य ही है।

अब रहा तीसरा पक्ष देशभक्ति या राजनीतिक स्वाधीनता का जिसे लेकर यह आरोप लगाया जाता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी लेखकों की रचनाओं में देशभक्ति नाम मात्र की है जबकि अधिकता राजभक्ति की है। अपने जानते ये आरोपकर्ता ऐसी बात कह कर नई जानकारी देने की खुशफहमी में मुग्ध रहते हैं किन्तु सच्चाई यह है कि इस तथ्य से हिन्दी साहित्य का सामान्य पाठक भी अवगत है और 1857 से 'हिन्दी नवजागरण' का संबंध जोड़ने वाले रामविलास शर्मा भी इससे खूबवाकिया थे। उन्होंने स्वयं भारतेन्दु एवं उनके साथी लेखकों के साहित्य में विद्यमान राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति के अंतर्विरोधों का जिक्र किया है, किन्तु वे राष्ट्र भक्ति वाले पक्ष को लेकर आगे निकल पड़े जबकि ये आरोपकर्ता राजभक्ति को पकड़ कर उससे लटके रहते हैं। वस्तुत: भारतेन्दु युग हो या कोई युग, उसकी परख करते समय उसकी युगीत सीमाओं को ध्यान से ओझल नहीं करना चाहिए तभी हम उसके अंतर्विरोधों के स्वरूप एवं दिशा की सही पहचान

करते हुए उसके साथ न्याय कर सकते हैं।

वास्तव में 1857 के संग्राम का अंग्रेजों ने जिस नृशंसता से दमन किया था, उसके आतंक से पूरे देश का वातावरण भयभीत था। ऐसे परिवेश में यह कतई संभव नहीं था कि ब्रिटिश राज के खिलाफ सीधे-सीधे कुछ लिखा जाए या 1857 के संग्राम का सीधे-सीधे गौरवगान किया जाए। अगर ऐसा किया जाता तो वह पागल हाथी के सामने अपने को खड़ा कर कुचलवाने की मूढ़ता करने जैसा कार्य होता। अतएव उस निरंकुश शासन के विरोध में कुछ लिखना कहना बहुत सतर्कता एवं होशियारी की अपेक्षा रखता था। ऐसी ही होशियारी भरी रणनीति के रूप में भारतेन्दु एवं उनके साथी लेखक अपनी रचनाओं में कभी समाज एवं धर्म सुधार की बातों में राजनीतिक स्वाधीनता की चिंगारी रख देते थे, तो कभी राजभक्ति प्रदर्शन या राज की प्रशस्ति करते उसमें देश दुर्दशा का चित्र उकेर देते थे। मिसाल के तौर पर हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा 1868 ई. में प्रकाशित पत्रिका ''कवि वचन सुधा'' का यह सिद्धान्त उद्घोष देख सकते हैं:-

''खल गगन सों सज्जन दुखी मत होहिं, हरिपद मति रहै।
अपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै।
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, जग आनंद लहै।
तजि ग्राम कविता, सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै।''

सरसरी तौर पर देखें तो इस छंद में भारतेन्दु 'हरिपद में मति रखने, अपधर्म से छुटकारा पाने, द्वेष का त्याग करने, नारि-नर के समान होने की बातें करते दिखाई देते हैं जिनका संबंध स्पष्टत: धार्मिक एवं सामाजिक दशा से है, किन्तु इसी में वे 'स्वत्व निज भारत गहै' जैसा उद्गार अंकित कर राजनीतिक स्वाधीनता की लौ भी प्रज्ज्वलित कर देते हैं। ध्यान रहे जब भारतेन्दु ने इस पत्रिका का प्रकाशन किया तब वे मात्र अठारह वर्ष के किशोर थे। इस सिद्धान्त वाक्य के ऐतिहासिक महत्त्व को उजागर करते हुए सम्पादकाचार्य अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने लिखा है- ''जिस समय इस सिद्धान्त वाक्य की रचना हुई थी, उस समय सुधार की किसी प्रकार की चर्चा नहीं थी और यह हिन्दी प्रदेश घोर निद्रा में निमग्न पड़ा था। उस समय ''नारि-नर सम होंहि'' कहने वाला बड़ा साहसी था। 'स्वत्व निज भारत गहै' में भावी स्वराज्य का संकेत था और ऐसे समय काँग्रेस का पता भी नहीं था। वह समय अंग्रेज अधिकारियों के सामने हाथ जोड़े खड़े रहने का था। सत्रह

वर्ष बाद जब काँग्रेस जन्मी तो वह भी राजभक्ति के प्रदर्शन से ही अपने प्रस्ताव का आरम्भ करती थी।'' (समाचार पत्रों का इतिहास, पृ. 129) यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि 1885 में ह्यूम जैसे अंग्रेज हाकिम की पहल से जिस काँग्रेस की स्थापना हुई उसका मुख्य कारण 1857 का विद्रोह था जिसने अंग्रेजों का एक ऐसी संस्था बनाने को विवश किया जिसके माध्यम से उन्हें भारतवासियों की शिकायतों का पता चलता रहे ताकि फिर विद्रोह न हो सके। यानी 1857 जब 1885 में काँग्रेस की स्थापना का कारण हो सकता था, तब फिर वह 1868 में भारतेन्दु के 'स्वत्व निज भारत गहै'' जैसे स्वाधीनताकामी उद्गार का कारण क्यों नहीं हो सकता?

वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखें तो मानना पड़ेगा कि राजभक्ति के गमले में उन्होंने देशभक्ति की पौध लगाने का स्तुत्य कार्य किया। राजभक्ति उनके लिए ऐसे दास्ताने की तरह थी जिसमें पंजा राष्ट्रभक्ति का था। अपने प्रसिद्ध नाटक 'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु ''अंग्रेज राज सुख-साज सजे भारी, पै धन विदेश चली जात रहै अति ख्वारी'' कह कर राजभक्ति के गमले में राष्ट्रभक्ति की पौध रोपने वाली रणनीति का ही प्रमाण देते हैं। भारतेन्दु की ''विजयिनी विजय-वैजयन्ती'' में सतही तौर पर राजभक्ति का दर्शन करने वालों को वरिष्ठ आलोचक डॉ. शंभुनाथ के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए- ''भारतेन्दु ऐसे अवसर खोजते रहते थे जब महारानी विक्टोरिया की उदारता और क्षमता की आड़ में सभी भारतवासियों की वास्तविक हालत और ताकत का बखान करें। इनके वर्तमान दुखों, क्षमताओं तथा ऐतिहासिक गौरव-चिह्नों को भाव विह्वल होकर गिनाने का कोई अवसर वे खोते नहीं थे।'' (भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण, पृ. 23)

यह तथ्य भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि स्वदेशी का जो नारा बीसवीं सदी में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य स्वर बना, वह भी भारतेन्दु युग के साहित्य में प्रकट हो चुका था। उन दिनों विदेशी वस्तुओं के व्यवहार पर कटाक्ष करते हुए भारतेन्दु ने यह लिखा-

''मारकीन मखमल बिना, चलत कछु नहिं काम।
परदेशी जुलहान के, मानहुँ अये गुलाम।।
वस्त्र काँच कागज कलम चित्र खिलौने आदि।

आवत सब परदेश सों, नितहिं जहाजन लादि।।''

उल्लेखनीय है कि नवम्बर 1884 में बलिया के ददरी मेले में दिये अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक भाषण में भारतेन्दु ने 'परदेशी जुलहान की गुलामी' के जुए को उतार फेंकने का आह्वान इन शब्दों में किया था-'' बंगाली, मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मण, मुसलमान सब एक का हाथ पकड़ो। कारीगरी जिससे बढ़े, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहे वह करो। परदेशी वस्तु, परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो। '' भारतेन्दु के इस स्वदेशी प्रेम के संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा की यह टिप्पणी गौरतलब है।-''भारतेन्दु ने स्वदेशी के लिए निरंतर प्रचार किया, आगे चल कर गाँधी जी के नेतृत्व में स्वाधीनता-आंदोलन ने भी यही किया। किन्तु भारतेन्दु और गाँधी जी में यह अन्तर था कि गाँधी जी मशीनों के चलन और उद्योग धंधे के विकास का विरोध करते थे, भारतेन्दु का प्रचार यह था कि बाहर से तैयार माल नहीं, मशीनें मँगाई जाएँ और देश का औद्योगिक विकास करना चाहिए।'' (भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा का विकास परम्परा, पृ. 342) प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने स्वदेशी के अस्त्र से ही आर्थिक मोर्चे पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को बहुत हद तक पंगु कर दिया था, फिर भी इस स्वदेशी के भारतेन्दु जैसे वैतालिकों को केवल राजभक्त सिद्ध करना क्या न्यायसंगत है?

भारतेन्दु की तरह ही उनके अन्य सहयोगी लेखकों-बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त आदि ने भी अपनी कविताओं, निबंधों, सम्पादकीयों के जरिये देश में अकाल, महँगाई, अनाज का विदेश भेजा जाना, भोजन वस्त्र के अभाव में जनता का तड़पना आदि विभिन्न समस्याओं को सामने रखकर देश दशा के प्रति जनता को जागरूक करने का ही कार्य किया। कहीं-कहीं राजभक्ति का स्वर जरूर आया, परन्तु वह सच्ची राजभक्ति न थी, बल्कि राजभक्ति का आभास था या एक छलावा था, इस संबंध में डॉ. रामकृपाल पाण्डेय की यह टिप्पणी बहुत मार्के की है- ''प्राय: लोग 'सच्ची राजभक्ति' और 'छद्म राजभक्ति में अन्तर नहीं करते। भारतेन्दु साहित्य में दिखने वाली राजभक्ति प्राय: 'छद्म राजभक्ति' है जिसका उद्देश्य है अंग्रेजों और उनके समर्थकों को धोखे में रखना और उसकी आड़ में यथासंभव राजद्रोह के क्रांतिकारी कार्य करना अर्थात् समग्र मुक्ति की चेतना का जबरदस्त प्रचार-प्रसार करना। जो लोग 'अंग्रेजराज सुख साज सजे सब

भारी' आदि पंक्तियों के आधार पर उन्हें सच्चा राजभक्त समझते हैं, मानना पड़ेगा कि उन्हें लक्षणा-व्यंजना प्रधान साहित्य समझ में नहीं आता।'' वस्तुतः, भारतेन्दु एवं उनके साथी लेखकों के रचना-संसार में रूपाचित इस 'छद्म राजभक्ति' को लक्षणा-व्यंजना जैसे पुरातन, किन्तु साहित्य धर्मी उपकरणों के जरिये समझने की आवश्यकता है।

सचमुच 'हिन्दी नवजागरण' की राष्ट्रीय अंतर्वस्तु को जानने-समझने के लिए जिस विशद विवेचन की अपेक्षा है, उसे एक पुस्तक लिखकर ही पूरा किया जा सकता है जाहिर है यह काम एक लेख के जरिये नहीं हो सकता। फिर भी उपरोक्त उल्लेखित बातों को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि 1857 के संग्राम ने उपनिवेशवादी प्रभुत्व से मुक्ति की जो आकांक्षा पैदा की, उसकी विरासत को कई स्तरों पर पल्लवित-पुष्पित करने का कार्य हिन्दी नवजागरण के लेखकों ने किया। इस क्रम में 'हिन्दी नवजागरण' के मुख्य सरोकार उभर कर सामने आये, वे थे अंग्रेजी भाषा, शिक्षा, उत्पाद तथा पराधीनता के विरुद्ध जनमत, जागृत करने और ये ऐसे सरोकार थे जो इस देश में रहने वाले हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सब के हितों से जुड़े थे। अतएव 'हिन्दी नवजागरण' को 1857 के संग्राम से अप्रभावित मानते हुए उसे साम्राज्यवाद-समर्थक तथा 'हिन्दू नवजागरण' सिद्ध करना ऐतिहासिक सत्य का गला घोंटने जैसा जघन्य अपराध है ही साथ ही डॉ. रामविलास शर्मा की साम्राज्यवाद विरोधी एवं पंथ-निरपेक्ष चेतना सम्पन्न लेखन पर भी कुठाराघात है।

हिंदी नवजागरण, नवजागरण की पुनर्मीमांसा और रामविलास शर्मा

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे

हिंदी नवजागरण : हिंदी नवजागरण से तात्पर्य हिंदी प्रदेशों में 19वीं सदी में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र में जो भी बुनियादी काम हुआ, जो वैचारिक उथल-पुथल हुई उसका ऐतिहासिक पद्धति से विवेचन-विश्लेषण करना। इस विवेचन-विश्लेषण के लिए जो जरूरी निकश है, वे इस क्षेत्र में बौद्धिक दृष्टि से सक्रिय विद्वत्जन बहुत पहले तैयार कर चुके हैं। अन्य प्रदेशों की तुलना में हिंदी प्रदेश बहुत विशाल है परंतु हिंदी नवजागरण के जितने भी अध्येता हैं - रामविलास शर्मा, मैनेजर पांडेय, लक्ष्मीसागर वावणेय, वीरभारत तलवार से लेकर आज कर्मेदु शिशिर तक हिंदी पट्टी के नाम पर पश्चिमोत्तर भारत के नवजागरण पर ही बहस करते हैं। उसमें राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश आदि छूट जाते हैं। वास्तव में इनमें से प्रत्येक प्रदेश के नवजागरण का इतिहास भिन्न-भिन्न है। इन प्रदेशों में जो भी आधुनिकता आई, नवजागरण हुआ है, उसका शायद अध्ययन उन प्रदेशों में हुआ भी होगा। उनके नवजागरण के अग्रदूत भी भिन्न रहे होंगे। उन सबको समेटकर जब उत्तर भारत के नवजागरण पर लिखा जाएगा, तब वह सही रूप में हिंदी नवजागरण का इतिहास होगा। केवल एक प्रदेश के एक हिस्से में (पश्चिमोत्तर भारत) जो नवजागरण हुआ वह पूरे हिंदी प्रदेशों पर थोपना उनके वहाँ के नवजागरण पर अन्याय करना होगा।

एक हिंदीतर प्रदेश के अध्येता के नाते मेरी यह शिकायत रही है कि हिंदी भाषी विद्वत्जन जब भी नवजागरण या किसी श्रेष्ठ कवि पर बात करते हैं, पुस्तक लिखते हैं तब उसे पूरे भारत के प्रतिनिधि नायक के रूप में खड़ा करते हैं। जैसे-

भारतेंदु भारतीय नवजागरण के अग्रदूत या विश्वकवि निराला। वास्तव में ऐसा कहकर वे अन्य प्रदेशों के नवजागरण के महामानवों की उपेक्षा ही करते रहते हैं। जोतिबा फुले भारतेंदु के समकालीन हैं। पर दोनों के विचारों में दो ध्रुवों का अंतर है। भारतेंदु को भारतीय नवजागरण के अग्रदूत कहना ही गलत है। विंध्याचल के नीचे का नवजागरण का इतिहास ही भिन्न है। जो हिंदी पट्टी का सत्य होता है वह पूरे भारत का सत्य है ही, इसी अंदाज में हिंदी पट्टी के लोग बोलते रहते हैं। खैर, नवजागरण हिंदी पट्टी का है या दक्षिण या महाराष्ट्र या विश्व के किसी भी देश के- उसके अपने स्थायी मूल्य होते हैं। उन मूल्यों के आधार पर ही उस प्रदेश के नवजागरण का अथवा उसके अग्रदूत का मूल्यांकन करना होता है।

हिंदी-संस्कृत के प्रकांड पंडित, प्रखर ज्ञानयोगी, गुरुकुल के स्नातक डॉ. चंद्रभानु जी सोनवणे की एक महत्त्वपूर्ण परंतु हिंदी अध्येताओं द्वारा उपेक्षित पुस्तक है, भारतेंदु एक विचार-पुनर्विचार। इसमें उन्होंने नवजागरण के स्थायी मूल्यों को चिह्नित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार नवजागरण के चार मुख्य तत्व या प्रवृत्तियाँ हैं। इन चारों के आधार ही किसी भी प्रदेश के नवजागरण के इतिहास को तथा उस नवजागरण के अग्रदूत के कार्य को तलाशना पड़ता है। ये चार प्रवृत्तियाँ है -

1. ज्ञाननिष्ठा : यहाँ ज्ञान से तात्पर्य कार्य-कारण से जुड़ा ज्ञान अर्थात् इहलोक का, भौतिक जगत् का ज्ञान। यहाँ आध्यात्मिक ज्ञान के लिए कोई अवकाश नहीं होता।

2. प्रवृत्तिपरक कर्तव्यनिष्ठा : 19वीं सदी के पूर्व यहाँ के बुद्धिजीवियों से लेकर सामान्य किसान, श्रमिक की मानसिकता थी कि यह संसार असार है। ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या अर्थात् निवृत्तिपरक दृष्टि। नवजागरण के नेतृत्व ने इस निवृत्तिपरक मानसिकता को, भाग्यवादी मानसिकता को बदल कर उसे प्रवृत्तिपरक कर्तव्यनिष्ठा में बदल दिया। लोकमान्य तिलक की भगवत्गीता की प्रवृत्तिपरक व्याख्या-गीता रहस्य।

3. नर ही नारायण है : 19वीं सदी के पूर्व हमारी चिंतन की दुनिया में ईश्वर ही केंद्र में थे। भक्ति साहित्य इसका प्रमाण हैं। मनुष्य के चिंतन के केंद्र में यह नवजागरण का प्रस्थान बिंदु रहा और लक्ष्य भी।

4. सामाजिकता की भावना : 19वीं सदी के पूर्व और कुछ सीमा तक

आज भी यहाँ के मनुष्य के जीवन में 'जाति', बिरादरी केंद्र में रही है न कि समाज या राष्ट्र। धीरे-धीरे क्यों न हो जाति की मानसिकता दहलीज के भीतर तक सीमित हो रही है।1

नवजागरण को पश्चिमी नवजागरण के साथ रखकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप के नवजागरण के मूल में वहाँ के वैज्ञानिक और विज्ञान की नवीनतम खोजें कारणीभूत रही हैं। विशेष रूप से ऐसी खोजे जो धर्म ग्रंथों की स्थापनाओं के विरोध में चली जाती हैं। जैसे इस विश्व के केंद्र में पृथ्वी है और सूर्य उसके इर्दगिर्द चक्कर लगाता है। इस मान्यता को विज्ञान ने अनेक प्रमाणों द्वारा खारिज कर दिया। जैसे-मनुष्य अपने पापकृत्य के कारण धरती पर ईश्वर द्वारा फैंक दिया गया है। मनुष्य इस ईश्वर पुत्र की संतान है। विज्ञान ने इसे भी नकारते हुए उत्क्रांतिवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया। धर्म का सत्ता के साथ जो संबंध था, उसे फ्रेंच राज्यक्रांति ने नकारा। परिणामत: वहाँ विज्ञान और धर्म में संघर्ष है। वहाँ के नवजागरण के प्रेरणास्त्रोत वैज्ञानिक और उनकी खोजें रही है। इसके ठीक विपरीत भारत में नवजागरण की शुरुआत ही धर्म समीक्षा से होती है। भारतीय नवजागरण के प्रथम उद्गाता राजा राममोहन राय इस्लाम और ईसाई धर्म के आलोक में हिंदू धर्म की समीक्षा कर रहे थे। तो ऋषि दयानंद वैदिक धर्म के आलोक में पौराणिक धर्म की समीक्षा कर रहे थे। म. जोतिबा फुले अंग्रेजी ग्रंथों तथा ईसाई मिशनरियों के विचारों से प्रेरित होकर सनातन धर्म की हिंदू धर्म की समीक्षा कर रहे थे। इस कारण भारत के नवजागरण का स्वर धर्मविरोधी नहीं था, अपितु धर्म सुधार का था। यूरोप का नवजागरण भी धर्म विरोधी नहीं था अपितु ये धर्म को एक सुरक्षित स्थान पर ही रखना चाहते थे। मनुष्य के भौतिक जीवन में, विज्ञान में, राजनीति में उसका हस्तक्षेप न हो इस पर इनका बस था। ध्यान दें कि यूरोप में नवजागरण के अधिकतर अग्रदूत या प्रतिनिधि नास्तिक थे। उसके बरक्स भारतीय नवजागरण के सारे प्रतिनिधि व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में आस्तिक ही थे। समस्या इतनी ही है कि भारतेंदु युगीन नवजागरण के प्रतिनिधि और बाद के भी प्रतिनिधियों में डॉ. सोनवणे जी द्वारा चिह्नित की गई प्रवृत्तियाँ मिलती हैं क्या? भारतेंदु ज्ञान और तकनीकी शिक्षा के समर्थन तो रहे थे परंतु क्या वे वैज्ञानिक दृष्टि पर बल दे रहे थे? क्या उनमें ज्ञान के प्रति निष्ठा थी? क्या वे कार्य-कारण भाव में घटनाओं, परंपराओं, रूढ़ियों, कर्मकांडों का मूल्यांकन कर रहे थे? क्या वे जन्मना

जाति के समर्थन में थे? उनके समकालीन ऋषि दयानंद और उनके शिष्यों में किसी सीमा तक यह वैज्ञानिक दृष्टि थी? म. फुले की दृष्टि तो दयानंद और भारतेंदु से काफी आगे की थी। आज भी फुले अपने समय के आगे चल रहे हैं। वास्तविकता यह है कि नवजागरण की प्रवृत्तियों के आलोक में देखें तो हिंदी नवजागरण की शुरुआत ही अभी नहीं हुई है। जो कुछ भी भारतेंदु युग में हुआ- जितनी भूरि-भूरि प्रशंसा रामविलास शर्मा जी कर रहे हैं, वह असल में हिंदू और हिंदी का नवजागरण था।

नवजागरण विषयक वैश्विक मान्यताओं, स्थापनाओं के आलोक में इस आगे रामविलास शर्मा की भूमिका की समीक्षा करेंगे।

नवजागरण, नवजागरण की पुनर्मीमांसा :

मराठी में नवजागरण के लिए 'प्रबोधन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी में इसके लिए तीन शब्द चलते हैं - एनलाइटमेंट, रेनेसाँ और रीफारमेशन। हिंदी में इन तीनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है और मराठी में भी तीनों के लिए प्रबोधन। परंतु अंग्रेजी में इन तीन शब्दों में केवल गुणात्मक अंतर ही नहीं, तीनों भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं और तीनों का इतिहास भी अलग-अलग है। यूरोप में ये तीनों महत्त्वपूर्ण वैचारिक और सांस्कृतिक आंदोलन रहे हैं। यूरोप की मानसिकता के विकास में इन तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

1. 14वीं सदी का पुनर्जन्म, या पुनर्निर्माण रेनेसाँ कहलाता है। इस सदी में ग्रीक विचार और ग्रीक कला का पुनर्जागरण किया गया है। ग्रीक कला और विचारों को समकालीन जीवन के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया। पूरे यूरोप में यह वैचारिक और सांस्कृतिक आंदोलन चला।

2. 16वीं सदी के ल्यूथर और केव्हिलियन द्वारा धर्म सुधार का प्रयत्न शुरू हुआ। इस काल में धर्म की निष्पक्ष ऐसी समीक्षा की गई। परंपरा से उसमें घुसे हुए जनविरोधी तत्वों को निकाल बाहर कर उसे अधिक सहज बनाने का प्रयत्न हुआ। इस प्रकार का कार्य संभवत: भारत में 12वीं से 17वीं सदी तक भक्ति के निर्गुण संप्रदायवादियों ने किया। यही रीफारमेशन कहलाया।

3. 18वीं सदी के एनलाइटमेंट में भारतीय नवजागरण के मूल में ये तीनों प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती है। 'प्रबोधन' या नवजागरण में रेनेसाँ, एनलाइटमेंट और रीफोरमेशन में तीनों समाए हुए हैं।

जैसे वहाँ ग्रीक कला और ग्रीक विचार के पुनर्जागरण के प्रयत्न हुए, वैसे यहाँ ऋषि दयानंद द्वारा वैदिक व्यवस्था और वैदिक विचार को जीवन के केंद्र में लाने का प्रयत्न हुआ। तो म. जोतिबा फुले ने वैदिक धर्म की कठोर समीक्षा शुरू की। ब्रह्म समाज ने भी अपने तईं में वही काम किया है। और अंत में यूरोप में जिस मानवाधिकार, स्वतंत्रता, समता, भाईचारा इन मूल्यों को जनजीवन में स्थापित करने का प्रयत्न शुरू किया था, वैसे प्रयत्न यहाँ भी महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि प्रदेशों में 19वीं सदी में शुरु हो चुका था। (मराठी वाङ्मय कोष समीक्षा खंड, सं. विजया राजाध्यक्ष, पृ. 223)

नवजागरण की अवधारणा पर मराठी, हिंदी और अंग्रेजी में अब तक जो विचार हुआ, उसको सार रूप में कहना हो तो, कह सकेंगे कि नवजागरण में व्यक्ति और समाज के अनुभववाद पर बल दिया जाता है। मनुष्य के अनुभव के परे कोई भी शक्ति नहीं होती, सभी मानवी ज्ञान अंततः इंद्रिय संवेदना से ही संभव है। अधिक-से-अधिक उसमें यह जोड़ सकते हैं कि इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आंतरिक इच्छा और कल्पना शक्ति की जरूरत होती है। कोई भी अनुभव इंद्रियातीत नहीं होता। मनुष्य-मनुष्य में स्थित सभी भेद कृत्रिम और अप्राकृतिक ही है। पूरी मानव जाति एक है। न कोई छोटा न कोई बड़ा की सोच ही नवजागरण है। नवजागरण की यह पहली शर्त है। नवजागरण में भौतिक ज्ञान को ही सर्वोपरी माना जाता है। प्रमाणशास्त्र ही इतना पैमाना है। नवजागरण काल में ही सामाजिक करार (सोशियल कॉन्ट्रेक्ट) की सैद्धांतिकी राजनीतिशास्त्र में और समाजशास्त्र में स्थापित हो जाती है। मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों पर यहाँ बहस शुरू हो जाती है। नेचुरल राइट्स ऑफ मेन। महाराष्ट्र और बंगाल में इसी काल में म. फुले, आगरकर, लोकहितवादी, रानडे, रा. शाहू महाराज और उधर बंगाल में राजा राममोहन रॉय, ईश्वरचंद विद्यासागर, आदि सक्रिय थे। सवाल है कि 19वीं सदी में हिंदी पट्टी में क्या इन मूल्यों पर बहस शुरू हो गई थी? जॉन स्टुअर्ट मिल, हर्बट स्पेंसर, थॉस पेन की वैचारिक पुस्तकों के अनुवाद बांग्ला और मराठी में इसी काल में छपे हैं। ये विचारक भी मानवाधिकारों पर बहस कर रहे थे। इन विचारकों का प्रभाव भारतीय नवजागरण पर गहरे रूप से हुआ है। विवेकवाद तो नवजागरण का आधार ही इस प्रकृति, मनुष्य और भौतिक जीवन को ही केंद्र में लाने का प्रयत्न नवजागरण ने इन अग्रदूतों द्वारा हो रहा था। धर्म को राजनीति और समाज से अलग रखकर ही वे

सोच रहे थे। धर्म व्यक्ति के आंतरिक जीवन से संबंधित मूल्य है, इस प्रवाह में धर्म अब केवल कर्मकांडों का ही दूसरा नाम बन गया है। धर्म तो यहाँ एक वर्ण विशेष तक सीमित हो गया है और इसके आधार पर वे बहुजनों का आर्थिक और भावनिक शोषण कर रहे हैं, ऐसी नवजागरण की स्थापना है।

साहित्य कोष भाग-1 (सं. धीरेंद्र वर्मा) में नवजागरण पर जो टिप्पणी है, (साहित्य कोष भाग 1, सं. धीरेंद्र वर्मा पृ. 404) उससे यह स्पष्ट होता है कि यूरोप में नवजागरण का युग मोटे तौर पर 1350 से 1550 इन दो सौ वर्षों का माना जाता है। इस काल में धर्म पर नई दृष्टि से विचार शुरू हुआ। इटली इसके केंद्र में रहा। नवजागरण युग यूरोप में मध्ययुग और आधुनिक युग की बीच की संक्रांति की अवस्था का रूप है। (वही, पृ. 404)। इसी काल में यूरोप में साम्राज्यवाद का अस्त और आधुनिक राष्ट्र-राज्य की परंपरा का उदय होने लगता है। इसी काल में यूरोप के वैज्ञानिकों ने भाप की शक्ति खोज निकाली। उत्पादन और यातायात के लिए भाप की शक्ति का उपयोग कर अनेक यंत्र, मशीनें बनाई जाने लगीं। परिणामत: इसी काल में सामंति शक्ति का ह्रास शुरू होने लगता है और मास प्रोडक्शन की शुरुआत। अर्थात्, पूँजीवाद का आरंभ हो जाता है। हस्त उद्योगों-व्यवसायों का लोप होने लगता है, शहरों का विकास शुरू हो जाता है, परिणाम स्वरूप एक नया वर्ग मध्यवर्ग आकार लेने लगता है। संयुक्त परिवार के टूटने के कारण अब इस मध्यवर्ग में व्यक्तित्व चेतना का निर्माण शुरू हो जाता है। व्यक्ति को अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का अहसास होने लगता है। यह अहसास ही नवजागरण का बीज तत्व है। व्यक्ति स्वातंत्र्य की प्रतिष्ठा नवजागरण में हो जाती है। जाति और वर्ग के स्थान पर इन दोनों से परे 'समाज' नामक एक नई अवधारणा का जन्म होने लगता है। भारतेंदु और रामविलास शर्मा 'समाज' शब्द के स्थान पर 'जाति' शब्द का प्रयोग करते हैं और भारतेंदु जी जाति निर्माण में किस प्रकार महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे थे, इसे प्रमाणों द्वारा सिद्ध करते हैं। भारत में नवजागरण के जितने भी आंदोलन उन दिनों सक्रिय थे, उनमें से अधिकांश ने अपने आंदोलन को 'समाज' यह विशेषण लगाया ही है। जैसे - ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, सत्यशोधक समाज, बहुजन समाज आदि।

परलोक की अपेक्षा इसी लोक पर दृष्टि केंद्रित करना ही नवजागरण है। नवजागरण की पूरी प्रक्रिया में परलोक पर इहलोक की प्रतिष्ठा की गयी है। इसी

काल में जीवन में धर्म की अपेक्षा दर्शन का महत्त्व बढ़ने लगता है। एक ओर कार्ल मार्क्स समाज संरचना का इहलौकिक ढाँचा प्रस्तुत कर रहे हैं तो दूसरी ओर व्यक्तिकेंद्रित ऐसे अनेक दर्शनों का निर्माण होता जाता है।

सार्वजनिक जीवन में तथा सत्ता के आचरण में धर्म का स्थान कतई न हो इस विचारधारा के कारण 'धर्मनिरपेक्षता' की अवधारणा यूरोप में आकार लेने लगती है। धर्मनिरपेक्ष मानवतावाद का जन्म होता है। संन्यासियों का स्थान अब समाज में बुद्धिजीवी लेने लगते हैं। मन पर नियंत्रण या उसे अपने वश में करने के बजाए व्यक्ति-मन के विकास पर बल दिया जाता है। नवजागरण युग वस्तुतः संन्यासवाद के प्रति उपभोगवाद के विद्रोह का युग है। (वही, पृ. 404)

भारत में 1857 के आंदोलन के बाद अपेक्षाकृत बहुत छोटे पैमाने पर नवजागरण का आरंभ होता है। मानवतावाद की अवधारणा नवजागरण की ही देन है। इस मानवतावाद में ह्यूमॅनिजम इज क्लोजली असोशिएट विथ दि प्रोग्रेसिव्ह मटेरियालिस्टिक व्ह्यूज, इट प्रोटेक्टेड फ्रीडम ऑफ दि इन्डीव्यूजअल्स, आस्केटिसिजम्, व्हिन्डिकेटेड मेन्स राईट टू फ्री एंड सेटिफेक्शन ऑफ अर्थली रिक्रायरमेंट-मानवतावाद का निकटतम संबंध भौतिक प्रगति से संबंधित दृष्टिकोण के साथ होता है। व्यक्ति स्वतंत्रता की मुनादी देता है, धार्मिक कट्टरता का विरोध करता है, और मनुष्य के भौतिक सुख, समाधान और जमीनी जरूरतों पर बल देता है। Dictonary of Philosophy Ed. L. Frolov, Pg. 178)

मानवतावादी अवधारणा अपने उत्कर्ष पर पहुँचती है, 18वीं सदी में। इस काल के लेखकों की, नाटककारों की रचनाओं में उन्होंने स्वातंत्र्य, समता और बंधुभाव पर बल दिया और मनुष्य के उन जरूरतों की पूर्ति पर बल दिया, जो व्यक्ति का मौलिक, प्राकृतिक अधिकार है। इसी विचारधारा ने एक ओर व्यक्तिगत संपत्ति और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति पर भी बल दिया। तो इसी काल में दूसरे छोर पर मार्क्स अपने विचार प्रस्तुत कर रहे थे जिसमें वे व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार को नष्ट करना चाहते थे। व्यक्तिवाद के स्थान पर व्यावहारिक समाजवाद पर बल दे रहे थे। इग्लैंड में फेबियन सोशलिस्ट भी अपनी सीमा में सक्रिय थे। नवजागरण के ये दो छोर भी हैं। (Ibid, Pg. 358)

हिंदी नवजागरण और रामविलास शर्मा : 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' डॉ. रामविलास शर्मा जी की इस पुस्तक का पहला

प्रकरण इसी शीर्षक से है। लेख के पहले ही वाक्य में वे यह स्थापना करते हैं कि, ''उत्तर भारत में नवजागरण का यह पहला या आरंभिक दौर नहीं है। वह नवजागरण की पुरानी परंपरा का एक खास दौर है। नवजागरण की शुरुआत तब होती है, जब यहाँ बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा की जाने लगता है।'' (भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 13)। इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा हिंदी के भक्ति साहित्य को नवजागरण का पहला दौर मानते हैं। नवजागरण के जो निकष आरंभ में दिए गए हैं उस पर उनकी यह स्थापना टिक नहीं पाती क्योंकि भारत की सभी भाषाओं की भाँति साहित्य के केंद्र में 'ईश्वर', 'अध्यात्म' या परलोक हैं। जबकि नवजागरण के केंद्र में मनुष्य, भौतिक जीवन, मानाधिकार और विवेकवाद हैं। बोलचाल की भाषा का संतों द्वारा प्रयोग एक क्रांतिकारी घटना ही थी। इसीलिए वह नवजागरण का आरंभी नहीं बन पाती। दूसरी बात यह है कि नवजागरण का संबंध 'समाज' इस इकाई के साथ है। ''जिस सामाजिक इकाई में नवजागरण के कार्य संपन्न होते हैं, उसे हम जाति की संज्ञा देते हैं।'' (वही, पृ. 21) अगर भारतेंदु के पूर्व उत्तर भारत में अभी 'समाज' नामक संस्था आकार ही नहीं ले पाई थी तो फिर भक्तिकाल में तो उसका अस्तित्व ही नहीं था। दूसरी बात नवजागरण के केंद्र में ऐसा विशिष्ट भाषिक 'समाज' होता है। जिसके बीच नवजागरण की प्रक्रिया घटित होती है। सभी भारतीय भाषाओं के भक्ति साहित्य के केंद्र में भक्त की मोक्ष की कामना ही छिपी है। भक्ति की यह संपूर्ण प्रक्रिया व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन से ही संबंधित है। उसका समाज से कोई नाता नहीं है और न सत्ता से। 'कोई नृप होई हमें का हानि' की प्रवृत्ति है। भक्ति का यह दौर 500 वर्षों तक चला। डॉ. बाबासाहब अंबेडकर के शब्दों में (डॉ. बाबासाहब मराठी संत साहित्य के गंभीर अध्येता रहे हैं।) ''संत साहित्य विद्रोही साहित्य है क्रांतिकारी नहीं। भक्ति साहित्य की व्यक्तिगत उपलब्धियाँ बहुत हैं। परंतु सामुदायिक उपलब्धियाँ क्या है? इससे समाज एक इंच भी आगे बढ़ नहीं पाया।'' (पत्रकारिता के युग निर्माता : डॉ. बाबासाहब आंबेडकर, ले. सूर्यनारायण रणसुभे, पृ. 118-119)

डॉ. रामविलास शर्मा 1857 को 'स्वाधीनता संग्राम' के रूप में देखते हैं। (भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, रामविलास शर्मा, पृ. 13)। उनकी इस स्थापना को भी इतिहासकारों ने स्वीकारा नहीं है। 1857 के इस

आंदोलन के स्वरूप को लेकर इतिहासकारों में अनेक मतभेद हैं। विनायक दामोदर सावरकर इसे भारतीय स्वतंत्रता का पहला आंदोलन मानते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा इसे साम्राज्यवादियों के खिलाफ तथा स्वतंत्रता की इच्छा में किया गया पहला आंदोलन मानते हैं। ठीक इसी प्रकार वे इसे भारतीय नवजागरण का पहला चरण भी मानते है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. मुजूमदार आर. सी. के शब्दों में 1857 का यह संग्राम न राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम है, न राष्ट्रीय है और न स्वतंत्रता संग्राम। दूसरे इतिहासकार के. एम. पण्णीकर ने इसे एक महान राष्ट्रीय विद्रोह माना है। इतिहासकारों ने इस संदर्भ में अनेक प्रश्न उठाए हैं। उनके अनुसार क्या यह अंग्रेजों के विरुद्ध एक राष्ट्रीय षड्यंत्र था? क्या यह साम्राज्यवाद के खिलाफ क्रांति थी? क्या यह सैनिक विद्रोह था? क्या यह स्वतंत्रता संग्राम था? यह विद्रोह केवल हिंदी भाषी प्रदेशों तक सीमित था। दक्षिण, पश्चिम, पूर्व की सीमा तथा वहाँ की रियासतें इस विद्रोह में सम्मिलित नहीं थीं? आश्चर्य कि उत्तर के नवशिक्षित वर्ग का सहभाग भी इसमें नहीं था। उल्टे उनका इसके लिए विरोध ही था।''(19वीं सदी का नवजागरण और हिंदी साहित्य : सूर्यनारायण रणसुभे, पृ. 56-57)। रामविलास शर्मा किन आधारों पर इसे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम कह रहे हैं।

इसी लेख में वे विस्तार से हिंदी भक्ति साहित्य का परामर्श लेते हुए यह सिद्ध करना चाहते हैं कि नवजागरण और आधुनिक काल के कई लक्षण भक्ति काल में मिलते हैं। हिंदी के बाद वे भारतीय भाषाओं के भक्ति साहित्य पर भी अपनी टिप्पणियाँ देते जाते हैं। उनका मुख्य मुद्दा यह है कि भक्ति साहित्य ने जातीय चेतना (एक समाज की भावना) का प्रसार किया। और इस संदर्भ में मराठी संतों का उल्लेख करते हैं। ''जातीय चेतना का प्रसार महाराष्ट्र के संतों द्वारा हुआ और समर्थ गुरु रामदास ने समस्त मराठी भाषियों को एक झंडे के नीचे संगठित होने को कहा।''(भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, रामविलास शर्मा, पृ. 39)। उनका यह निष्कर्ष मराठी संत साहित्य पर घोर अन्याय करनेवाला, बेबुनियादी है। क्योंकि मराठी जनों को संगठित करने का काम विठ्ठल भक्त-वारकरियों ने किया है, रामदास ने नहीं। वारकरी वैष्णव पंथ से संबंधित हैं। ये वारकरी पिछले 400 वर्षों में प्रति वर्ष आषाढ़ की एकादशी को सात से आठ लाख की संख्या में-महाराष्ट्र के सभी प्रदेशों से विठ्ठल के पंढरपुर की ओर निकलते हैं, पैदल। वे केवल ज्ञानदेव, तुकाराम, नामदेव इन संतों की जयजयकार करते हैं। संत

रामदास का नाम तक वे नहीं लेते। क्योंकि यह प्रमाणित हो चुका है कि रामदास घोर ब्राह्मणवादी थे। वे मूर्ख ब्राह्मण को भी श्रेष्ठ मानते हैं। छत्रपति शिवाजी और उनकी भेंट भी नहीं हुई थी। वारकरी संप्रदाय बहुजनों का संप्रदाय है। जाति, धर्म के परे वह केवल मानवतावादी भूमिका लेता है। इस ऐतिहासिक तथ्य के कारण रामविलास शर्मा की उपरोक्त टिप्पणी बेमतलब की साबित होती है।

सन् सत्तावन की राज्य क्रांति (1957) के लेख में शर्मा जी ने लिखा – ''सन् सत्तावन की राज्यक्रांति में पंजाब, सीमांत प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक, हैदराबाद और विशाल हिंदी भाषी प्रदेश की जनता ने भाग लिया।'' (वही, पृ. 85)। इस स्थापना के लिए वे इन प्रदेशों के इतिहास में से कोई भी प्रमाण नहीं देते। वास्तविकता यह है कि इस प्रदेश की जनता को इस प्रकार के अंग्रेजों के विरोध में कुछ चल रहा है, इसका अहसास तक नहीं था। केवल एक विशेष वर्ग में इनकी चर्चा थी। 1857 सिपाहियों का विद्रोह था। शर्मा जी ने 'फतहे इस्लाम' शीर्षक से जिस इश्तहार का संदर्भ दिया है। उसके द्वारा जनसामान्य को अंग्रेजों के विरोध में संगठित होने के लिए कहा गया था। इश्तहार उर्दू में था। यह सारी कोशिश चल रही थी, फिर से मुगल सल्तनत को स्थापित करने के लिए। क्योंकि 1857 के विद्रोही सिपाहियों में बहादुर शाह जफर को कल के बादशाह के रूप में देखा था। मतलब फिर से पुरानी व्यवस्था की स्थापना। तो फिर नवजागरण कैसे कहा जा सकता है? नवजागरण में प्रजातंत्रीय व्यवस्था का अवगाहन है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ इस पुस्तक के चौथे लेख का शीर्षक है – राष्ट्रीय और जनवादी संस्कृति की समस्या। इसमें शर्मा जी ने प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, सामाजिक सुधार आदि को लेकर कुछ चौंकानेवाले निष्कर्ष दिए हैं –

1. ''यह सोचना गलत है कि स्त्री शिक्षा, छुआछूत के खात्मे, जनतंत्र आदि की शिक्षा इसे अंग्रेजी शिक्षा में मिली।''(वही, पृ. 85)

2. ''जाति-पाँति का भेद उठाने के लिए, विधवा-विवाह करने के लिए, स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार करने के लिए हिंदुस्तान की ही संस्कृति में काफी तत्व मौजूद हैं। इन सुधारों के लिए पश्चिम का कृतज्ञ होने की जरूरत नहीं।''(वही, पृ. 85)

3. ''19वीं सदी के एक समाज सुधारक का नाम था स्वामी दयानंद

सरस्वती। उसने विधवा-विवाह, स्त्री शिक्षा, नियोग, मूर्तिपूजा खंडन आदि का प्रसार करके कोहराम मचा दिया था। किसी विद्वान ने अभी तक यह नहीं बताया कि यथार्थ प्रकाश पर किस अंग्रेजी पुस्तक का प्रभाव पड़ा था।''(वही, पृ. 85)

4. ''जो लोग समझते हैं कि अंग्रेज न आते तो यहाँ स्त्री-शिक्षा का प्रसार ही नहीं होता, वे यह भूल जाते हैं कि अंग्रेजों के आने के पहले एक समय यहाँ जितनी स्त्री-शिक्षा थी, उतनी उस समय इंग्लैंड में भी नहीं थी।''(वही, पृ. 85)

यहाँ क्रमशः उनकी प्रत्येक स्थापना पर विचार किया जा रहा है। अगर सचमुच यहाँ के बहुजन समाज के स्त्री-पुरुषों की शिक्षा की परंपरा थी तो इस देश में भारतेंदु के समय बहुजनों में शिक्षा का प्रमाण एक प्रतिशत ही क्यों था? छुआछूत के खात्मे की परंपरा यहाँ होती तो क्यों विवेकानंद यह लिख रहे थे कि यहाँ के 99 प्रतिशत धर्म परिवर्तन केवल और केवल वर्णव्यवस्था की क्रूरता के कारण हो गए हैं। छुआछूत की वृत्ति के कारण देहातों में दलितों के साथ गुलामों से भी अधिक क्रूरता के साथ क्यों आचरण किया जाता रहा? जनतंत्र की परंपरा अगर थी तो रियासतों की प्रजा क्यों मानवाधिकारों से दूर थी? ब्रिटिश भारत की तुलना में रियासतों की प्रजा की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करें तो शर्मा जी की स्थापना सही नहीं है, यह स्पष्ट हो जाएगा। अर्थात् इसमें तीन रियासतें अपवाद थीं, कोल्हापुर के शाहू महाराज की रियासत, बड़ौदा और मैसूर की रियासत।

शर्मा जी का यह वक्तव्य तो हिंदुत्ववादियों की सोच के निकट चला जाता है। अगर सभी सामाजिक सुधार के तत्व हिंदुस्थान की संस्कृति में मौजूद थे तो राज राममोहन रॉय और दयानंद को इसके लिए (विधवा विवाह, स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार आदि) प्रयत्न क्यों करने पड़े? और उनके सारे प्रयत्नों के बावजूद भी 1857 तक स्त्री शिक्षा का प्रमाण कितना था?

स्वामी दयानंद सरस्वती को लेकर शर्मा जी में अतिरिक्त स्नेह है, ऐसा लगता है। स्वामी जी ने जितने भी समाज सुधार के कार्यक्रम किए वे सब उन्होंने ब्रह्म समाज में किए थे। स्वामी जी का एक ही बुनियादी काम था कि उन्होंने वेदों को फिर से प्रतिष्ठित किया। उनके समाज सुधार के कार्यक्रम में, हिंदी में व्याख्यान देने की उनके निर्णय के मूल में, यथार्थ प्रकाश को हिंदी में लिखने के मूल में ब्रह्म समाज ही था। इसी कारण इस काल में आधुनिक भारतीय इतिहास के

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त इतिहासकार रामचंद्र गुहा ने मेकर्स ऑफ इंडिया में स्वामी जी का नाम नहीं लिया है। (Makers of India : Ramchandra Guha अनुक्रमणिका देखें)

इसमें संदेह नहीं कि यहाँ शिक्षा और स्त्री शिक्षा की परंपरा थी। परंतु शिक्षा के दरवाजे केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दो वर्णों के लिए ही खुले थे। संपूर्ण समाज में यह वर्ग 15 से 20 प्रतिशत का था। शेष 80 प्रतिशत बहुजनों को शिक्षा की सुविधाएँ थीं - इसे अब तक किसी ने प्रमाणित नहीं किया है। जिस भारतेंदु को वे नवजागरण का अग्रदूत मान रहे हैं, वे भारतेंदु भी स्त्री शिक्षा का समर्थन एक सीमा तक ही कर रहे थे जो मिशनरी महिलाएँ भारतीय स्त्रियों को शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान करना चाहती थीं, उनका विरोध भारतेंदु ने इस आधार पर किया है कि ''मिशनरी महिलाएँ हमारी स्त्रियों के दिमाग में धार्मिक विश्वास और स्वतंत्र विकार बिठाने की कोशिश करती हैं।''(संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, पंचम संस्करण 544) मतलब स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाए जिससे वे स्वतंत्र रूप से विचार न कर सकें।

भारत की तुलना में इंग्लैंड में स्त्री-शिक्षा नहीं के बराबर थी, ऐसा शर्मा जी का कहना है। भारत और इग्लैंड की बात छोड़िए विश्व के सभी देशों में स्त्री की अवहेलना ही की जा रही थी। उसके मानवाधिकारों को सभी ओर नकारा जा रहा था।

ऋषि दयानंद पर अंग्रेजी शिक्षा या अंग्रेजी सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं था, ऐसी शर्मा जी की स्थापना हैं। ऋषि के सभी सामाजिक सुधार के कार्यक्रम इसी भूमि में, इसी परंपरा से उपजे थे, ऐसा वे लिखते हैं। यह सच्चाई है कि ऋषि पर सर्वाधिक प्रभाव ब्रह्म समाज के सुधार कार्यक्रमों का था। और ब्रह्म समाज के सुधार के इन कार्यक्रमों के मूल में - ''उन्होंने (राजा राममोहन राय ने) जो कुछ लिखा, वह ईसाई देशों के सामाजिक जीवन में, ईसाई देशों के सामाजिक संगठन और विज्ञान से संबंधित था।'' (रस्साकशी : वीरभारत तलवार, पृ. 180) इसी लेख में पृष्ठ 91 पर वे लिखते हैं कि, ''भारतेंदु प्राचीन संस्कृति और प्राचीन इतिहास को भारतीय जनता के नवजागरण के लिए प्रेरक शक्ति बना देना चाहते हैं।'' परंतु यह स्पष्ट नहीं करते कि कौन सी प्राचीन संस्कृति? बुद्धकालीन या बुद्धोत्तर? वैदिक या पौराणिक? क्योंकि नवजागरण के अधिकांश मूल्य केवल

बौद्ध काल और बौद्धोत्तर (ईसा की 6 वीं सदी तक) मिलते हैं। पौराणिक युग तो नवजागरण के मूल्यों की दृष्टि से अंधकार का काल ही साबित हुआ है।

भारतेंदु स्त्री-शिक्षा के प्रथम दावेदार, बाल-विवाह के विरोधक और विधवा-विवाह के समर्थक हैं, ऐसा शर्मा जी बार-बार लिखते हैं परंतु वास्तविकता ऐसी नहीं है। स्त्री-शिक्षा के वे समर्थक हैं, परंतु इस शर्त के साथ कि स्त्रियाँ स्वतंत्र विचार करना न सीखें, बाल-विवाह के वे विरोधक हैं - नि:संदेह हैं (प्रमाण बलिया का भाषण) विधवा-विवाह के समर्थन वे जिस तर्क का आधार लेते हैं, उसमें स्पष्ट है कि इस समर्थन के मूल में स्त्री को मनुष्य के रूप में स्वीकार करने की वृत्ति नहीं है। अपितु दयाभाव तथा हिंदुत्व है। जैसे - ''भारतेंदु विधवा-विवाह को स्त्री के हक के रूप में नहीं लेते, बल्कि काम पीड़ित स्त्रियों पर तरस खाकर उनके गुनाहों को माफ करने के अर्थ में लेते हैं। इसका संबंध वे मुसलमानों की जनसंख्या बढ़ने को भी देते हैं।'' (आलोचना : जनवरी-मार्च 2001 सं. नामवर सिंह, पृ. 7-8) यह निष्कर्ष बालबोधिनी के अंकों में छपी सामग्री से निकलता है। इसी अंक में 'पतिव्रता' शीर्षक का एक लेख उनकी मंडली के एक लेखक प्रतापनारायण मिश्र जी का छपा है। जिसमें मिश्र जी लिखते हैं - ''पुरुष कैसा भी कुकर्मी और कर्कश हो, पर स्त्री सच्ची पतिव्रता हो तो पुरुष निर्लज्ज व्यभिचारी नहीं होता।'' और संपादक भारतेंदु इस लेख को प्रकाशित भी करते हैं। यह किस मानसिकता का सूचक है?

भारतेंदु से संबंधित शर्मा जी की और पुस्तकें हैं। 1) भारतेंदु हरिश्चंद्र, 2) भारतेंदु युग, 3) भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ। इन तीनों पुस्तकों में अनेक स्थानों पर भारतेंदु ने जीवन के अंतिम दौर में बलिया में जो भाषण दिया था, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। वास्तव में यह भाषण भी है महत्त्वपूर्ण और अध्येताओं के लिए चुनौती से भरा हुआ। आलोचना त्रैमासिक ने 2001 में जो सहस्त्राब्दी अंक निकाला (क्रमांक 4) वह भारतेंदु पर केंद्रित है। ''भारतेंदु : डेढ़ सौ साल बाद। इस अंक में एक लेख है 'भारतेंदु और भारत की उन्नति' नामवर सिंह का। बलिया के इस भाषण का शीर्षक था - ''भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?'' पहली बार यह व्याख्यान 3 दिसंबर 1884 की नवोदिता हरिश्चंद्र की पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। समकालीनों की दृष्टि से भी वह व्याख्यान ललित, गंभीर और समयोपगी था। इसमें लालित्य, गंभीरता और

समयोपगिता की खोज कर पाठकों के सम्मुख रखने का ऐतिहासिक कार्य डॉ. रामविलास शर्मा ने किया है।''(वही, पृ. 7-8) इस लेख के संदर्भ में डॉ. शर्मा जी का जो विवेचन है, उस पर नामवर जी लिखते हैं, ''सम्मान का भाव रामविलास जी के प्रति हममें से प्रत्येक के मन में है। पर कहीं न कहीं उनकी इस व्याख्या के प्रति गंभीर संदेह भी है।'' जैसे सुधीरचंद्र को भारतेंदु में सर्वत्र एक प्रकार का दुचितापन दिखलाई देता है। इसी तरह प्रसिद्ध इतिहासकार ज्ञानेन्द्र पांडेय को भारतेंदु का राष्ट्रवाद अनिश्चित-सा प्रतीत होता है। जबकि रामविलास जी के भारतेंदु में एक सम्मिलित राष्ट्र की कल्पना स्पष्ट दिखती है। इन तमाम मुद्दों पर वसुधा डालमिया को न सुधीरचंद्र के एतराज में कोई दम मालूम पड़ता है और न ही ज्ञानेंद्र पांडेय के संदेह में। दरअसल उनकी शिकायत और ही है। वे लिखती हैं - ''भारतेंदु का जोर इस बात पर है कि सब उन्नतियों का मूल धर्म है और रामविलास जी हैं कि व्याख्या करते समय इस बात को एकदम गोल कर जाते हैं।''(वही, पृ. 7-8)

भारतेंदु से संबंधित इन तीनों पुस्तकों में शर्मा जी एक ही बात पर बल दे रहे हैं कि भारतीय सुधार-आंदोलनों के मूल में अंग्रेजी शिक्षा नहीं है। भारतेंदु अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य के पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था का स्वागत करते हैं परंतु यह शिकायत भी करते हैं कि अंग्रेज भारतीयों को उद्योग, व्यवसाय की, तकनीकी की शिक्षा नहीं दे रहे हैं। हालाँकि वास्तविकता ऐसी नहीं है। रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में अनेक प्रमाणों द्वारा यह साबित किया है कि कुछ अंग्रेज गवर्न कंपनी को बार-बार लिख रहे थे कि भारतीयों को उच्च शिक्षा भारतीय भाषाओं में से ही देना चाहिए। मुंबई के गवर्नर एलफिस्टन इनके अगुवा थे। एलफिस्टन ने तो मुंबई में तब 1840-50 में मराठी माध्यम से मेडिकल कॉलेज खोला था। जिस अंग्रेजी माध्यम का विरोध भारतेंदु कर रहे थे, ओर शर्मा जी उनके पक्ष में खड़े थे, उस अंग्रेजी माध्यम का आग्रह कंपनी से राजा राममोहन रॉय कर रहे थे। भारतेंदु का यह कहना कि अंग्रेजों की उच्च शिक्षा केवल बेरोजगारों का निर्माण कर रही है। 'एक बुलावे, तेरह आवे!' यह भी सही नहीं है। अंग्रेजी शिक्षा भारत में इस उद्देश्य से चलाई गई थी कि यहाँ के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तन से भारतीय किंतु मन से अंग्रेजी हों परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ। कुछ अपवादात्मक भारतीय मन से अंग्रेजी हुए - आज भी ऐसे लोग हैं - परंतु

अधिकांश भारतीयों में इनकी ठीक उल्टी प्रतिक्रिया हुई। अर्थात् अंग्रेजी पढ़कर वे अंग्रेजों के विरोध में बोलने लगे। मुंबई विश्वविद्यालय की पहली बेंच में जो आठ ग्रेजुएट हैं - उनमें से केवल एक अंग्रेजों की सेवा में गया है। शेष मात्र समाज प्रबोधन, पत्रकारिता और अर्थशास्त्री के रूप में विख्यात हुए। दादाभाई नौरोजी उनमें से एक हैं। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के कारण ही यहाँ नवजागरण का आरंभ हुआ।'' (19वीं सदी का नवजागरण और हिंदी साहित्य : सूर्यनारायण रणसुभे, पृ. 69-70) इन्हें मुंबई विश्वविद्यालय के सात रत्न कहा जाता है। नवजागरण से संबंधित और भारतेंदु से संबंधित शर्मा जी का पूरा विवेचन साम्यवादी चौखट में ही हुआ है। इस चौखट के बाहर आकर वे सोचना ही नहीं चाहते। पूँजीवादी व्यवस्था का निर्माण भारत में कैसे हो रहा था, इसे वे क्रमांक तीन की पुस्तक में विस्तार से समझाते हैं।

नवजागरण के स्वरूप को लेकर हिंदी प्रदेश में उसकी उपस्थिति को लेकर शर्मा जी ने जो कुछ लिखा, उस पर डॉ. लक्ष्मीसागर वावणेय, गुलाबराय और मैनेजर पांडेय ने आपत्ति प्रकट की।'' हिंदी नवजागरण की विचारधारा का विवेचन करते हुए शर्मा जी कहते हैं कि इसमें जो कमजोरियाँ हैं, वे बाहर से आई हैं।'' (भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, रामविलास शर्मा, पृ. 40) उनकी यह सोच है कि हिंदी नवजागरण पूरी तरह से क्रांतिकारी है। (वही, पृ. 33) गुलाबराय कहते हैं कि, ''भारतेंदु युग उतना प्रगतिशील नहीं है, जितना उसे सिद्ध किया गया है।'' (वही, पृ. 33) एक श्रद्धेय आलोचक (संभवत: ल. सा. वावणेय) ने लिखा था कि भारतेंदु युग को प्रगतिशील सिद्ध करने का प्रयास वैसे ही है जैसे लिप्टन की चाय को देशी सिद्ध करना।''(वही, पृ. 33)

इस प्रकार के अनेक आरोपों का उत्तर शर्मा जी अपनी इस पुस्तक के (भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ) पहले ही लेख में देते हैं। वे लिखते हैं कि ''कुछ कमजोरियाँ तो मुझे भी दिखाई दी हैं। उनमें हम कुछ सीख सकते हैं या नहीं, मैं कह नहीं सकता। पर वे बाहर से आई हुई नहीं हैं। उनकी जड़ें भारत में ही हैं।'' वे अपने पाठकों को 1972 में लिखे उनके एक लेख में व्यक्त विचारों का हवाला देकर कहते हैं, ''हिंदी भाषी प्रदेश सामाजिक रूढ़िवाद का गढ़ है। वहाँ नये विचारों का प्रकाश फैलाना अत्यंत दुष्कर है। हर कदम पर क्रांतिकारी साहित्यकार को विरोध का सामना करना पड़ता है।'' (वही, पृ. 41) इन वाक्यों से

स्पष्ट है कि वे भारतेंदु हरिश्चंद्र के नवजागरण संबंधी अपनी सीमाओं को स्वीकार करते हैं।

वे यह स्पष्ट रूप से लिख रहे हैं कि 'हिंदी नवजागरण' और उसके साहित्य के जिन प्रमुख विशेषताओं के लिए मेरा आग्रह है वे मैनेजर पांडेय के अनुसार इस प्रकार हैं, ''सामंतवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी चेतना, इतिहास और परंपरा का नया मूल्यांकन, रूढ़ीवाद का विरोध, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, साहित्य में रीतिवाद का विरोध, वस्तुवादी चिंतन का विकास, स्वच्छंदतावादी और यथार्थवादी रचना प्रवृत्तियों का विकास।''(वही, पृ. 37) अगर उनका आग्रह इन मूल्यों पर है तो फिर इन मूल्यों के आलोक में वे भारतेंदु साहित्य का मूल्यांकन क्यों नहीं करते?

प्रस्तुत पुस्तक में मार्क्सवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान के कई उद्धरण देकर शर्मा जी उनकी शंकाओं का निराकरण करने का प्रयत्न करते हैं। परंतु ठोस सबूतों के आधार वे उनकी स्थापनाओं का खंडन नहीं कर पाए हैं। जैसे चौहान जी ने लिखा – ''भारतेंदु और उनकी मंडली द्वारा रचा साहित्य सामाजिक आंदोलन की संकीर्णता से आक्रांत है, स्थायी मूल्यों को उसमें स्थान भी नहीं है।''(वही, पृ. 114)

सन् 1857 से लेकर आज सन् 2020 तक की अवधि में हिंदी पट्टी की ओर खास तौर से उत्तर प्रदेश के पश्चिमोत्तर प्रांत की मानसिकता को जिस प्रकार आकार मिल गया है; इसका अगर अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेंदु इस प्रदेश में नवजागरण से संबंधित मूल्यों का बीजारोपण नहीं कर सके हैं। वे भारतीय तो जाने दीजिए पश्चिमोत्तर उत्तर प्रदेश के नवजागरण के अग्रदूत नहीं बन सके हैं। वीरभारत तलवार के शब्दों में, ''जो समस्याएँ आज इतनी विकराल बनकर हमें आतंकित कर रही हैं – हिंदू राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, सांप्रदायिक धार्मिक फंडामेंटलिझम, मुस्लिम अलगाववाद और हिंदी-उर्दू विवाद उन सबका जन्म 19वीं सदी में पश्चिमोत्तर काल के नवजागरण (तथाकथित) में हुआ है। और इसका आरंभ भारतेंदु और उनकी मंडली ने किया है।'' (रस्साकशी : वीर भारत तलवार, पृ. 348)

इसका अर्थ यह भी नहीं कि आज की पीढ़ी भारतेंदु जी के अवदान को नकार रही हैं। ''भारतेंदु हिंदी साहित्य में नवजागरण के अग्रदूत थे।'' (आलोचना

2001, जनवरी–मार्च, धीरेंद्रनाथ सिंह, पृ. 26) इतनी कम आयु में हिंदी में पारंपरिक रूप को उन्होंने बदला। नई–नई विधाओं का प्रचलन किया। उनके इस अवदान के सम्मुख मेरी और आनेवाली पीढ़ी हमेशा नतमस्तक रहेगी परंतु उन्हें हम कतई सामाजिक आंदोलन सुधार के अगुआ नहीं मान सकते।

वरिष्ठ समीक्षक शंभुनाथ जी ने 'भारतेंदु : डेढ़ सौ साल बाद' इस शीर्षक के लेख में लिखा हैं – ''हिंदी पट्टी के नवजागरण में महाराष्ट्र, तमिलनाडु तथा केरल में नवजागरण की तरह दलित आयाम नहीं उभर सका है।'' (आलोचना 2001, जनवरी–मार्च, शंभुनाथ, पृ. 23) आश्चर्य कि भारतेंदु से संबंधित तीनों पुस्तकों में शर्मा जी भारतीय दलित समाज में नवजागरण को लेकर एक वाक्य भी नहीं लिखते। हालाँकि उन्हें पता था उन दिनों देश की दलित समस्या को लेकर किस प्रकार के चिंतन की शुरुआत हुई। वे फुले, शाहू महाराज और अंबेडकर जी के कार्य से परिचित थे ही फिर वे भारतेंदु के साहित्य या उनके नवजागरण के संदर्भ में इस मुद्दे को क्यों नहीं उठाते। भारतेंदु के नवजागरण से संबंधित जो भी विचार थे, वे उस काल के सर्वसामान्य लोगों तक पहुँच नहीं पाए हैं। उनकी मंडली ने भी इस प्रकार का कोई काम नहीं किया है। उनके ही काल में दयानंद का आर्य समाज गाँवों–गाँवों में फैला। दयानंद के सपने को उनके अनुयायी मूर्त रूप दे रहे थे। परंतु भारतेंदु के एक मामूली सपने को भी उनकी मंडली ने मूर्त रूप नहीं दिया। जनवादी समीक्षक के रूप में मान्यता प्राप्त रामविलास शर्मा जी इसे स्पष्ट क्यों नहीं कर पाए हैं कि भारतेंदु के नवजागरण विषयक विचार आंदोलन का रूप कभी भी ले नहीं पाए हैं। कुछ मुठ्ठीभर मित्रों और कुछ पत्रिकाओं में छपे लेखों तक ही उनका नवजागरण सीमित रहा।

इतिहास के शवसाधक रामविलास शर्मा : नामवर सिंह की दृष्टि-एक उधेड़बुन

आनन्द कुमार सिंह

रामविलास शर्मा हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचना के शिखर पुरुष हैं। शिखर पुरुष इसलिए कि अब उनके बाद मार्क्सवादी आलोचना में सिर्फ ढलान और पठार भर हैं। उनके बाद इस हिमगिरि का न कोई उत्तुंग शिखर है और न कोई मनु। वही 'एक पुरुष' हैं, जो थे और जो सदा रहेंगे। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की पृथ्वी के मानदंड! हिंदी में मार्क्सवाद की सैद्धांतिक आलोचना को उनमें इसी तरह प्रविष्ट होना था और इसी रास्ते से शिखर तक पहुँचना भी था। रामविलास शर्मा ने हिंदी साहित्य में मार्क्सवाद के औजारों का बहुत सफलतापूर्वक प्रयोग किया और विश्लेषणात्मक ढंग से आलोचना की आधारिकी विकसित की। उनकी विश्लेषणात्मक मनीषा, अपार लेखकीयता, गहन खोजी वृत्ति, अँधेरी और अनजान तहों में धँसकर देखने की अचूक और तार्किक क्षमता का लोहा सभी मानते हैं। उन्होंने बहुत प्रारंभ में ही हिंदी के रचनाकारों का वैचारिक श्रेणीकरण कर दिया जिसके अपने प्रभाव और दुष्प्रभाव हुए। यद्यपि उनकी अनेक बातों से विरोध हो सकता है, लेकिन अधिकांशत : उनकी स्थापनाएँ सबल तर्कों की दृढ़ भित्ति पर खड़ी हैं। उनकी 'संवादी शक्ति' (Power of Synthesis) में वाद-विवाद और बहस-मुबाहसों की बहुतेरी गुंजाइश होती है। एक प्रकार से यह ठीक ही कहा गया है कि उनकी आलोचना के समक्ष सदैव एक अदृश्य विपक्ष उपस्थित है, एक शत्रु या विरोधी। अम्बर्तो यूको की पुस्तक 'इन सर्च ऑफ एनिमी' की तरह वह हमेशा एक 'एनिमी' की 'सर्च' में रहते हैं- अपने संभाव्य शत्रु पर एक सर्चलाइट की चौंधियाने वाली रोशनी फेंकते हुए। कारण यह है कि उनकी उनकी खंडन-मंडन की प्रिय दलीलें ही विरोधियों के मतों और उनके

विजातीय विचारों को ललकारती हैं, उन्हें बलात् आमंत्रित करती हैं और अमूमन धराशायी भी कर देती हैं। प्रगतिवादी आलोचना के दौरान अक्सर यही होता रहा है। चाहते न चाहते भी आप रामविलास शर्मा की विचार परिधि में ही अपना पक्ष-विपक्ष चुनने को विवश अनुभव करते हैं। इससे बाहर हटकर हिंदी आलोचना का घेरा बहुत बाद में ही विकसित हो सका जब नामवर जी के नेतृत्व में 'वल्गर' मार्क्सवाद के 'मतवाद' की परिधि से बाहर जाकर आलोचना का लोकतांत्रिक (अवश्य ही वामोन्मुख!) परिवेश बुना जा सका। साहित्य की परिधि के भीतर नामवर जी का तनिक 'लिबरल' चुनाव या रूपवाद का बहुत प्रच्छन्न या महीन समर्थन इसका प्रमाण भी है। लेकिन जब रामविलास जी ही धुरी से खिसकते मालूम हुए तो सावधान होकर रामविलास जी को आगाह तो किया ही जा सकता है। 'जाग मछेंदरनाथ गोरख आया' की तर्ज पर। लेकिन रामविलास जी नहीं जागे तो नहीं जागे। फलत: वह शवसाधक हुए। बहरहाल।

यह तो है ही कि रामविलास शर्मा की तर्क सरणि अधिकारवादी है, वह कल्पित (प्रत्यक्ष हुआ तो कहना ही क्या!) विरोधी को नेस्तनाबूद करते चलते हैं। यदि मुक्तिबोध को अस्तित्ववादी सिद्ध करना है तो उन्हें किसी न किसी तरह घेर लेंगे और सिद्ध करने के लिए लंबे-लंबे उद्धरण देंगे। यदि पन्त और अज्ञेय को जनविरोधी और जड़ाऊ कलाकार सिद्ध करना है तो करके ही दम लेंगे, और यदि बच्चन का मजाक उड़ाना है तो उनकी अवधी में अनूदित जनगीता से कुछ ऐसे उद्धरण देंगे कि बच्चन की सारी कविता दो कौड़ी की सिद्ध होगी। इस तरह ऊपर-ऊपर से देखें तो ले देकर उनका लक्ष्य शास्त्रार्थवादी रहता है। इससे ऐसा लगता है कि उनका सारा आलोचनाकर्म किसी न किसी प्रकार की तात्कालिक प्रतिक्रिया के गर्भ से पैदा हुआ है। इसका एक सामान्य कारण भी है। उनके प्रिय कवि निराला पर तत्कालीन समय में आलोचकों ने कृपा नहीं की और उनके विरोधी पंत जी की प्रशंसा की। रामविलास जी ने सबल तर्कों से निराला को युग का प्रतिनिधि कवि सिद्ध कर दिया और पंत जी को हवाई। वह एक लीक बन गयी, उनके स्टैंड पर ही मार्क्सवादी आलोचना का शास्त्र विकसित होने लगा, उसी के सहारे खड़ा हुआ। सच यही है कि प्रकाश चंद्र गुप्त और शिवदान सिंह चौहान के विचारों से कहीं अधिक रामविलास जी की आलोचना ही प्रसिद्ध हुई। लेकिन, हरेक विचार के अपने अन्तर्वर्ती विपर्यय भी होते ही हैं जिन्हें भाषा में समेटने में कठिनाई होती है। जाने-अनजाने ही विचारों से स्वयमेव पक्ष-

विपक्ष पैदा होने लगते हैं जिनमें से किसी न किसी को मजबूरी के वश पकड़ना ही होता ही है। स्वाभाविक ही है कि यदि रामविलास जी के प्रिय कवि निराला उनकी आलोचना के केन्द्र में हैं तो निराला के प्रिय कवि तुलसीदास भी केन्द्र में आएँगे और कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि तुलसीदास यदि केन्द्र में हैं तो भारतीय संस्कृति का वह पक्ष जिसे हम वैदिक धारा कहते हैं वह भी प्रमुख हो जाएगा। यदि वर्णाश्रम, जिसका मूल वेद है, उसे अमान्य कर दिया जाए तो तुलसीदास की कविता किस समाज में पर्यवसान करेगी? उस मॉडल के स्पष्ट दार्शनिक आधार क्या होंगे–यह भी प्रश्न होगा। रामविलास जी ने दो विरोधी ध्रुवान्त प्रारंभ में ही चुन लिये या यह कहना संभवत: अधिक समीचीन हो कि आपातत: दो विरोधी प्रतीत होने वाले ध्रुवों ने उन्हें स्वत: पकड़ लिया। निराला में दोनों ध्रुव एक ही साथ सक्रिय हैं। वह रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानंद के व्यावहारिक वेदान्त वाली भावधारा से गहराई से जुड़े हैं और तुलसीदास की रामभक्ति वाली सगुणोपासना से भी, बंगाल की शक्तिपूजा से भी और अवतारवाद से भी। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' उनकी सांस्कृतिक बिम्बमाला का घना प्रसार करती है जिसकी पृथुल प्ररोहों वाली जड़ें वैदिक चिंतन में गहराई से धँसी हुई हैं, वहीं से सम्पुष्ट भी होती हैं। 'दिल्ली' कविता को पढ़कर या उनकी प्रसिद्ध कवि 'तुलसीदास' कविता से गुजरकर कभी–कभी तो निराला पुनरुत्थानवादी या बुनियादपरस्त कवि जैसे लगने लगते हैं। लेकिन, इसके साथ ही वह साहित्य के प्रगतिशील मूल्यों के पैरोकार तो हैं ही, उनकी करुणा सामाजिक परिवर्तन के लिए 'विप्लव वीर' बादलों का भी आवाहन करती है। यह अच्छा ही हुआ कि निराला से रामविलास जी टकरा गए। मेधावी लोगों को 'कंट्राडिक्शन' के भीतर से ही रास्ता निकालना होता है और कभी–कभी संयोगवश (या प्रच्छन्न साधनावश!) उन्हें अंतत: एक रास्ते की ओर मुड़ जाना होता है। एक टर्निंग प्वाइंट! रामविलास जी उधर ही मुड़ गए जिधर निराला गए। वहाँ उनका हृदय था, उनकी आत्मा का प्रकाश था। उनकी बौद्धिकता जो घोर पदार्थवादी थी, अंतत: उधर ही उसी किनारे जा लगी! इसे विकल मार्क्सवादी गतानुगतिकों ने घोर शोक से देखा– 'लख निजपति चरण चिह्न'। हालाँकि यह रामविलास जी की बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रज्ञा का स्वाभाविक मोड़ था, लेकिन इसे वैचारिक योगभ्रष्टता की तरह देखा गया, जबकि न ही वह पुनरुत्थानवादी थे, न हो सकते थे और न ही उन्होंने पुनरुत्थानवादियों को कोई अस्त्र थमा दिया जैसा कि नामवर जी कहते हैं।

रामविलास जी को उनकी सारी उत्कट सृजनशीलता, उनकी आलोचनात्मक विकसनशीलता, उनकी संदर्भबहुलता, उनकी शिविरदक्षता को देखते हुए यह कहना संगत प्रतीत होता है कि वह मूलत: जिज्ञासु या शोधक वा सम्परीक्षक चेतना के व्यक्ति हैं जो ऐतिहासिक या पारिस्थितिक कारणों से इस या उस ध्रुवान्त की ओर मुड़ते हैं। कई बार वदतोव्याघात के खतरे उठाकर भी वह 'युद्धं देहि' की मुद्रा में सींगे लड़ाते हैं। इसलिए उनकी आलोचना में एक प्रकार की आक्रामकता है जिसे प्राय: लक्षित भी किया ही गया है। इससे यह और अधिक प्रकट होता है कि वह सामान्यों की सूत्रात्मक एकनिष्ठता के विरुद्ध अधिक सच्चे तत्त्वान्वेषी हैं, अनुसंधानी हैं। उनका विपुल लेखन इस बात की सहज प्रतीति कराता है कि वह 'पोलिटिकली करेक्ट' होने की जुगत में नहीं हैं । इसी लिए वह खतरे उठाकर भी 'ऋग्वेद' पर काम करते हैं। इस बात के लिए उनकी लानत मलामत की चेष्टा (चेष्टा ही कहेंगे!) की जाती है मानो 'ऋग्वेद' का नाम लेना कोई गुनाह हो। 'आर्य बाहर से नहीं आए वे तो यहीं से फैले'- ये कह दिया तो मानो अब जैसे वो अछूत हो गए हों। भला वो ऐसी बात कैसे कह सकते हैं! अव्वल वो ये सब करने-खोजने-जानने गए ही क्यों जब उन्होंने मार्क्स के श्रीचरणों में अपना शीश रख दिया। अब अन्यों ('द अदर') के सत्य से क्या काम? यह कुफ्र और यह हिम्मत! न शोभते! वैचारिक कठमुल्लापन और किसे कहते हैं! यह सिर चढ़कर बोलता है। देखिए कि यह नामवर सिंह के इस लेख (इतिहास की शवसाधना) में किस तरह सिर चढ़ा है मानो 'पाया न हृदय'!

यह उनके व्यक्तित्व का एक भिन्न पक्ष भी है जिसे हम आलोचना की पारम्परिक संकीर्ण बोध की जमीन पर खड़े होकर नहीं देख सकेंगे। सचाई यह है कि रामविलास जी केवल आलोचक भर नहीं हैं, वरन् वह उच्चकोटि के सभ्यता समीक्षक, चिंतक और भाषा विचारक भी हैं। उनके व्यक्तित्व का आयाम बहुवर्णी और बहुआयामी है। 'तार सप्तक' के वह अंतिम कवि भी रहे। यह हमारे चिंतन की दरिद्रता ही कहलायेगी जो इतने गहन अध्यवसायी चिंतक को केवल हिंदी आलोचना (वो भी सिर्फ मार्क्सवादी आलोचना) की द्रोणी में अँटाना या घटाना चाहती है। इन प्रदीर्घ व्याप्तियों के लिहाज से हर हालत में वो हिंदी के सभी मार्क्सवादी आलोचकों से बहुत बड़े हैं, बल्कि अपने ढंग के अनूठे चिंतक-लेखक हैं। सबसे बढ़कर उनकी बौद्धिक निष्ठा तथ्य या ऐतिहासिक सत्य (यह भी एक तथता है) के अनुगमन में विकसित हुई है जिससे अस्सी के दशक में वह साफ और मुकम्मल तौर पर एक

यथोचित स्वतंत्रचेता बुद्धधर्मी के रूप में प्रकट होते हैं। यह प्रकटीकरण सभी शिविरों की चूलें हिला देता है। अब यह तो होना ही था कि जो मशाल की तरह मार्क्सवादी झुंड के अगुआ बनकर चल रहे थे या जिनके नेतृत्व में एक उन्मद भीड़ चल रही थी, उनके पथ का ऐतिहासिक और निर्णायक मोड़ आ जाने से अनुयायियों की तो जैसे साँस ही फूलने लगी, उनका नेता जो पथभ्रष्ट हो गया। अब अनुयायियों के समक्ष जो अकाल और सर्वग्रासी महासंकट आन पहुँचा–इसे क्या कहें। इतिहास की दुर्नियति कहें या नामवर जी के शब्दों में 'इतिहास की शव साधना'?

यह कम आश्चर्यजनक नहीं है कि ठीक उसी समय मार्क्सवाद के गढ़ टूटे थे– एक ऐतिहासिक प्रयोग असफल हुआ, पूर्वी यूरोप के देश कम्यूनिस्ट उपनिवेश नहीं रहे, वे सभी फ्रेंसिस फुकुयामा के शब्दों में 'इतिहास का अंत' करने वाले प्रतीत हुए क्योंकि अमरीकी उदार मानववाद या सैद्धांतिक शब्दों में पूँजीवाद विजयी हुआ, शीत युद्ध समाप्त हुआ– इस तरह इतिहास का अंत हो गया। किस इतिहास का? उसी इतिहास का जो अंततः वर्ग संघर्ष या उष्ण/शीतयुद्ध से गतिमान रहा करता है! सोवियत रूस का विघटन हुआ जिसे साम्यवाद की निर्णायक पराजय के रूप में देखा गया और एक तरीके के दक्षिणपंथी उभार या फासीवाद के उदय की आशंका के रूप में भी समझा गया। सैम्युएल पी. हटिंगटन ने कहा कि नहीं, यह इतिहास का अंत नहीं है क्योंकि इतिहास को संचालित करने वाली चेतना वर्ग संघर्ष नहीं है, बल्कि, वह तो सभ्यताओं के भिन्न–भिन्न मॉडल हैं जिनमें 'क्लैश' होते हैं, चलते ही रहते हैं और आगे चलकर उसी से 'वर्ल्ड ऑर्डर' भी तय होते हैं। कुछ (ल्योतार) ने कहा कि नहीं यह तो पूँजीवाद का ही एक 'महा आख्यान' है जो बूढ़ा होकर निढाल पसर गया है और कुछ (देरिदा) ने कहा कि यह मार्क्सवाद का 'भूत' है जो इतिहास को गाहे ब गाहे 'हांट' करता रहता है– इतिहास भी एक 'महास्मृति' ही तो है– एक तरह का भाषिक महाआख्यान। यह राजनीतिक रूप से 'अचेत' (फ्रैडरिक जेमसन) है जिसे अब उत्तरतकनीकी युग का मानव चुनौती देने की स्थिति में भी नहीं है। इस विराट घटाटोप के सामने वह क्षुद्र वामन भर बचा है। 1990 में एक अजीब महाविडम्बना का दौर शुरू हो गया और ऐन उसी वक्त रामविलास जी की 'ऋग्वेद' पर नयी दृष्टि प्रकाश में आ गयी। कुछ जानकार लोगों का कहना है कि रामविलास जी वर्षों से ऋग्वेद का अध्ययन कर रहे थे जिसका परिणाम यह महाग्रंथ है। संभवतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी होते तो कहते कि इस नए द्वार से झम्म से मंच पर आ विराजने वाले इतिहास

देवता का स्वागत और अभिनंदन है! लेकिन उनके शिष्यों में धैर्य कहाँ। उन्हें तो उखड़े शिविर के खंभे दुरुस्त करने हैं, रोते हुओं के आँसू पोंछने हैं! उनकी बाद की व्याख्यान मालाओं से स्पष्ट होता चला ही गया कि ये महाराज घनघोर द्वैतबोध के शिकार हैं जिनके अन्तर्विरोध अब जैसे कुछ अनियंत्रित हो बाहर फूट पड़े हैं। इससे यह भी लगता है कि गिरते खंभे सँभालने वे बहुत बेमन से ही गए थे क्योंकि लेख का अंतिम हिस्सा ही इसकी गवाही दे देता है। सचाई यही है कि 'ऋग्वेद' वाली स्थापना की बात बहुत गहरी है और वह जीवनव्यापी साधना से प्रसूत है, लेकिन बात यह है कि निकली है रामविलास जी की लेखनी से। कुछ लोगों ने ठीक ही रामविलास जी को ऋषि कहा– आत्मलीन और जागरूक, हठी और व्रती। वहाँ क्या दाल गलती! वामपंथी और दक्षिणपंथी दोनों हतप्रभ!

मार्क्सवादी आलोचना की पद्धति का विनिवेश हिंदी साहित्य में प्रगतिवादी साहित्य के साथ ही साथ विकसित हुआ है। इसकी प्रेरणाभूमि मार्क्सवाद है जिसे कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने सहगामी रूप से विकसित किया लेकिन जिसकी प्रसिद्धि कार्ल मार्क्स की कृतियों के कारण हुई। मार्क्स ने पूँजी का गहरा अध्ययन किया और उजरती हुई श्रम पूँजी से विकसित होने वाले अमानवीय पूँजीवाद को पहचानने के लिए सूत्र विकसित किया। अठारहवीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटेन में उत्पन्न ऐतिहासिक औद्योगिक परिस्थितियों और उसी के सापेक्ष यूरोप के कुछ देशों द्वारा किए जा रहे एशिया अफ्रीका के देशों के भयानक शोषण से एकत्रित श्रममूल्य से उजरती पूँजी पर होने वाले स्वामित्व का पर्दाफाश करते हुए मार्क्स ने इस अमानवीय तंत्र में पिसने वाले मजदूर वर्ग को गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ देने के लिए उद्घोषणा की। चूँकि यह शोषक या स्वामी वर्ग द्वारा दूसरे कामगार या श्रमिक अथवा आश्रित वर्ग के अमानवीय शोषण पर टिका तंत्र है, इसलिए यह आंदोलन बनता गया। 'दुनिया के मजदूरो एक हो'— यह एक सार्वभौम आह्वान जैसा था जिसके बीज फ्रांस की राज्यक्रांति के तीन शब्दों में भी मौजूद थे। इस आह्वान की वैचारिक धमक पूरे यूरोप में सुनी गयी लेकिन दुर्भाग्य से वांछित या संभावित क्रांति की परिघटना ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी जैसे पूँजीवादी देशों में अब तक भी नहीं हुई जैसा मार्क्स ने अनुमान लगाया था। वह मार्क्स की मृत्यु के बाद रूस जैसे अर्धविकसित सामंतवादी देश में हुई जिसे सत्तर बहत्तर सालों बाद टूट जाना पड़ा। सबके बावजूद यह कहना होगा कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से व्युत्पन्न ऐतिहासिक भौतिकवाद, अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद, सर्वहारा का अधिनायकवाद, पूँजीवाद

का विस्तार साम्राज्यवाद, शोषण का अंत वगैरह पदावलियाँ उन्नीसवीं सदी की मंत्र रही हैं जिन्हें कभी-कभी प्रलाप की हद तक भी दोहराया गया है।

यद्यपि 1917 की बोलशेविक क्रांति के कारण दुनिया के एक हिस्से में साम्यवादी विचारों का प्रभाव बढ़ने लगा और धीरे-धीरे राजनीति से बाहर निकलकर साहित्य-कला-संस्कृति में भी अपनी जगह बनाता चला गया। वो भी एक भिन्न तरह की राजनीति ही हुई जिसने साहित्य को आदर्श (आइडियल) और यथार्थ (रीयल) की दो धाराओं में निर्णायक रूप से बाँट दिया। इसी दर्शन के अनुसार वैचारिक या दार्शनिक स्तर पर तब तक विकसित दुनिया के सभी दर्शन आदर्शवादी थे जबकि मार्क्सवाद ने अपना आधार पदार्थवाद में ढूँढ़ा और अपने को वैज्ञानिक तथा तार्किक आधारों पर खड़ा बतलाया। स्वयं कार्ल मार्क्स ने अपने दर्शन गुरु फ्रेडरिक हीगल के आदर्शवादी विचारों के लिए कहा ही था कि हीगल का दर्शन आदर्शवाद (आइडियलिज्म) सिर के बल खड़ा था जिसे उन्होंने पाँव के बल सीधा कर दिया है, यानी पदार्थवाद की जमीन पर खड़ा कर दिया है। पदार्थवाद ही जागतिक सत्ता की सही जमीन है जिसके आधार पर ही आदर्शवादी संरचनाएँ विकसित होती हैं। यह पदार्थ ही जगत का मूल है और इसी की बहुआयामी गतिमानता से ऊर्जा तथा चेतना के अनन्त रूप बनते रहते हैं। स्वयं विचार की सत्ता का प्रतिभास भी पदार्थ जगत से ही प्रतिक्रियावश व्युत्पन्न होता है। साहित्य और कलाओं में पदार्थवाद (मैटेरियलिज्म) की यही अनुगूँज यथार्थवाद (रीयलिज्म) कहलाती है। मूल में यह है कि पदार्थ (मैटर) ही सत्य है, ऐन्द्रियानुभव निष्पन्न है और प्रत्यक्ष है। इसी कारण से प्रत्यक्षवाद (पॉजिटिविज्म) पदार्थवाद का ही एक रूप है। यह आदर्शवाद की तुलना में अधिक वस्तुनिष्ठ और तार्किक बुद्धि के अनुकूल मानी गयी जिसका प्रभाव उन्नीसवीं सदी में विकसित ज्ञान-विज्ञान की परम्पराओं पर भी पड़ा। लेकिन इसका यह भी आशय नहीं कि पूर्व से प्रचलित आदर्शवाद की विश्वदृष्टि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ अथवा कि उसने अपना ज्ञान मीमांसात्मक विकास नहीं किया। लेकिन, जगत को समझने-समझाने वाली इस वस्तुपरक दृष्टि को ही ऐतिहासिक विकास के लिए बहुत उपयोगी माना गया जिससे ज्ञानोदय का युग अस्तित्वमान हुआ। अब तक का मार्क्सवादी आख्यान यही है। इसी के प्रकाश में पश्चिम से आनी वाली विज्ञानमयी आधुनिकता की धारा भी मिल गयी। आधुनिकता की इस विज्ञानमयी धारा ने यूरोप की मध्यकालीनता से निर्णायक संग्राम किया जिसमें उसके धार्मिक वर्चस्व या चर्चवाद

की पराजय हुई और विज्ञान की विजय हुई। यूरोप में होने वाले औद्योगीकरण के प्रभाव से आधुनिकता का विकास तेजी से हुआ जिसमें ईसाई धार्मिकता से बाहर आकर नए जीवन मूल्यों ने अपनी पहचान बनायी। उन्नीसवीं सदी विज्ञान की सदी है और उसी समय उसके कंधे पर सवार होकर एक पदार्थवादी विचारधारा ने अपने को आधुनिकता का पैरोकार बताया और कालांतर में आधुनिकता को अपनी शर्तों पर परिभाषित भी किया।

अब देखा जाए तो यह भी एक भाषिक आख्यान ही है क्योंकि आधुनिकता की यह दृष्टि भी कालांतर में असफल सिद्ध हुई और स्वयं मार्क्सवाद के वैचारिक पतन का कारण भी बनी। यह भी कह सकते हैं कि हाशिए पर छूट गए आदर्शवाद ने पिछवाड़े से आकर अपने जीवित होने का सबूत पेश किया और बीसवीं सदी के अंतिम दशक में बकौल फुकुयामा 'इतिहास का अंत' कर दिया। क्या हमें इस ऐतिहासिक विपर्यय को, परिवर्तन को पुनः हीगल के द्वन्द्ववाद के रूप में ही देखना चाहिए? यानी यह एक 'सिंथेसिस' ही है या यह सचमुच मार्क्सवाद की पराजय है? यदि हम भौतिक विज्ञान के साक्ष्य से देखें तो पदार्थवाद अब विकलांग हो चुका है । इसका कारण यह नहीं है कि पदार्थ का अस्तित्व समाप्त हो गया है, बल्कि, केवल यही कि भौतिकविज्ञान में भी उसे देखने, समझने और परिभाषित करने की मूल संकल्पनाएँ ही अपना प्राचल बदल चुकी हैं जिसे सामान्यतया 'पैराडाइम शिफ्ट' कहते हैं। यह नया प्राचल विचार के स्तर पर उत्तर आधुनिकता के न्याय से निकला है लेकिन सिद्धांत के स्तर पर यह भौतिकशास्त्रियों के गहन अनुसंधानों का परिणाम है जिसे अब निर्णायक प्रस्थान के रूप में देखा और पहचाना जा रहा है। क्या हम मान कर चलें कि रामविलास जी इन वैज्ञानिक परीक्षणों की नयी संकल्पनाओं से वाकिफ थे अथवा उनके सत्यान्वेषी चिंतन में स्वतः यह दृष्टि विकसित होती चली गयी कि केवल पदार्थवाद ही जीवन सत्य का मूल नहीं हो सकता, उसमें आदर्शवाद के दार्शनिक संप्रत्ययों का भी उतना ही प्रबल और महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसका एक प्रमाण इसी बात से मिलता है जब वह कहते हैं कि इतिहास का विकास केवल वर्ग-संघर्ष के चलते नहीं हुआ है, उसके विकास में वर्ग-सहयोग की भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। शताब्दियों-सहस्राब्दियों के गैल से इतिहास का पारगमन केवल एकांगी नहीं हो सकता; यानी वह संघर्ष और सहयोग की चेतना से युगपत गुजरता है तभी मानव सभ्यता आगे बढ़ती है। अब यह सैद्धांतिक मार्क्सवाद की

पीठिका से लगायी गयी बहुत बड़ी छलाँग है क्योंकि मार्क्सवाद के मूल में द्वन्द्वात्मकता अनिवार्य है। बहरहाल रामविलास जी ने मार्क्सवाद के दर्शन से अपने आपको समृद्ध किया और जिसे हम ज्ञानमीमांसा कहते हैं (और जिसमें तत्त्वमीमांसा के बावजूद एक 'सब्जेक्टिव' खोज या ज्ञानात्मक संवेदना से साक्षात्कार होता ही है) साहित्य के रास्ते उस पर बहुत बल दिया। तत्त्वमीमांसा या जगत की व्याख्या के लिए उन्होंने मार्क्स को स्वीकार कर लिया, कोई प्रश्न नहीं खड़ा किया लेकिन ज्ञानमीमांसा की सरणि पर चलकर वह उसी बिंदु पर पहुँचे जहाँ पर जगत् की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता होने लगती है। मार्क्स ने तो कहा ही था कि अभी तक सारे दार्शनिक जगत की व्याख्या करने में लगे हुए थे जबकि मूल आवश्यकता इसे बदलने की है। रामविलास जी ने भी जगत की व्याख्या वाले प्रश्न को छोड़ दिया; वैसे भी वह उनकी परिधि के बाहर का मामला था। उन्होंने जगत को बदलने पर ध्यान लगाया। साहित्य उनके लिए जगत को बदलने का प्रधान माध्यम है, लेकिन, यदि यही माध्यम लचर हो, कमजोर हो, लुंज-पुंज हो, आदर्श और कल्पना के साहाय्य से चलता हो तो सामाजिक परिवर्तन में लाचार सिद्ध होगा। उनके केन्द्र में निराला का शक्तिकाव्य इसीलिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसी दृष्टि के कारण भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी का साहित्य परिवर्तन की बात करता है जैसे प्रेमचंद का साहित्य भी यही काम करता है; इसलिए रामविलास जी की दृष्टि में ये महत्त्वपूर्ण हुए। रामविलास जी मार्क्सवाद की दृष्टि से भारत के इतिहास में किसानों और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को पुनर्परिभाषित करना चाहते थे और इस तरह उसे भारतीय मानस के अनुकूल बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने भारत को समझने के लिए भारत की संस्कृति के प्रारंभिक उत्पाद 'ऋग्वेद' पर भी दृष्टि डाली। ऋग्वेदकालीन भारत की जनता कृषिकर्मी थी, वहाँ मजदूरों का वर्ग उन्हें नहीं दिखा। उन्हें आर्यों की सहजीवी और सामुदायिक सामाजिक क्रियाओं में पारस्परिक सहयोग के सूत्र नजर आए जिससे ठिलता हुआ इतिहास आगे बढ़ा। यही कारण है रामविलास जी की दृष्टि में किसान अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। निराला के साथ ही प्रेमचंद और केदारनाथ अग्रवाल इसी लिए उनकी आलोचना में भी केंद्रीय स्थान रखते हैं।

कहने की जरूरत नहीं कि छायावाद की कोख से ही हिंदी कविता में प्रगतिशील स्फुलिंग निकले। पन्त के साहित्य में इसके बीज दिखे लेकिन वह श्री अरविंद की अतिमानसी चेतना की ओर मुड़ गए। निराला के साहित्य में साहित्य की सामाजिकी का एक गहरा आयाम मानवता की मुक्ति से जुड़ा रहा है जो आगे चलकर

शिल्प के स्तर पर भी कविता की मुक्ति की दिशा में बढ़ते हुए छंदमुक्ति की ओर चला गया। इसी तरह कथा साहित्य में भी 1936 तक आकर प्रगतिशीलता के तत्त्व दिखायी देने लगे। प्रेमचंद की तत्कालीन रचनाओं में भी आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर यह विस्थापन दिखायी देता है। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के अवसर पर लखनऊ में स्वयं अध्यक्ष की हैसियत से दिये गये उनके व्याख्यान में ही उन्होंने अपनी मान्यता की उद्घोषणा करके हुए कहा कि साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं है। उन्होंने इसी व्याख्यान में यह भी कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है। वह तत्कालीन राजनीति की पिछलग्गू नहीं है। संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रेमचंद ने साहित्य की उपयोगी कला का निषेध नहीं किया, बल्कि, साहित्य की आत्यंतिक अर्थवत्ता को पर्यवसित करने के लिए ही कहा कि साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन से भी आगे बढ़कर है। देखें तो यह एक तरह से कला की भी सामाजिक उपयोगिता और उपादेयता के लिए भी संकेत था। संभवत: ऐसा कहते समय प्रेमचंद के समक्ष छायावाद की कविता का कल्पनाप्रधान मानसिक बिम्ब रहा होगा क्योंकि भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में तो साहित्य की सामाजिक भूमिका ही प्रधान थी। बल्कि, यह भी कह सकते हैं कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में आधुनिक कालीन हिन्दी साहित्य का जन्म ही रीतिकालीन सौन्दर्याभिरुचि से बाहर जाकर हुआ था। सन् 1936 में छायावाद की प्रवृत्तियाँ समापन की ओर थीं और देश की राजनैतिक परिस्थितियाँ भी खंडित राष्ट्राभिव्यक्ति/ द्विराष्ट्रीयता की शिकार थीं। इनसे आगे चलकर देश विभाजन का एक दुखान्तकारी युगबोध प्रकट हुआ जिसने हमारी अंतरात्मा को प्रदूषित किया। रामविलास जी के लिए 1857 का विद्रोह बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि वह भारतीयों की साझी लड़ाई थी। उसमें हिंदू-मुसलमान दोनों एक साथ लड़े थे। फलत: उनके लिए प्रगतिशीलता के जो प्रधान कारक तत्त्व बने उसमें यथार्थवादी जीवन सौन्दर्य और स्वाधीनता की कामना की प्रमुखता है। कहीं न कहीं उनकी दृष्टि में सर्वधर्म समभाव के बावजूद या कि पंथनिरपेक्षता के बावजूद उस विचार प्रवाह को आत्मसात करने की निडर अभीप्सा मौजूद है जिसे जानकर वह हिन्दी जातीयता का उद्घाटन करना चाहते थे। मिली-जुली संस्कृति (मिली-जुली तभी तो संस्कृति हुई!) के उद्गम को पीछे उसके गोमुख तक जाकर समझने की चेष्टा उन्होंने की जिसमें भाषा, संस्कृति, कला, साहित्य, आचार, धर्म, साधना, कृषि, वाणिज्य, द्वन्द्व और सहजीवन आदि के सभी रूपों पर उनकी गहरी नजर पड़ी।

उसकी रोशनी में उन्होंने यह गहराई से समझा कि भारत के इतिहास को खंडित करने के लिए साम्राज्यवादी मिशनरी लेखकों के षड्यंत्र क्या थे और किस तरह उन्होंने वास्तविक तथ्यों को झुठलाते हुए प्राच्यवाद की नींव डाली। यानी यदि हमें अपना चेहरा देखना है तो उनकी आँख से देखना है, हमारी आँखें अपर्याप्त कदाचित दृष्टिविहीन भी हैं—इस प्राच्यवाद के छल को मध्य एशिया के परिप्रेक्ष्य में जिस तरह से एडवर्ड सईद ने उघाड़ने की कोशिश की, हिंदी में रामविलास शर्मा जरा देर से जगे, लेकिन, विस्मय होता है कि वह जगकर यही काम कर रहे थे। हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना ने नाहक उन्हें देर तक उलझाए रखा, वह एक वक्ती जरूरत की तरह उनके पास आयी, लेकिन 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' के बहाने चली भी गयी। मुक्तिबोध उनकी समझ में नहीं आए, कारण, उनकी कविता में मजदूर तो हैं किसान नहीं। किसान नहीं तो जनपदीय जातीयताबोध नहीं, कृषि बोध नहीं, विस्थापन बोध नहीं। वगैरह। इस सबसे मुक्त होकर वह अपने मूल काम पर पहुँचे।

सन् 1990 के बाद प्रकाशित रामविलास शर्मा की पुस्तकों को एक दृष्टि में देखा जा सकता है:-

1. पश्चिम एशिया और ऋग्वेद (1994)
2. इतिहास दर्शन (1995)
3. भारतीय नवजागरण और यूरोप (1996)
4. भारतीय साहित्य की भूमिका (1996)
5. भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश (1999)

'इतिहास की शव साधना' में स्वयं नामवर जी ने व्यंगात्मक ढंग से रेखांकित किया है कि 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद' तो नाम से ही स्पष्ट है, लेकिन, दूसरी किताबों में मसलन 'इतिहास दर्शन' में पहला ही अध्याय है –'ऋग्वैदिक आर्य और उनका परिवेश', 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' नामक पुस्तक का प्रारंभ होता है– 'भारतीय नवजागरण और ऋग्वेद' से। 'भारतीय साहित्य की भूमिका' की शुरुआत होती है–'ऋग्वेद के कवि और काव्य शिल्प'। 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश' (1999) के लिए नामवर जी कहते हैं – (इसके) केन्द्र में भले ही हिन्दी प्रदेश हो, भारतीय संस्कृति का गोमुख ऋग्वेद है। संक्षेपत: नामवर जी इस बात से बौखला गए हैं कि यह क्या बात हुई! पदार्थवादी दर्शन का यह हश्र! यह परिणति! हा हन्त! उन्होंने उदयनारायण तिवारी की ओर उछाला गया फिराक गोरखपुरी का जुमला जमाया है कि

लोक से शुरू करते तो वेद तक भी पहुँचते लेकिन वेद से शुरू करेंगे तो कहाँ पहुँचेंगे। पहले जिसकी पुस्तकों में आगे पीछे मार्क्स होते थे, अब यह कैसा विपरीत समय शुरू हुआ! यह कैसी उल्टी साधना कि वहाँ 'ऋग्वेद' आ गया! उन्हें पीड़ा यह भी है कि स्वयं रामविलाास जी के प्रिय तुलसी पहले लोक की ओर देखते हैं और बाद में वेद की ओर- लोक वेद, जबकि रामविलास जी वेद को वरीयता दे रहे : लोक को तो उपेक्षित होना ही था। नामवर जी मानते हैं कि हिंदी में लोकोन्मुखी भक्ति काव्य को प्रतिष्ठित करने में रामविलास जी की बहुत बड़ी भूमिका रही, लेकिन अचानक यह मोड़ क्यों? फिर कहते हैं कि नहीं, यह मामला अचानक नहीं है। उनका कहना है कि 'नवजागरण' का स्वर्णमृग उन्हें वैदिक अरण्य में भरमा ले गया। रामविलास जी नवजागरण पर ध्यान देते हैं, उन्हें लगता है भारत में अलग-अलग काल में कई नवजागरण हुए हैं। रामविलास जी ने भारत में नवजागरणों या रेनेसाँ की जो फेहरिस्त बनायी है उसमें पहला नवजागरण ऋग्वेद है, दूसरा उपनिषद, तीसरा भक्ति आन्दोलन और चौथा नवजागरण उन्नीसवीं सदी का है। नामवर जी आहत हैं। यह बहुत स्वाभाविक है! रामविलास जी न तो बुद्ध का जिक्र करते हैं, न श्रमण परम्परा का और न ही चौथे चरण में प्रगतिशील आन्दोलन का। ये तो हद हो गयी।

नामवर जी को अचरज है कि बुद्ध के आन्दोलन का क्या हुआ? रामविलास जी मार्क्सवादी होकर भी वेदों के विरोधी बुद्ध के आन्दोलन को लोक जागरण की श्रेणी में नहीं रखते जबकि वह तो वेदों के विरोध में ही पनपा था। नामवर जी की तरह ही भारत में मार्क्सवादी अपना मसाला ढूँढ़ने अमूमन यहीं तक आते हैं। भारत की सनातन परम्परा के विरोध के लिए (महावीर में नहीं) बुद्ध में उन्हें 'एंटीथीसिस' मिल ही जाती है! रामविलास जी बहुत सावधानी से (जैन और बौद्ध नहीं) बुद्ध की चिंतन प्रणाली को उपनिषदों से जोड़ देते हैं। बात बहुत हद तक सच है। श्रमण परम्पराएँ वेद के पूर्व से भी अस्तित्वमान हैं और उपनिषदों का ज्ञानकांड स्वत: वैदिक कर्मकांड का विरोधी है और प्रश्नोत्तर और संवादपरकता के सभी सूत्र वहीं से खुलते हैं। सभी प्रमुख उपनिषद वेदों का अतिक्रमण करते हैं, यह एक तरह का विधायक निषेध है, और गीतामृत तक आते हुए उन्हें 'कूप' तक कह दिया गया है। सभी उपनिषदें गायें हैं और दोग्धा श्रीकृष्ण हैं। यहाँ यह देखना मजेदार है कि जो काम श्रीकृष्ण आत्मवादी होकर कर रहे हैं वही काम यानी उपनिषद रूपी गायों को दुहने का काम ब्रह्मवादी होकर गौतम बुद्ध कर रहे हैं। दोनों सांख्य से प्रभावित हैं दोनों प्रमाण और प्रामाण्य को

अपने ढंग से देखते हैं। दोनों ही सांख्योत्तीर्ण हैं और यह सांख्य ही है जिससे निरीश्वर और सेश्वर की दो धाराएँ फूटती हैं! बुद्ध के लिए 'अनत्ता' की अनुभूति 'कॉस्मिक सेल्फ' की अनुभूति (ब्रह्मानुभूति/शून्यानुभूति) बनती है क्योंकि जब कोई स्व या आत्म की केन्द्रीय इकाई है ही नहीं तो स्वयं अनुभोक्ता किस रूप में उपस्थित होगा जिसे 'सब्बं दुक्खम्' की अनुभूति हो रही है। देकार्त ने यह सूत्र खोजा कॉजितो एर्गो सम। आई थिंक देयरफोर आई ऐम। मैं सोचता हूँ इसलिए मैं अस्तित्वमान हूँ। 'सुखम् शेते' की अनुस्मृति यद्यपि जागरण के बाद की होगी, किन्तु, अवबोधन काल में जागृत रहने वाला वह परमतत्त्व कौन है? यह तो विचारणीय है। बर्टेंड रसेल ने जिसे 'मोस्ट गॉडलेस बट द मोस्ट गॉडली' कहा वह बुद्ध सेश्वर हों कि निरीश्वर यहाँ आकर (निश्चय ही लोक में पहले!) स्वत: भगवान हो गये। इसलिए रामविलास जी ने यदि उन्हें पृथक से न देखकर उपनिषद (उप:+निष:+द) के महाजागरण में देखा, तो कोई अचरज की बात नहीं। यज्ञों के विरोध में स-तर्क संवाद करने वाले गौतम बुद्ध और 'प्लवा ह्यैते अदृढ़ा यज्ञरूपा' नौका पर सवार यजमानों और पुरोहितों को रेखांकित करने वाले उपनिषदों के ऋषियों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं दिखायी देता। डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है कि बुद्ध ने उपनिषदों के सभी ऋषियों को नहीं केवल अघमर्षण, प्रजापति परमेष्ठिन, कपिल, अनिल, ब्रह्मणस्पति आदि ऋषियों को माना है। ये सभी दार्शनिक वेदोत्तर विचार परम्परा के ही दार्शिनक हैं जिनसे बुद्ध ने अर्थग्रहण किया। बुद्ध परिव्राजक होकर सीखने के लिए आलार कालाम के यहाँ सबसे पहले गए जो सांख्यवादी थे। इसलिए रामविलास जी ऋग्वेदकालीन जागरण को उपनिषदकालीन जागरण से अलगाते हैं या कि उपनिषद कालीन प्रस्थान या प्रगतिशीलता को रेखांकित करते हैं जो वही कर सकते थे। प्राय: संस्कृति विमर्श में स्थूल प्रतिरोधों को महत्त्व देने से बुद्ध और महावीर वेदों के विरोधी फलत: बहुत क्रांतिकारी नजर आते हैं। रामधारी सिंह दिनकर ने भी इसे संस्कृति के दूसरे अध्याय या सोपान के रूप में देखा है। परन्तु रामविलास जी उस परम्परा को देख रहे हैं जो बुद्ध में आकर आन्दोलन बन जाती है। यदि उपनिषदों की सांख्यसरणि से प्रभावित न होते तो बुद्ध कर्मफल और पुनर्जन्म की बात ही कैसे करते? यदि कोई व्यक्तिनिबद्ध आस्तित्विक इकाई जिसे उपनिषदों में 'आत्मा' कहा गया, है ही नहीं तो पुनर्जन्म किसका और कर्मफल का प्रदाता ही कौन है? तब तो पुष्पदन्त ही सही कहते हैं कि 'क्रकर्म: प्रध्वस्तम् फलतिपुरुषाराधनमृते!' तुम्हारी आराधना के (शिव के) बिना वह

कौन पुरुष जागृत है जो कर्मान्त या (यज्ञान्त) होने के बाद भी प्रक्रिया में फल देने को जाग रहा है? बुद्ध ने आत्मा के पर्याय बदल दिये लेकिन षडायतन यदि 'देही' है तो अंगीभूत होने से वह 'अनत्ता' भी हो तो कोई हर्ज नहीं! मूल लक्षणाधार कर्मफल और पुनर्जन्म है। डॉ. अम्बेडकर के लिए यह परेशान करने वाला सवाल है कि आखिर तब 'पुनर्जन्म' किसका होता है और 'कर्मफल' किसको प्राप्त होता है क्योंकि जब कोई आत्मा ही नहीं है तो कर्म का कर्ता फिर कौन है? उन्होंने 'द बुद्ध एंड हिज धर्म' की भूमिका में यही सवाल उठाया है। वृहद आश्चर्य तो यही है कि इस महाप्रश्न (अतिप्रश्न!) का बिना समाधान हुए ही वह बौद्ध बन जाते हैं! यह ठीक भी है कि आप बुद्ध संघ और धम्म की शरण में आश्रय लेते हैं। श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को यही कहा कि -सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। यह 'मामेकं शरणं' हो या 'बुद्धं शरणं' हो बहुत अन्तर नहीं दिखता! प्राय: ऐसा होता है। यह प्रश्न तत्वमीमांसा का है और इसे आप्त पुरुष के सहारे छोड़कर जगत को बदलने के लिए अभियान पर कूच किया जा सकता है। जैसा कि पदार्थ की मूल संकल्पनाओं को मार्क्स के भरोसे छोड़कर रामविलास जी भी जगत को बदलने के लिए निकल चले। उन्होंने इसकी परवाह नहीं की कि प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के ऐन उसी ईस्वी सन् में यानी 1936 में ही 'मैटर' के बारे में रदरफोर्ड क्या कह रहे हैं!

इतिहास में यह हुआ है कि प्रयोगशालाओं से निकलने वाले सत्य के अनुप्रयोग कभी-कभी बहुत देर से समाज में आवयविक ढंग से प्रविष्ट होते हैं। वे तगाफुल तो नहीं करते लेकिन आते-आते बहुत देर हो जाती है और खबर होने तक कई बार चीजें खाक हो जाती हैं। 'यूनिवर्स' के 'बेसिक बिल्डिंग ब्लॉक' के विषय में इतिहास की प्रयोगशालाओं के परीक्षित निष्कर्षों के आने में कई दशक बीत गए। तब तक रामविलास जी हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी जमीन को मजबूती से थामे रहे। मिखाइल गोर्बाचेव ने रूस में ग्लासनोस्त और पेरेस्त्रोइका के माध्यम से 1986-87 में ऐतिहासिक परिवर्तनों की शुरुआत की और निश्चय ही इसे रामविलास जी ने भी समझा होगा। अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें इससे उनके आन्तरिक संघर्षों, वैचारिक द्वन्द्वों और अन्तर्विरोधों के बाहर आने का रास्ता आसान हुआ होगा और रामविलास जी को अपने शोधात्मक काम को आगे बढ़ाने में मदद भी मिली होगी। 1990 के साल तक आते आते-आते मार्क्सवाद के खंडहरों को देखकर उन्हें यह भी यकीन हुआ होगा कि इतिहास की शक्ति अपने ही दुरंत बल से चलती है, उसे

स्तालिनवाद के अंध मार्क्सवाद से नहीं चलाया जा सकता। फलतः रामविलास जी अपनी स्थापनाओं को बेबाक ढंग से सामने लाने का दुस्साहस करते दिखायी देते हैं जिससे पता चलता है कि वह जड़ मार्क्सवादी नहीं थे। अपनी मूल बनावट में वह एक सत्यान्वेषी यायावर थे। जहाँ सत्य की मशाल जलती हुई दिखी उसे उन्होंने थामने की कोशिश की। लेकिन इसी के बरक्स जब नामवर सिंह के इस लेख को देखता हूँ तो लगता है कि रामविलास जी की इस साधना से वे कितनी गहराई से भयभीत हैं। उन्हें लगता है कि कहीं यदि नवजागरण संबंधी रामविलास जी के निष्कर्ष मान्य हो गए या सच साबित हो गए तो रूसोपदिष्ट वैचारिक शिविरों का क्या हाल होगा! इसलिए यह लेख, जो उनके चिंतन के असमंजस को दिखाता है, उन्हें लिखना पड़ा। सोवियत रूस में शुरू हुए रक्तहीन सुधारात्मक प्रयासों से साम्यवाद के गढ़ों के इस तरह आसानी से ही ढह जाने से तमाम मार्क्सवादी विचारक चिंतित हो गए और बगलें झाँकने लगे, पूर्व से कोई सूचना नहीं थी कि ऐसा भी हो सकता है। लेकिन, बाद में फलित ज्योतिष के पंडितों की तरह अनेक व्याख्याएँ सामने आयीं कि बंद अर्थ व्यवस्था का यह दुष्परिणाम होता है, फ्रेंकफुर्त स्कूल के नव मार्क्सवादियों की बातें सुनी ही नहीं गयीं, कि शीत युद्ध के दौर में ब्रेझनेव ने आक्रामक पहल नहीं की, या कि गोर्बाचेव को यह सब करने ही क्यों दिया गया। वो तो प्रतिरोध में उमड़ी जब रोमानिया की जनता ने चाउसेस्कू का कांचन वेष्टित बाथरूम देखा तब पता चला कि ये उपनिवेशी नव तानाशाह कर क्या रहे थे, हालाँकि इसी का एक दूसरा पहलू ये भी था कि हेलमट कौल के नेतृत्व में बर्लिन की दीवार ढह गयी और पूर्वी जर्मनी के लोगों ने दीवार के उस पार बर्लिन को नेतृत्व सौंप दिया। यहाँ उदार मानववाद की पहल पूँजीवाद की ओर से हुई जिसने खंडित मानवता को एकीकृत करने का काम किया। यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी। रामविलास जी के वर्ग सहयोग को मैं इस रूप में भी देखता हूँ जिससे इतिहास का एक नया अध्याय लिखा गया। मुझे बार-बार यह लगता है कि यदि रामविलास शर्मा की पश्चिम एशिया वाली थीसिस मान ली जाए, निस्संदेह जिसका आधार ऋग्वेद ही होगा, तो भारत के एकीकरण में आसानी होगी। लेकिन, वह कुछ लोगों को सह्य नहीं होगा। यदि इस तरह का सांस्कृतिक स्वप्न ऋग्वेद के बहाने देखा जा सकता है तो यह कोई नयी बात नहीं होगी। महर्षि दयानंद का 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्' यही यूटोपिया है और श्री अरविंद ने तो भारत के विभाजन को कभी स्वीकार ही नहीं किया। नामवर जी इस बात से भी हैरान परेशान

हैं कि जिस जमाने में राममोहन राय उपनिषदों की ओर देखने की बात कर रहे थे उसी समय आखिर वेदों की ओर लौटने की प्रेरणा दयानंद को कहाँ से मिली। नामवर जी को बार-बार यही लगता है कि वेदों का पुनरुद्धार तो जर्मन और फ्रांसीसी विद्वानों ने किया और उनकी प्रच्छन्न प्रेरणा से ही दयानंद वेदों की ओर गए। रामविलास जी वेदों के साथ भारतीय परम्परा को भी मूल्यवान मानते हैं और चाहते हैं कि उसकी रक्षा हो, उसी में वह शक्ति है जो भारत की जनता को अवसरानुकूल सकर्मक प्रेरणा से उद्दीप्त कर देती है जिसके कारण ही नवजागरण की लहर उठती है। उन्हें इसी परम्परा ने अवबोधन कराया कि भारत में नवजागरण भी पारम्परिक बोध की तरह आता रहा है और वह पश्चिम के संसर्ग के कारण नहीं विकसित हुआ है। भारत के चौथे और आधुनिककालीन नवजागरण को रामविलास जी ने इसी परम्परा प्रवाह का नया घाट माना है, प्रगतिशीलता और आधुनिकता उसका अपना स्वभाव है। वह उधार की बुद्धि से नहीं पैदा हुआ है और न ही उसे ले आने में अंग्रेजों की कोई भूमिका ही है। वह एक प्रकार से अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए उत्पन्न हुआ विक्षोभ है जो 1857 के विद्रोह में भी दिखायी देता है। यह जनशक्ति का सैलाब है जिसके सामने सबको नतमस्तक होना पड़ता है। हिंदी जाति की संकल्पना में भी रामविलास जी जनशक्ति या उसकी स्वाभाविक जागरूकता की परम्परा की चर्चा करते हैं।

नामवर जी को यह अहसास है कि परम्परा मृत नहीं होती। वह अन्ततः रक्षणीय होती है। परम्परा से संवाद करने के लिए उसका शुल्क चुकाना पड़ता है जिसमें ऋणशोध और ज्ञप्ति महत्त्वपूर्ण हैं। वे लेख के अंत में कहते दिखायी देते हैं कि परम्परा शव नहीं होती। नामवर जी यह भी कहते हैं कि आचार्य द्विवेदी अपने 'शवसाधना' वाले लेख में यह दोहराते हैं कि वह साधक तो थे किंतु प्रलोभनों ने उन्हें नष्ट कर दिया। लेकिन वे इतिहास को शव नहीं मानते, वह जिंदारूख है, शव नहीं। आशय यह कि लेख के अंत में आते-आते उनका विचार बदल जाता है। वह इस लेख के अंत में, बिल्कुल अंत में आकर कहते हैं-

'इतिहास की शव साधना मेरे लिए एक आत्म समीक्षा भी है क्योंकि राहुल जी और द्विवेदी जी की ही तरह रामविलास जी भी मेरे अन्दर जीवन्त और जागृत हैं। यह आत्म समीक्षा आत्म-संघर्ष भी है जिसे कुछ लेखकों ने अपने ''अन्दर का दानव'' कहा था।'

रामविलास जी पूर्वज हैं, ऋषि हैं। रामविलास जी ने ज्ञान परम्परा का जो नया

उत्खनन किया है उससे नामवर जी के अन्तर्विरोध अधिक उत्कट होकर सामने आ गए हैं। दरअसल, नामवर जी अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता और उसके जड़ आग्रहों के कारण ही रामविलास जी की ऋग्वेदोन्मुखता को शव साधना कह रहे हैं जबकि प्रकारान्तर से इसे ठीक से समझते हैं कि रामविलास जी ने अपनी सत्यानुसंधान वृत्ति के ऋषित्व से परम्परा का गहरा परिष्कार कर दिया है। उन्हें दुख इस बात का है कि रामविलास जी उनके गुरु और आचार्य के कटु आलोचक रहे जबकि परम्परा के प्रवाह से जुड़कर शोध करने को हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक भिन्न अर्थ में इतिहास की शवसाधना ही कहा था। राहुल जी ने भी इतिहास की शवसाधना की थी। यह पद वामपंथी अघोरसाधना का पद है। यह एक अत्यंत कठिन साधना है, खतरनाक भी। इस प्रक्रिया में अघोरी साधक शव पर बैठ कर साधना करता हुआ अपनी साधना के बल से शव को चैतन्य कर देता है। तब उसका मुँह उलट कर सीधा हो जाता है और वह भविष्यवक्ता हो जाता है। इतिहास की साधना भी शवसाधना की तरह खतरनाक है। यदि अनाड़ी के हाथ में मंत्र आ जाए और कदाचित् वह इतिहास का मुखापेक्ष हो जाए तो खतरे पैदा हो सकते हैं। तब शव ही बचेगा साधक नहीं। रामविलास जी ऋग्वेद के माध्यम से इतिहास की यदि शवसाधना कर रहे थे तो मानना होगा कि उन्होंने शव का मुख उलट दिया है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा, इतिहास, सभ्यता और संस्कृति को लेकर एक अतिशय महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना को वह सचेत ढंग से रखते हैं जिस पर सम्पूर्ण भारतीय इतिहास पर रोशनी पड़ती है— आर्य भारत में कहीं से आए नहीं थे, बल्कि यहीं से यूरोप की ओर या अन्य देशों की ओर गए थे। जयशंकर प्रसाद ने कहा था–

कहीं से हम आए थे नहीं, हमारा रहा पालना यहीं।

यह इंडोलोजी के हिसाब से भी केंद्रीय बात है। यदि यह इतिहास की शवसाधना से निकला है तो रामविलास जी भारत विद्या के महासाधक सिद्ध होते हैं।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की नवमीमांसा : रामविलास शर्मा के सन्दर्भ में

डॉ. प्रवीण पण्ड्या

सौन्दर्यशास्त्र को भारतीय विशेषण देने पर यह जानना जरूरी है कि एक प्रस्थान के रूप में सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन पाश्चात्य देन है। चित्र, मूर्तित, वास्तु-स्थापत्य, गीत, वाद्य, नृत्य एवं काव्य को उसमें कला कहा गया है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में कला, शिल्प एवं काव्य स्वतन्त्र हैं। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला' निबन्ध में इस विवेक पर बहुत जोर दिया है। प्रसाद ने तो एक अन्य अन्तर बताया है कि पश्चिम का सौन्दर्यबोध क्रमबद्ध विकास को प्राप्त इकहरा सौन्दर्यबोध है, जबकि भारतीय रंगस्थल पर तो न जाने कितनी संस्कृतियाँ अवतीर्ण और लुप्त हुई हैं, अत: संश्लिष्ट व विविधमुख है।

पश्चिमी भूमि पर सौन्दर्यशास्त्र का अर्थ कलाओं का शास्त्र है और उनमें संगीत सबसे ऊँची कला है। काव्य भी कला है और उसकी महत्ता का आधार उसमें संगीत का होना है। भारत का सौन्दर्यबोध और सौन्दर्यशास्त्र तब एक अलग आकार लेता है, जब वह, प्रसाद जी के प्रामाण्य से, काव्य को विद्या और कला को उपविद्या मानता है। प्रसाद लिखते हैं :

'...सम्भव है कि इसी अमूर्त सम्बन्धिनी महत्ता से प्रेरित हो कर प्लेटो ने प्राचीन काल में कविता को संगीत के अन्तर्गत माना हो। उनकी विचारपद्धति में कविता की आवश्यकता संगीत के लिए है। सम्भवत: अमूर्त संगीत आभ्यन्तर और मूर्त शरीर बाह्य, इन्हीं दोनों आधारों पर कला की नींव ग्रीक दार्शनिकों ने रक्खी, सो भी बिलकुल भौतिक दृष्टि से-अध्यात्म का उसमें सम्पर्क नहीं। इसी लिए प्लेटो का शिष्य अरस्तू कला को अनुकरण मानता है। लोकोत्तर आनन्द की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रक्खा

गया।' (काव्य और कला)

लोकोत्तर आनन्द पश्चिमी चिन्तन में दर्शन का विषय है, काव्य एवं कला का नहीं। वहाँ कला और उसके एक विभेद रूप काव्य की सार्थकता देह और मन की तृप्ति है, जबकि यहाँ के सौन्दर्यशास्त्र के काव्य के विषय में तो यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि उसका अन्तिम छोर लोकोत्तर आनन्द या परम सत्य की उपलब्धि है। भारतीय सौन्दर्य चिन्तन में कवि ऋषि है, जबकि किसी कवि को पश्चिम ऋषि नहीं मान सकता। प्लेटो (ईसा पूर्व 428 से 348) के अनुसार संगीत एवं लय ही काव्य के प्रभावी तत्त्व हैं, वे ही उसका सौन्दर्य हैं। निस्संदेह, प्लेटो के शिष्य अरस्तू काव्य को तीसरे पायदान का अनुकरण नहीं मानकर प्रकृति का अनुकरण मानते हैं और उसे कवि की चेतना (अन्त:करण) से संवलित होकर प्रकट होने से पुनरुत्पादन कहते हैं, काव्य के प्रभाव को अमंगलकारी कहने वाले प्लेटो के चिन्तन के सामने विरेचन का सिद्धान्त प्रस्तुत कर उसके शिवत्व की घोषणा करते हैं किन्तु वह काव्य को अनुकरणमूला कला मानते ही हैं। अरस्तू के काव्यगौरव की यह सीमा है। अरस्तू अपने गुरु प्लेटो के उस आधारभूत दृष्टिकोण से दूर नहीं जा सके हैं, जिसके अनुसार काव्य को संगीत के लिए उपादेय माना है। प्लेटो प्रत्ययवादी और अरस्तू द्रव्यवादी होते हुए भी समान रूप से ग्रीक की आध्यात्मिक विभूतियाँ हैं। यह पड़ताल की जानी चाहिए कि ग्रीक का यह अध्यात्म पदार्थवादी डेमोक्रेटिस के अनुकरण का आधार लेकर विचार क्यों करता है और क्यों वह सामाजिक मूल्यों (नैतिकता) से आगे नहीं बढ़ सका। उपयोगिता के आधार पर काव्य, शिल्प, संगीत की विवेचना का सौन्दर्यशास्त्र रचने की क्या परिणतियाँ हुईं और काव्य को विद्या व कला को उपविद्या मानने के क्या निहितार्थ हैं, इस पर बहस की गुंजाइश है।

प्लेटो, अरस्तू आदि अनुकरण के मानदण्ड पर काव्य और अन्य कलाओं का मूल्य (उपयोगिता) निर्धारित करते हैं। पश्चिम की पूरी परम्परा में यह मान्य मानदण्ड है। इसे वहाँ दो महान दार्शनिकों काण्ट एवं हीगल ने चुनौती दी। हीगेल ने बहुत गहन विचार करते हुए कला (और काव्य) को दर्शन के समकक्ष स्थान दिया। वह कला के मूल्य (उपयोगिता) के निर्धारण कर उसे सीमित कर देने, उसके विस्तार को थोड़ा करके आँकने का विरोधी है। डॉ. मथुरेश नंदन कुलश्रेष्ठ ने अपनी पुस्तक 'अनुकरण सिद्धान्त और काव्य' में हीगेल की मान्यता को इन शब्दों

में अंकित किया है : 'कला का महत्तम तथा अन्तिम लक्ष्य दर्शक या पाठक की चेतना में मानवता के गंभीरतम प्रश्नों और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को जाग्रत करना है' (पृ.113)

हीगल के बाद कॉलरिज आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विचारक अनुकरण को सौन्दर्यशास्त्र के मानदण्ड के रूप में खारिज करते हैं, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि व उपयोगितावाद सम्भवत: पश्चिमी जीवन का केन्द्र है। फलत:, बीसवीं शताब्दी में उसका सौन्दर्य विचार पुन: अनुकरण पर टिक गया। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र से मौलिक अन्तर यह है कि उसके समस्त विचार का केन्द्र प्रतिभा है, जबकि पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र की नाभि अनुकरण है। एक मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना के साथ कला और काव्य को देखता है तो दूसरे के लिए वह स्थान केवल दर्शन (बुद्धि) के लिए सुरक्षित है। काव्य व अन्य कलाएँ पश्चिम के लिए मुक्ति का नहीं, भुक्ति का साधन हैं। प्रगतिवाद और अस्तित्ववाद बीसवीं सदी में पाश्चात्य भुक्तिमय मानस के दो नए पक्ष उभरते हैं। यहाँ तक की यात्रा में वहाँ अनुकरण काव्य व कला का मुख्य निकषोपल है। संरचनावाद और उत्तर संरचनावाद इस परम्परा की पराकाष्ठा है कि अन्तत: काव्य व कलाओं की मृत्यु घोषित की जाती है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में काव्य एवं कला की मृत्यु की कल्पना नहीं की जा सकती, यद्यपि वह अन्त:करण की सीमा में आबद्ध व्यक्ति के विसर्जन, विसर्ग की बात भी करता है। विसर्ग शब्द सर्ग के बिना और विसर्जन शब्द सर्जन के बिना अस्तित्व में नहीं आता है। लोप और लय प्राकट्य की अपेक्षा से प्रयुक्त हैं। मृत्यु को मृत्युमात्र नहीं माना जाए, अपितु यात्रा के पड़ाव मानकर उसकी चपेट में आए व्यक्ति को प्रेत (प्रकृष्ट वाचक प्र और गति वाचक इ से प्रेत शब्द बनता है।) कहकर गति प्रदान की जाए, वहाँ जीवन को देखने की दृष्टि, उसके सौन्दर्य को बूझने की सूझ तात्कालिक माँग से जुड़ी एतत्कालीन उपयोगिता की अपेक्षा त्रैकालिक प्रतिभा से जुड़ती है तो वह उसकी स्वाभाविक परिणति है।

भारतीय सौन्दर्यदृष्टि में न तो काव्य कला है और न कला पश्चिमी तात्पर्य का अनुकरण है। नवीन वैचारिक फलक पर भारतीय सौन्दर्यदृष्टि को प्रतिपादित करने की दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और महाकवि जयशंकर प्रसाद दोनों को एक साथ देखना होगा। प्रसाद जी का संक्षिप्त कलेवर निबन्ध 'काव्य और कला' भारतीय सौन्दर्यदृष्टि का एक तरह से ब्रह्मसूत्र है। प्लेटो, अरस्तू आदि यूनानी

विचारक की मूल दृष्टि एवं उस पर विकसित समग्र पश्चिमी कलासमीक्षा परम्परा के साथ अन्यत्र दुर्लभ, सूक्ष्म टकराहट प्रसाद जी के आलेख में है।

पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र के मूल में जहाँ दर्शन (शास्त्र) को लोकोत्तर आनन्द (सत्य) के साक्षात्कार का स्रोत मानते हुए काव्य को तदर्थ अयोग्य माना गया है, वहीं जयशंकर प्रसाद भारतीय सौन्दर्य दृष्टि का प्रस्ताव करते हुए शास्त्र को काव्य के सामने अकिञ्चित्कर बताते हैं। भारतीय सौन्दर्य दृष्टि में कवि ऋषि हैं। दार्शनिक ऋषि से एक कदम पीछे होता है। भारतीय सौन्दर्य चिन्तन की यह स्थापना उसे एक भिन्न स्तर पर ले जाती है। आनन्दवाद और दु:खवाद सत्य के दो पक्ष हैं, कोई भी एकांगी रूप में सत्य नहीं हो सकता। दोनों को सत्य (पूर्ण) होने के लिए दूसरे की अनुपपत्ति नहीं, अपितु उपपत्ति दिखानी होगी। विषयान्तर होने के बावजूद रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं महात्मा गाँधी के बीच असहयोग आन्दोलन को लेकर मतभेद एवं उस सन्दर्भ में मोक्ष एवं निर्वाण के स्वरूप पर चिन्तन को यहाँ उद्धृत करना पूर्वोक्त वाक्य को समझने में उपयोगी होगा। असहयोग आन्दोलन की आलोचना करते हुए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने उसे बौद्धों के निर्वाण के समान जीवन के प्रति अभावात्मक, खण्डनात्मक दृष्टि बताया है :

'मुक्ति हमारा ध्यान सत्य के मण्डनात्मक पक्ष की ओर और निर्वाण उसके खण्डनात्मक पक्ष की ओर खींचता है। इसलिए बुद्ध ने इस बात पर जोर दिया कि संसार दु:खमय है और उससे छुटकारा पाना हमारा धर्म है, और ब्रह्मविद्या ने इस बात पर जोर दिया कि संसार आनन्दमय है और उस आनन्द को प्राप्त करना हमारा परम कर्तव्य है।' (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड बीस, पृ.163)

गुरुदेव यहाँ सत्य के अनुसन्धान स्तर पर भारत की दोनों दृष्टियों की एकता को देख रहे हैं, किन्तु प्रतिपादन के स्तर पर दोनों की भिन्नता को रेखांकित करते हैं। बापू का प्रत्युत्तर था :

'मैं साहस के साथ यह भी कह सकता हूँ कि जिस हद तक निर्वाण अभावात्मक दशा है, उसी हद तक मुक्ति भी अभाव की सूचक अवस्था है। शरीर के बन्धन से छुटकारा पाना या उस बन्धन का बिलकुल नाश कर देना आनन्द प्राप्त करना है। मैं अपनी दलील के इस हिस्से को खत्म करते हुए इस बात की ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ कि उपनिषदों के रचयिताओं ने ब्रह्म का सबसे अच्छा वर्णन 'नेति नेति' कहकर किया है।'(सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड बीस, पृ.163)

यह विषयान्तर है कि इसमें काव्य या कला का विचार नहीं है। इसकी प्रासंगिकता यह है कि भारतीय सौन्दर्यदृष्टि सत्य के इन दोनों पहलुओं को लेकर चलती है। पतन केवल राजनैतिक नहीं होता है, वह तो जीवन के अंश-अंश में व्याप्त होता है। पतन के समय में अनेक एकांगी विचारों को मनुष्य अपनी पतनोन्मुखता की ढाल बना देता है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की नयी व्याख्या का तात्पर्य उसे उसकी सम्पूर्णता में देखना, ग्रहण करना है। रामविलास जी अपने अग्रजन्माओं आचार्य शुक्ल एवं महाकवि प्रसाद के पथ पर जाकर अपने आपको इसी में खपा देते हैं।

जयशंकर प्रसाद ने सत्य के दो पक्ष श्रेय एवं प्रेय बताए हैं- 'शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामञ्जस्य होता है।'

प्रसाद काव्य को उपयोगिता के आधार पर तोलने की पश्चिमी दृष्टि के सामने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का पक्ष जिस स्पष्ट विवेक के साथ रखते हैं, वह उनकी प्राच्य-पाश्चात्य सौन्दर्य दृष्टियों का गहन बोध है -

'शास्त्र मानव समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है, क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है।'

प्लेटो ने महाकवि होमर के काव्य की जो आलोचना की है और जिस तरह काव्य एवं कला को कठघरे में खड़ा किया है, उसके आधार-मानदण्ड उपयोगिता को प्रसाद जी ने सीमा बता दिया है। भारतीय सौन्दर्यदृष्टि में काव्य और कला उपयोग पर कसने योग्य जड़ अनुकरण नहीं, अपितु मनोमय, वाङ्मय, प्राणमय आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील स्पन्दमयी प्रतिभा है।

प्रसाद ने भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की एक अन्य मौलिकता को रेखांकित किया है कि 'काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तुएँ हैं।' संगीत (गीत, नृत्य, वाद्य) एवं शिल्प (मूर्तित, वास्तु) कलाएँ हैं। फलतः, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र काव्य को कला का कोई एक भेद मानकर लय व संगीत के आधार पर उसके सौन्दर्य की समीक्षा नहीं करता है। काव्य में प्रतिभा अप्रतिहत विचरण करती है, जबकि कला

में वह सीमित हो जाती है। काव्य की संरचना को प्रसाद जी ने कला माना है। प्रसाद जी के अनुसार 'व्यञ्जना (अभिव्यक्ति, संरचना) वस्तुत: अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है, क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही।' यहाँ प्रसाद भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की परमार्थ में अद्वैत, अखण्डता की दृष्टि आविष्कृत करते हैं। प्रसाद भारतीय सौन्दर्यशास्त्र को अनुभूतिप्रधान मानते हैं। कला की समीक्षा का मानदण्ड यह है कि वह अनुभूति से कितनी जुड़ी हुई है। काव्य तो 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' है ही। प्रसाद कहते हैं-

'आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

आत्मा मनोमय, वाङ्मय, प्राणमय होने से उसमें तीन शक्तियाँ हैं :

'अयमात्मा वाङ्मय:, मनोमय: प्राणमय:(बृहदारण्यक)। उपविज्ञात प्राण, विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है। इसी लिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक्शक्ति और इनके सामञ्जस्य को स्थिर करने वाली सजीवता अविज्ञात प्राणशक्ति ये तीनों आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं।'

मनन, निर्वचन एवं इन दोनों के सामञ्जस्य की प्रतिष्ठापक सजीवता अनुकरण नहीं, प्रतिभा है। इनमें सामञ्जस्य की प्रतिष्ठापक प्राणशक्ति अविज्ञात है। अनुकरण प्लेटो-अरस्तू के उपयोगितावाद का मानदण्ड है और वह पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के समस्त विचारवादों में अनुस्यूत है। उपयोगितावाद के विरोध में खड़े होने वाले क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में भी प्रतिभा की अपेक्षा अनुकरण ही प्रभावी है कि वह अनुभूति को अपेक्षित महिमा में प्रतिष्ठित नहीं कर सके हैं। हीगल अवश्य काव्य व कला को अनुकरण से सर्वथा भिन्न दृष्टि से देखते हैं।

वाक् शब्द का अर्थ प्रसाद ने वाणी किया है और वाणी को विज्ञात बताया है। वाक् या वाणी वास्तव में समस्त विज्ञात या दृश्यमान या स्थूल पदार्थों के लिए वेद में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के तौर पर व्यक्ति का शरीर (वाक्) स्थूल है, उसका प्राण स्थूल-सूक्ष्म है एवं उसका मन सूक्ष्म है। भारतीय सौन्दर्यदृष्टि या सांस्कृतिक दृष्टि वाक् से मन तक की यात्रा है, वह केवल मनोमयी नहीं है। यह किसी सोपान से जब आगे बढ़ती है तो उस सोपान को लिए हुए आगे जाती है।

वैदिक शब्दावली में साम (विस्तार) ऋक् (स्थूल) से आरब्ध होकर यजु: (प्राण या गति) को लेते हुए अपनी पराकाष्ठा के विस्तार साम (सूक्ष्म) तक पहुँचता है। संसार की यात्रा यहीं तक है। उसके आगे अथर्व (जिसे सूक्ष्मतम कह सकते हैं, किन्तु वह किसी अपेक्षा से परे होने से अवाच्य) है।

सौन्दर्यशास्त्र मूलत: मनुष्य की वह दृष्टि है, जिससे वह वस्तुओं को पहचानता है एवं उसके माध्यम से स्वयं को प्रकट करता है। भारतीय मनीषा ने मनुष्य को दो धरातलों पर देखा है : एक, परमार्थ के स्तर पर वह चेतना है। दो, व्यावहारिक स्तर पर उसका अन्त:करण उसका अपना स्वरूप है। अन्त:करण के स्तर पर मनुष्य का जो स्वरूप बनता है, उसे वह अपने देश-काल से अर्जित करता है। सौन्दर्य की अवधारणा करते समय भारतीय मनीषा की एक अनिवार्य परिणति को ध्यान में रखना होगा कि वह अन्त:करण के स्वरूप को पहचानने के बाद उसके विसर्जन पर बल देती है। अतएव उसके किसी भी प्रस्थान का परिपाक निर्वाण या मोक्ष है। निर्वाण या मोक्ष सत्य है। वह सत्य अन्त:करणों की सीमाओं में नहीं है। भारत की सौन्दर्य दृष्टि का परम अवस्थान, पराकाष्ठा, अन्तिम छोर आत्मदर्शन रूप सत्य की प्राप्ति है।

आत्मदर्शन रूप सत्य की प्राप्ति भारत का ब्रह्म है और उपयोगिता, भौतिकता क्षत्र है। भारत का इतिहास, दर्शन एवं स्वयं जीवन्त समाज ब्रह्म एवं क्षत्र के द्वन्द्व इतिहास, दर्शन एवं समाज है। पश्चिम ने इसे अपने मानदण्डों पर जिस तरह रखा, वह उसकी ब्रह्मविमुखता (आत्मबोध वैमुख्य) एवं सर्वथा पतित हो चुके क्षत्रत्व का प्रमाण है। ब्रह्म में कोई गति नहीं है। स्थिति एवं गति की परिभाषाएँ क्षत्र में बनती है। भारत न ब्रह्म से विमुख है और न वह क्षत्रमात्र में उन्मुख। क्षत्र के बिना ब्रह्म मिथ्याचार और ब्रह्म के बिना क्षत्र अत्याचार है। वाजसनेयी माध्यन्दिनी शुक्ल यजुर्वेद में एक ऋचा है :

यत्र ब्रह्म क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरत: सह।

तल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा: सहाग्निना।। (अध्याय 20, कण्डिका,25)

क्षत्रत्व को ऊर्ध्वमुखी बनाकर ब्रह्म के साथ उसके संवाद रचना यहाँ के जीवन, काव्य एवं कला—तीनों का अभीष्ट है। डॉ. रामविलास शर्मा भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की नव मीमांसा इस रूप में करते हैं कि वह अपने समग्र काव्यालोचन में ऊर्ध्वमुखी क्षत्र दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं। वह तुलसी के आध्यात्मिक व

दार्शनिक नहीं, अपितु सामाजिक मूल्यों को खोजते हैं। इस वाक्य का अर्थ यह नहीं किया जाए कि तुलसी के कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक मूल्य नहीं हैं या उन्हें डॉ. शर्मा देख नहीं सके हैं। बीसवीं शताब्दी के भारत के शक्तिकेन्द्र अद्वैती स्वामी विवेकानन्द ने भारत की भूखी-नंगी जनता की पीड़ा को जिन स्पष्ट शब्दों में कह रहे थे, वे कोई क्षीणबल शब्द नहीं थे। उसी समय तिलक गीता में कर्मठता खोज रहे थे। गाँधी तो कर्म व ब्रह्म दोनों का एक अधिष्ठान थे। मुक्ति की खोज की जा रही थी। एक सुदीर्घ दासता और अन्धकार, भारत स्वयं को लेकर अनिश्चित था कि वह क्या है अथवा उसे क्या होना है। क्या उसे मीरा, तुलसी, कबीर के पद गाना है और किसी भगवान की प्रतीक्षा करनी है अथवा अपने (स्वयं व स्वदेश) को दुर्दशा से उबारना है। इस समय एक पूरी परम्परा राजनीति, धर्म, शिक्षा, समाज, कला एवं साहित्य में प्रकट होती है, जो बताती है कि उसकी श्रद्धा के पात्र मीरा, तुलसी और कबीर के पद इकहरे न होकर इह (देह एवं तत्सम्बद्ध सम्पत्ति) और पर (देह एवं तत्सम्बद्ध सम्पत्ति से परे स्थित) लोक (जीवन दृष्टि) के अनुपम सामञ्जस्य, सामरस्य के साधक हैं। डॉ. रामविलास शर्मा उसी महापरम्परा के प्रबल नक्षत्र हैं। डॉ. रामविलास शर्मा की मार्क्सवादी समझ सूक्ष्म एवं जीवन्त थी। वे न केवल भारतीय परम्पराओं एवं साहित्य को मार्क्सवादी आधारों पर परखते थे, अपितु मार्क्सवाद को उनके आलोक में देखने का यत्न भी करते थे। डॉ. रामविलास शर्मा का लेखन उनके अपने जीवन की भारतीयता और मार्क्सवाद की पाश्चात्यता के बीच का संवाद है। यह उनका सामर्थ्य है कि तुलसी जैसे आध्यात्मिक महाकवि को भौतिकवादी न्याय और उसके सामाजिक मूल्यों का प्रवक्ता घोषित करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा के सामने मार्क्सवादी सौन्दर्यसिद्धान्त प्रगतिवाद के अलावा दो महत्त्वपूर्ण चिन्तक थे- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं महाकवि जयशंकर प्रसाद। डॉ. रामविलास शर्मा इन दोनों को अपनी प्रगतिवादी चेतना की सीमा तक ग्रहण करते हैं और उनकी दृष्टियों का उसके भीतर विकास एवं व्याख्या करते हैं। डॉ. शर्मा को कोई भ्रम नहीं है कि आचार्य शुक्ल साम्यवाद समेत किसी पश्चिमी सौन्दर्य सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं। उन्हें यह भी ज्ञात है कि प्रसाद की प्रेरणा के स्रोत आर्य संस्कृति एवं वैदिक व शैवागमिक दृष्टि है।

डॉ. शर्मा अपने समय में दो जड़ताओं से जूझ रहे थे-एक थी भारतीयता की एकांगी व्याख्या से उत्पन्न जड़ता एवं दूसरी थी फार्मूला-बद्ध मार्क्सवाद की

जड़ता। इन दोनों के विश्लेषण के साथ वह भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की नयी मीमांसा कर रहे थे। विश्व की मूर्तता का अपलाप करके और मूर्त विश्व की ओर आँखें मूँद कर भारतीयता की जो सौन्दर्य परिभाषा गढ़ी जा रही थी, डॉ. शर्मा ने उसका सार्थक प्रतिवाद किया है।

भारतीय सौन्दर्यसिद्धान्त के एक सर्वमान्य प्रतिपादक महाकवि प्रसाद की समालोचना में डॉ. रामविलास शर्मा तीन बातें स्पष्ट करते हैं। एक, प्रगतिवादी सौन्दर्यदृष्टि चेतना को अस्वीकार नहीं करती है। दो, प्रगतिवादियों की चेतना 'भूत या पदार्थ का गुण' है। तीन, भारतीय दृष्टि की चेतना पदार्थ का गुण नहीं है- 'प्रसाद जी भौतिक जगत् को सत्य मानते हैं लेकिन उनके लिए चेतना भूत या पदार्थ का ही एक गुण नहीं है जैसे कि वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों के लिए है।' (परम्परा का मूल्यांकन, पृ.137)

डॉ. रामविलास शर्मा के अधिकतर निबन्ध भारतीय सौन्दर्य दृष्टि में मूर्त व भौतिक जगती के अबहिष्कार को प्रतिपादित करने के लिए हैं। 'परम्परा का मूल्यांकन' में उन्होंने सबसे पहले किसी सर्जक को विचार का विषय बनाया है तो वह नाटककार भवभूति हैं। यूनानी नाटककारों के नाटकों में देवसापेक्ष न्याय व्यवस्था होती है। रामविलास जी लिखते हैं-

'यूनानी नाटकों का मूल सूत्र है न्याय व्यवस्था और मानव का संघर्ष। न्याय व्यवस्था देवताओं के हाथ में है। उससे टकराता है सीमित शक्तिवाला मनुष्य। संघर्ष देखकर दर्शक के मन में उत्पन्न होती है अगाध करुणा। देवताओं की व्यवस्था का उल्लंघन करने से पीड़ित होता है देवताओं के लिए अग्नि लाने वाला प्रोमीथिउस। इदीपुस के जन्म से पहले देवताओं ने व्यवस्था कर दी है कि वह पिता की हत्या करेगा, माता से सन्तान उत्पन्न करेगा, दर-दर की ठोकरें खायेगा। कुछ नाटककारों के लिए यह व्यवस्था न्यायपूर्ण है, कष्ट पाने पर भी उसे स्वीकार करना होगा। कुछ अन्य—विशेषत: यूरीपिदीस के लिए-वह अन्यायपूर्ण है और अस्वीकार के योग्य है। दोनों ही स्थितियों में सामान्य बात यह है कि व्यवस्था के लिए उत्तरदायी हैं देवता, न कि मनुष्य।' (परम्परा का मूल्यांकन, पृ.30-31)

यह यूनानी साहित्य यूरोप की ऐतिहासिक विरासत है। शेक्सपीयर की महत्ता यह है कि 'व्यवस्था मूलत: मानवकृत है, अपने कर्म एवं दु:ख के लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है, वह जिस व्यवस्था से टकराता है, वह देव-निरपेक्ष है।'

(परम्परा का मूल्यांकन, पृ.30-31)

डॉ. रामविलास शर्मा का प्रतिपादन है कि महाकवि भवभूति (8 वीं शताब्दी) ने शेक्सपीयर(1564-1616) से पहले मनुष्य और मनुष्य कृत व्यवस्था की टकराहट को चित्रित किया। जिस नियतिवाद से यूरोपीय साहित्य सर्वप्रथम शेक्सपीयर के द्वारा सोहलवीं सदी में चुनौती देता है, वह नियतिवाद भारतीय साहित्य में तो कभी मुख्यता को प्राप्त नहीं कर सका है। अन्यायपूर्ण व्यवस्था को नियति मानकर स्वीकारना भारत की सौन्दर्य दृष्टि नहीं है। डॉ. शर्मा लिखते हैं-

'कुछ लोग प्राचीन परम्परा के नाम पर जनता को गुमराह करते हैं, वे निष्क्रियता और भाग्यवाद की भावनाओं को ही सच्ची परम्परा कहकर उन्हें पूजते-पुजवाते हैं। इतिहास के प्रति अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले कुछ लेखक प्रगतिशीलता के नाम पर यही बात दुहराते हैं और दार्शनिक क्षेत्र में सन्त परम्परा के दूसरे पक्ष को छोड़ देते हैं, जहाँ लोक-जीवन और लौकिक जीवन की स्वीकृति है।' (परम्परा का मूल्यांकन, पृ.48-49)

भारतीय सौन्दर्य दृष्टि की गलत पहचान एवं उसके गलत मूल्यांकन को डॉ. शर्मा चुनौती देते हुए उसके स्वरूप को पाने के लिए तुलसी, कालिदास एवं भवभूति से होते हुए वेद तक जाते हैं। 'भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास' पुस्तक में रामविलास जी ने कला एवं काव्य समेत पूरे सौन्दर्य पर महत्त्वपूर्ण अध्यवसाय किया है। उसके पहले लेख में वह 'वैदिक कवियों के सौन्दर्य बोध' पर विचार करते हैं। इसमें ऋग्वेद में आभूषण, केश-विन्यास, वस्त्र-सज्जा, मनुष्य और पशु के देह के सौन्दर्य से लेकर इन्द्रियबोध और आनन्द, क्रीड़ा, मैत्री, पारिवारिक जीवन, प्रेम तक की भारतीयों की सौन्दर्य दृष्टि को उदाहृत की है। डॉ. रामविलास शर्मा का प्रतिपाद्य है कि वेद कोई काल्पनिक उड़ान नहीं है। वह जीवन के ठोस धरातल से जुड़ा हुआ है एवं भारतीय का जीवनबोध एवं सौन्दर्यबोध उसीसे आविर्भूत हुआ है। पीसने की क्रिया हिन्दी में प्रचलित है। गेहूँ पीस कर आटा बनाया जाता है। मूलत: यह पिश धातु है, जो किसी को टुकड़ों में बाँटने (पिश अवयवकरण) के अर्थ में है। पीसना या अवयव बनाना एक नयी सृष्टि है।

ओ3म् य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ (10.110.9)
(जिसने विश्व के जनेता द्यावा और पृथिवी को

देव, तिर्यग्गतियों, मनुष्य, पशुओं आदि से,
अवयवों से,
बाँटा, रूप दिया।
हे होता, हमारी प्रार्थना से आज तुम
उस त्वष्टा का यजन करो।)

सृष्टि के बिना रूप या सौन्दर्य या आकार नहीं है। अथवा तो आकार या रूप से सृष्टि है। उन्होंने वैदिक कवियों की सौन्दर्यवाचक क्रियाओं एवं शब्दों की ओर ध्यान खींचा है। पेश, चित्र, चारु, शोभा, श्री आदि सौन्दर्य के वाचक शब्द हैं और पिश, शुभ सौन्दर्यवाचक क्रियाएँ हैं। डॉ. शर्मा ऋग्वेद से अनेक उद्धरण (एक तरह से उनका यह लेख उद्धरणबहुल लेख है) देते हैं कि भारतीय सौन्दर्य दृष्टि को उसके उपलब्ध प्राचीनतम प्रमाण के आलोक में देखते हुए उसका स्व-रूप या आत्म-रूप निर्धारित करना चाहिए। उन्होंने ऋग्वेद के 10 वें मण्डल के 68 वें सूक्त की 11 वीं ऋचा से उद्धरण देते हुए लिखा-'जैसे काले घोड़े को सोने के आभूषणों से सजाते हैं, वैसे ही पितरों ने नक्षत्रों से आकाश को सजाया।' (भारतीय सौंदर्य-बोध और तुलसीदास, पृ.38)

वैदिक कवि को रात का काला आकाश अपने जन-जीवन का काला घोड़ा प्रतीत हुआ और काले आकाश के नक्षत्रों में उसे काले घोड़े पर सजाए स्वर्णाभूषण दिखे हैं। यह दर्शन एवं वर्णन वास्तविक होने से अनुकरण नहीं है, अपितु यह दर्शन एवं वर्णन स्पन्दमयी चेतना (प्रतिभा) के बिना सम्भव नहीं है। दशम मण्डल के उल्लेखित इस एक सूक्त को ही लें तो वह भारतीय सौन्दर्य दृष्टि के स्व-रूप को जानने में वह पर्याप्त होगा। इस सूक्त में पकी फसलों की रखवाली करते किसानों की पक्षियों को उड़ाते हुए आवाजें करने (उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः), पति-पत्नी के घुल-मिल कर एक हो जाने (जने न मित्रो दम्पती अनक्ति), सूदखोर से ब्याज पर बीज, जौ बोने (ऊपे यवमिव स्थविभ्यः), गायों के खुरों से भूमि का आवरण भिद जाने (भूम्या उद्नेव वि त्वचं विभेद), दाँतों से घिरे हुए भोजन, भक्ष्य को जीभ के गटक जाने (दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमादत्), पक्षी के अण्डे को फोड़ बच्चों को बाहर निकालने (आण्डेव भित्त्वा), मज्जा को खुरच कर हड्डी से बाहर निकालने (निर्मज्जानं न पर्वणो जभार), पाला पड़ने (हिमेव पर्णा मुषिता वनानि) आदि हमारे जन-जीवन की

क्रियाएँ हैं। वेद की सौन्दर्यदृष्टि जन-जीवन या इहलोक के सहित अध्यात्म का अनुसन्धान है। पितर (पालक देवता) जब आकाश को सजाते हैं तो यह उनकी उत्सवप्रियता है। वैदिक ऋषि-कवि को वह घोड़े को सजाना लगा। जिस घोड़े का जीवन में साथ है, उसे सँवारने में वह सजग है। यह सजावट द्युलोक एवं इहलोक में सृष्टि करना है। आकाश जब नीरूप है, तब वहाँ केवल अन्धकार (असृष्टि) है, निराकारता है। जब उसे आकार या रूप दिया जाता है तो वहाँ सर्जन होता है। यह सर्जन निराकार का साकार होना, अरूप का रूप को पाना है। यह सब द्वन्द्व, द्वैत, सखण्ड (काले घोड़े व स्वर्णाभूषण, काले आकाश एवं जगमगाते नक्षत्रों) में घटित होता है। द्वन्द्व, द्वैत, सखण्ड अद्वन्द्व-अद्वैत-अखण्ड का निषेध नहीं, प्रतिपादन है। यह द्वन्द्व, द्वैत, सखण्ड हमारा लोकजीवन या व्यावहारिक जगत् है। वैदिक कवि पूर्णदृष्टि को जीता है। उसके लिए लोकजीवन साकार सत्य है। वह उसकी कविता है। कवि उसका स्पन्दमयी चेतना के धरातल पर दर्शन एवं वर्णन करते हैं।

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ शस्त्रों (सामवेद की स्तुतियाँ जैसे स्तोत्र कहलाती हैं, वैसे ही ऋग्वेद की स्तुतियाँ शास्त्र कहलाती हैं) को शिल्प शास्त्र कहा गया है। नाभानेदिष्ठ, वालखिल्य आदि ऋषियों द्वारा दृष्ट एवं उन्हीं के नामों वाले शिल्प शास्त्र जीव के निर्माण की पूरी प्रक्रिया बताते हैं। निर्माण एक सामुदायिक कर्म है, अतः वह कृति नहीं, संस्कृति है। सम् उपसर्ग अनेक के एक होने का अर्थ है। यहाँ जो आत्मसंस्कृति बनती है, उसमें नाभानेदिष्ठ (अनिरुक्त, अव्याकृत मूल तत्त्व), वालखिल्य (प्राण), वृषाकपि (देह), एवयामारुत (खाद्यान्न) आदि का सर्ग है। वैदिक सौन्दर्य दृष्टि भारतीय संस्कृति एवं भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का मुख्याधार है, इस ओर डॉ. रामविलास शर्मा सचेत हैं, यद्यपि वह उसे अपनी सीमाओं में उसे ग्रहण करते हैं। ऐसा करते हुए भी वह भारतीय सौन्दर्यदृष्टि के सर्वाङ्ग, समग्र चिन्तन की दिशा में अनुपम योगदान करते हैं।

यूरोपीय नवजागरण के भारतीय स्त्रोत

डॉ. ऋषिकेश राय

नवजागरण के कुछ सामान्य मूल्यों और प्रवृत्तियों के आधार पर इसे इतिहास के कालक्रमिक विकास सोपानों एवं भूगोल में प्राय: वैश्विक परिव्याप्ति में चिन्हित किया जा सकता है। इसके ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सूचकों में देश एवं कालगत प्रभेद रेखांकित किए जा सकते हैं। हर देश एवं जाति एक निर्दिष्ट कालखंड में नवजागरण की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशिष्टताओं का साक्षात्कार करती है। इसका समग्र एवं समेकित रूप वैश्विक नवजागरण का स्वरूप निर्धारण करता है। दूसरे अर्थों में यह दुनिया भर के देशों के नवजागरण सूचकांकों का महत्तम समापवर्तक कहा जा सकता है। हर देश का अपना नवजागरण होता है तथा उसके मूल्यांकन का अपना परिप्रेक्ष्य भी। यद्यपि इसके सामाजिक प्रभावों एवं प्रकृतिगत विशेषताओं को लेकर विमर्शकारों में मतभेद स्वाभाविक हैं। ये मतांतर नवजागरण के सामाजिक स्त्रोत उसकी प्रेरणाओं और संचालक शूक्ति को लेकर होते हैं। इनकी प्रतिरोधक एवं संघर्ष ताकतों की पहचान भी इनका जरूरी हिस्सा हैं। नवजागरण के फलस्वरूप रूपांतरित सामाजिक व्यवस्था एवं विकसित सांस्कृतिक शक्तियों का परम्परा के परिप्रेक्ष्य में स्थान निर्धारण इससे सम्बद्ध ज्ञानमीमांसा का अनिवार्य हिस्सा है।

नवजागरण की चर्चा के क्रम में इटालियन 'चिन्क्वेचेन्टो' का प्राथमिक संदर्भ के रूप में उल्लेख इस परिघटना की व्याख्या में यूरोकेन्द्रिक दृष्टि के अतिरिक्त महत्त्व की सूचक है। यूरोप से अलग एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका (यह नाम भी फ्रांस का दिया हुआ है) के युगांतरों एवं वैचारिक भौतिक परिप्रेक्ष्यों तथा उपलब्धियों के न्यूनीकृत मूल्यांकनों के कारण भी नवजागरण शब्द की परिव्याप्ति सीमित अर्थों तक ही सिमटने को अभिशप्त हो गई है। एक निर्दिष्ट राजनीतिक

आर्थिक परिस्थितियों से अभिप्रेरित वैचारिक, भौतिक एवं सांस्कृतिक नवोन्मेष जो क्लासिक कृतियों के अध्ययन से उदबुद्ध है, नवजागरण का प्रधान लक्षण है। जैकोब बोकार्द के अनुसार इटली वासियों ने लैटिन तथा ग्रीक शास्त्रीय कृतियों के अध्ययन से अपने को मध्य युगीन जड़ताओं एवं प्रतिबंधात्मक अवरोधों से मुक्त कर अन्य यूरोपवासियों को भी इसके लिए प्रेरित किया। इटलीवासी इस श्रेय के अधिकारी हैं कि वे मध्ययुगीनता का अतिक्रमण कर रेनेसां के युग में प्रवेश कर गए जिससे आधुनिक मानवीय सभ्यता का जन्म हुआ। नवजागरण में पहली बार मनुष्य ने अपनी क्षमता के प्रति विश्वास अर्जित किया और प्रकृति में हस्तक्षेपकारी शक्ति एवं उससे अपने भौतिक एवं मानसिक परिवेश के रूपांतरण की क्षमता के प्रति वह आश्वस्त हुआ। नवजागरणकालीन मनुष्य ने अतीत से गहरे लगाव और भविष्य की संभावित महानता में अपनी भूमिका को तीव्रता से महसूस किया। उसने इतिहास का उपयोग ज्ञान विज्ञान शिक्षा-दीक्षा के पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया में करना शुरू किया। यूरोप के इस वैज्ञानिक एवं बौद्धिक रूपांतरण को ही 'रिवाइवल ऑफ लर्निंग' अथवा नवजागरण की संज्ञा दी गई। कोनियर्स रीड के हवाले से सेलेरी ने लिखा है कि नवजागरण अपने मूलरूप में मनुष्य और उसके वातावरण के प्रति एक बदला हुआ दृष्टिकोण था। इसने उस मध्ययुगीन अवधारणा को परिवर्तित कर दिया जिसके अनुसार मनुष्य प्रकृति और संसार के सामने एक निरीह लाचार पापपुंज था। नवजागरण ने मनुष्य को एक सुंदर संसार में एक सुंदर प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया। 'यूरोपीय' मानव के ग्रीक एवं रोमन संस्कृति के प्रति झुकाव का कारण उसका प्राचीनता का आकर्षण नहीं बल्कि क्लासिक कृतियों में उनकी युगीन चेतना तथा आकांक्षाओं को स्वीकृति मिलना था। (सेलेरी जार्ज क्लार्क, द रेनेसां इट्स नेचर एंड ऑरिजीन, द यूनिवर्सिटी ऑफ विसकोन्सिन प्रेस, मेडीसन विसकोन्सिन, 1950 पृ. 4)

नवजागरण के प्रणेता इस बात को स्वीकार करते थे कि 'प्राचीन काल में मनुष्य ने मानवीय प्रवृत्ति और स्वभाव का सच्चा ज्ञान पा लिया था, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। प्राचीन क्लासिक कृतियों के माध्यम से नवजागरणकालीन मनुष्य आत्मज्ञान और प्रकृति के रहस्यों के अनावरण एवं उसे जानने के लिए प्राचीन ज्ञान एवं रीति-नीति का नए संदर्भों में उपयोग का आग्रह रखता था। इस भावना ने नवोन्मेष का एक ऐसा वातावरण यूरोप में पैदा किया जिसने 16वीं सदी

के पूर्वार्द्ध को उसके इतिहास के सबसे चमकदार कालखंड में परिवर्तित कर दिया। इस कालखंड में मनुष्य ने बड़ी उपलब्धियाँ वैचारिक, सामाजिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्रों में पाने के लिए प्रयत्न किए। इनमें प्राप्त सफलताओं ने मानवीय इतिहास की उदारतम मानवीय परिप्रेक्ष्यों के साथ-साथ क्रूर राजनीतिक शक्तियों एवं शक्तिशाली दोहन तंत्र को जन्म दिया। वस्तुत नवजागरण अपने मूल संस्कारों में व्यक्तिवादी था।

नवजागरण का एक प्रमुख लक्षण मनुष्य की स्वतंत्र इयत्ता का उदय है। मध्यकाल की वर्गीय पारिवारिक एवं संस्थागत परिचयात्मक पृष्ठभूमि के बरक्स मनुष्य ने एक स्वायत्त आत्मछवि अर्जित की। पुरोहितों के धार्मिक वर्चस्व को तोड़कर उसमें आत्म की उपलब्धि की। संसार एवं प्रकृति का नवमूल्यांकन इस नवार्जित आत्मानुभूति के आलोक में सम्पन्न हुआ। मध्यकाल में यूरोप में महान व्यक्तित्वों का अभाव था, संस्थाएँ ही केन्द्रस्थानीय थीं। फ्रेडरिक द्वितीय जैसी विलक्षण मध्यकालीन एकाध व्यक्तित्वों की तुलना में नवजागरणकालीन मनुष्य की अभिनव छवि क्रियात्मक स्तरों के अतिरिक्त विचार एवं कलात्मक स्तर पर मुखर रूप से अभिव्यक्त हुई। 15वीं शताब्दी में शहरों की गतिशीलता, कला एवं दर्शन के पुर्नोद्भव, ईसाई धार्मिक विश्वासों में शिथिलता, केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता ने बहुआयामी व्यक्तित्वों को पैदा किया। कला एवं साहित्य में मनुष्य अपनी स्वाभाविक छवियों में चित्रित हुआ। इटली में नवजागरण के विचार का प्रणेता पेंट्रार्क को माना जाता है। वह रोमन इतिहास को एन्टिक्वाण और क्रिश्चियन युग टेनेबरा (अंधकार युग) कहता था। बोकार्द ने नवजागरण को तत्कालीन जनता की कलाप्रियता और सौंदर्यात्मक अभिचियों से जोड़कर देखा। कलात्मक और साहित्यिक उत्थान की अवधारणा नवजागरण के संदर्भ में लोकप्रियता को प्राप्त हुई। यह नवजागरण की सबसे प्रचलित लोकछवि है।

बोकार्द की अवधारणा की आलोचना नवजागरण की विशिष्टताओं मसलन वैक्तिकता प्रकृति प्रेम, मानव हितों को वरीयता और चर्च के वर्चस्व से मुक्ति आदि मूल्यों की मध्ययुग में विद्यमानता के आधार पर की जाती है। दूसरी ओर शासक के प्रति अनुनय, अति प्राकृतिक शक्तियों की मान्यता, अंधविश्वास एवं गुप्त शक्तियों में विश्वास आदि लाक्षणिक प्रवृत्तियाँ नवजागरण काल में भी मौजूद हैं।

यह दृष्टि नवजागरण को विकासशील परिघटना के रूप में देखती है।

इसके अनुसार नवजागरण कोई क्रांति नहीं बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों की सापेक्षता में विकसित एक दृष्टि थी। मध्ययुग की अवबोधात्मक स्थितियों से नवजागरणकालीन चेतना में संक्रमण का परिचयात्मक लक्षण वैयक्तिक आत्मिक उदय है। दूसरी ओर नवजागरण ने ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में बौद्धिकता और शास्त्रीयता के प्रवेश का मार्ग सुगम कर दिया। इसके फलस्वरूप मध्ययुगीन भावुकता और काल्पनिक दृष्टिकोण को स्थानापन्न कर इस बौद्धिक नवोन्मेष ने तार्किकता, शोधात्मक विचार और कलात्मक दृष्टि को स्थापित किया। नवीनता और श्रेष्ठता की खोज ने वैज्ञानिक एवं भौगोलिक अनुसंधान और समंजस्य की बेहतर शक्ति से युगीन व्यक्तित्व को समृद्ध किया। नवजागरण की विरासत के रूप में इन मूल्यों को इटली के अभिजात वर्ग की देन कहा जाता है। किंतु रामविलास शर्मा ने इन मूल्यों की आधारिक दार्शनिक चेतना का श्रेय भारतीय सामाजिक यथार्थवादी दार्शनिक चिंतन को दिया है। यह चिंतन सरणि अपने उत्स ऋग्वेद से निसृत होकर लगातार आर्ष ग्रंथों और उपनिषदों-पुराणों के माध्यम से विश्व वाङ्मय को प्रभावित करती रही है। नवजागरणकालीन सांस्कृतिक परिवर्तनों के पीछे यूरोप में सामंती आर्थिक संरचनाओं का विघटन एवं उत्पावक शक्तियों में आया हुआ बदलाव जिम्मेदार था। व्यापारिक पूँजीवाद के उदय के लक्षण भी प्रकट हो रहे थे। किंतु ये परिस्थितियाँ सभी यूरोपीय देशों में एकरूप और एकसार नहीं थीं। इटली की मानवतावादी चिंतनधारा का प्रभाव यद्यपि सभी यूरोपीय देशों पर पड़ा, किंतु अलग-अलग देशों में नवजागरण की दशाओं की अभिव्यक्ति के स्तर एवं स्वरूप एक समान नहीं थे।

यूरोपीय नवजागरण के बाद ज्ञानोदय तक उसकी सुधारात्मक चेतना का विस्तार होता है। इस तर्ज पर रामविलास शर्मा भक्ति आंदोलन को लोकजागरण एवं 1857 ई. के महासंग्राम से शुरू हुए जागरण को नवजागरण कहते हैं। यूरोपीय नवजागरण से भक्तिकालीन लोकजागरण को अलगाते हुए डॉ. शर्मा इसमें समाज के पिछड़े तबके, शूद्रों, स्त्रियों और मुसलमानों की भूमिका को रेखांकित करते हैं। उनके अनुसार भक्ति आंदोलन भारत की बहुजातीय राष्ट्रीयता का श्रेष्ठ उदाहरण है।

नवजागरण की अवधारणा एक आधुनिक अवधारणा है, परंतु डॉ. शर्मा इसके कुछ स्थाई गुणों एवं लक्षणों को पहचान कर भारतीय इतिहास में उसे घटित करते हैं। इन गुणों एवं प्रवृतियों के आधार पर वे भारतीय इतिहास में कम से कम चार नवजागरणों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं वे भारतीय इतिहास में ऋग्वैदिक

नवजागरण को प्रथम मानते हैं। औपनिषदिक काल को वे दूसरा नवजागरण स्वीकार करते हैं। इस तरह भारतीय नवजागरण अपनी ऐतिहासिक परम्परा में यूरोपीय नवजागरण से अलग ठहरता है। कई विद्वानों को इस अवधारणा पर आपत्ति है और वे इसे अवैज्ञानिक मानते हैं।

डॉ. शर्मा ऋग्वेद में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर उसमें दार्शनिक यथार्थवादी चिंतन के दृष्टांत उपस्थित करते हैं। उन्होंने उचित ही लिखा है, मनुष्यों का स्वाधीन श्रम ऋग्वेद के कवियों की जीवनदृष्टि का आधार है। कर्म अपने लिए है, दूसरों के लिए नहीं है, इसलिए वे चाहते हैं, जब तक जिएँ, कर्म करते रहें।' (स्वाधीनता संग्राम बदलते परिप्रेक्ष्य, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली वि.वि., 1992, दिल्ली, पृ. 112)

द्वंद्वात्मक चिंतन और अद्वैतवादी विचारधारा का आरम्भ भी उन्हें 9 ऋग्वेद में मिलता है। उनके अनुसार ऋग्वेद एक काव्य है, जिसकी आधारभूमि है, इन्द्रियबोध। ऋग्वेद सम्बन्धी सामग्री के लिए डॉ. शर्मा मुख्यरूप से श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की कृति 'ऋग्वेद का सुबोध भाष्य' को ही आधाररूप में ग्रहण करते हैं। ऋग्वेद को भारतीय आदर्शवादी धारा का आदिस्रोत स्वीकारने की प्रवृत्ति की लोकप्रियता और बहुमान्यता इसके दार्शनिक यथार्थवादी स्वरूप की विवेचना में कठिनाई पैदा करती हैं। रामविलास शर्मा के विश्लेषण का प्रस्था न ही ऋग्वेद में यथार्थवादी चेतना के उत्स की खोज है। डॉ. शर्मा द्वारा ऋग्वेदकालीन समाज में ज्ञान-विज्ञान की चेतना का अनुसंधान और नवजागरण की प्रवृत्तियों पर जोर देने को कुछ चिंतकों ने अतिरंजित माना है।

रामविलास शर्मा भारतीय नवजागरण को योरोपीय रेनेसां की तर्ज पर निश्चित कालबद्धता एवं परिपाटीगत घेरे में देखने के हिमायती नहीं हैं। उनके अनुसार नवजागरण मनुष्या की चेतना का प्रवृत्तिगत निरंतर विकास है, जो कुछ मूल्यों को आगे बढ़ाने में प्रगतिशील भूमिका का निर्वाह करता है। भारतीय नवजागरण के इन दो प्राथमिक चरणों ने यूरोपीय रेनेसां के केन्द्रवर्ती दार्शनिक प्रतिपत्तियों के रूपायन में केन्द्रीय भूमिका का निर्वहन किया है। इस तरह वह न केवल यूरोपीय जागरण बल्कि प्रकारांतर से विश्व जागरण की भूमिका की निर्मिति में उल्लेखनीय योगदान देता है।

'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद'(1994) और 'भारतीय नवजागरण और

यूरोप'(1996) रामविलास जी की भारत केन्द्रित अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। इन पुस्तकों के माध्यम से डॉ. शर्मा ने मैकालेवादी, छद्म मार्क्सवादी और मदरसावादी विद्वानों को दिखा दिया है कि ऋग्वेद एवं उसके ज्ञान पराक्रम का विश्व मनीषा के निर्माण में क्या योगदान है। दोनों पुस्तकों के केन्द्र में ऋग्वेद है।

'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद' में यूनान को पश्चिम एशिया का सीमांत मानते हुए पश्चिमी एशिया से भारत के सम्बंधों की विवेचना की गई है। डॉ. शर्मा औपनिवेशिक सिद्धांतकारों के विपरीत भारत को ही आर्यों की मूलभूमि स्वीकार करते हैं। इस पुस्तक में अपनी मूलभूमि से आर्यों के उत्प्रवास एवं बहिर्गमन का विवरण मिलता है। भारतीय नवजागरण और यूरोप में यूनानी-यूरोपीय पुनर्जागरण काल में दार्शनिक तत्वों के जन्मे तथा यूनानी चिंतन पर वैदिक-औपनिषदिक तत्व चिंतन के प्रभावों की चर्चा है।

यूनान के विज्ञान को यूरोपीय चिंतन का आधारस्तम्भ माना जाता है। वर्तमान में जो महत्त्व विज्ञान का है, वही महत्त्व मध्यमकाल तक दर्शन को प्राप्त था। यूनानी दार्शनिक तत्वा चिंतन का पश्चिम के इपीस्टीयम (ज्ञानात्मक दर्शन) के निर्माण में अप्रतिम योगदान है। गहरे विवेचन द्वारा रामविलास जी इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं कि यूनानी दर्शन पर ऋग्वेद का स्पष्ट प्रभाव है। प्राचीन यूनानी दर्शन एशिया भूखंड (वर्तमान तुर्की) में ही विकसित हुआ था। यूनानी दर्शन के प्रथम पाँच चिंतकों में से तीन क्रमशः थलेस, अनक्सिमंदर और अनिक्सिमॅनस एशिया स्थित मिलेतुस नगर के ही निवासी थे। अनेक विद्वानों की ऐसी धारणा है कि ग्रीक दर्शन और औपनिषदिक चिंतन में काफी समानताएँ हैं। इनकी तलस्परर्शिता को देखते हुए यह समानता आकस्मिक प्रतीत नहीं होती। उपनिषदों की अधिकांश स्थापनाएँ वैदिक चिंतन का विस्तार मात्र हैं। रामविलासजी के मतानुसार मार्क्सवाद के दार्शनिक स्रोत फ्रांस और इंग्लैंड के भौतिकवाद, यूनानी दर्शन उससे पूर्व उपनिषद तथा उसके पूर्व ऋग्वेद में मिल सकते हैं।

उनकी उपर्युक्त वर्णित दोनों पुस्तकों की मूल स्थापनाओं के अनुसार वैश्विक स्तर पर प्राचीनतम संस्कृति के तीन केन्द्रों यथा मिस्र, सुमेर और भारत में निरंतर सम्पर्क तथा आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती रही थी। इसके अलावा भारत का अध्ययन आत्यंतिक रूप से तब तक अपूर्ण रहेगा, जबतक मिस्र और सुमेर के साथ क्रीट द्वीप की मिनोअन सभ्यंता और मिकिनी की इजियन सभ्यता

को इस विमर्श के केन्द्र में नहीं लाया जाता। चीन की सभ्यता भी इन सभ्यताओं की समकालीन थी एवं उसपर भी विचार किया जाना अपेक्षित है। यूरोपीय नवजागरण को प्रभावित करने वाली इटालियन सभ्यता रोमन और यूनानी सभ्यता से प्रभावित थी। यूनान की सभ्यता का विकास क्रीट द्वीप की उस पुरातन सभ्यता से हुआ था जिसकी नींव लघु एशिया से आए लोगों ने रखी थी। यहाँ प्रश्न उठता है कि आखिरकार मिस्र और क्रीट द्वीप की सभ्यताओं का विकास किसके प्रभावस्वरूप हुआ था। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर मार्टिन बरनॉल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एंटीक्विटी द ऑरिजीन ऑफ वेस्ट्र्न सिविलाईजेशन' में देने का प्रयास किया है। उनकी मान्यता है कि भारतीय दार्शनिकता से गंभीर रूप से प्रभावित क्रीट की सभ्यता ने ये तत्व मिस्र को दिए जो वहाँ से यूनान होते हुए पूरे यूरोप में फैल गए। इन दोनों पुस्तकों में रामविलास जी ने भी क्रीट लघु एशिया, मिश्र तथा पश्चिमी एशिया की सुमेरी-बेबीलोनी सभ्यता और संस्कृति के मूल स्रोत के रूप में भारत की ओर संकेत किया है। इस सभ्यता और संस्कृति का मूल प्रवाह आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले भारत के मूल निवासियों की आद्य सभ्यता और संस्कृति से ही आरंभ हुआ था। इसका प्राचीनतम प्रमाण हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। यह प्रभाव भाषा और उसकी ध्वनियों, व्यक्तिनामों, देवमालाओं, सृष्टिकथाओं तथा पुराकथाओं में परिलक्षित होता है। इनकी मूल स्थापनाएँ और प्राचीनतम रूप संकेत भारत में ही मिलते हैं, जिनके परिवर्तित और विकसित रूप उपर्युक्त सभ्यताओं में प्राप्त होते हैं।

ऋग्वैदिक नवजागरण भारत का प्रथम नवजागरण है। ऋग्वेद के कवि जागरूक रूप से देवतंत्र की भूमि से आगे बढ़कर दार्शनिक चिंतन की ओर अग्रसर होते हैं। डॉ. शर्मा ने उपनिषद काल को दूसरा नवजागरण मानते हुए इसे विश्वत दर्शन के इतिहास में क्रांतिकारी युग की संज्ञा दी है। दोनों के बीच का युग ब्राह्मण ग्रंथों का रचनाकाल है। उपनिषद ब्राह्मण ग्रंथों से दूर और ऋग्वेद के निकट हैं। ऋग्वेद से उपनिषद और उपनिषदों से लोकायत, सांख्य, योग और वैशेषिक आदि का विकास हुआ। इन दार्शनिक सम्प्रदायों के आधारभूत दृष्टिकोण का आश्रय ग्रहण कर चरक के शरीर विज्ञान, कौटिल्य के समाजशास्त्र और पाणिनि के भाषाविज्ञान सम्बन्धी सिद्धांतों का विकास हुआ। दूसरी तरफ सांख्य और लोकायत की भौतिकवादी धारा ईरान में जुवानपंथ का रूप लेती है, वहीं वेदांत की

भाववादी धारा वहाँ तसव्बुरफ अथवा सूफी मत का आकार ग्रहण करती है। आर्यों के बहिरागत आक्रमणकारी होने के मिथकीय सिद्धांत को औपनिवेशिक मनीषा ने सुनियोजित ढंग से प्रचारित किया था। उन्होंने आर्यों को विकसित हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों नागर सभ्यता का विध्वंसक घोषित कर सांस्कृतिक द्वंद्व के सूत्रपात का कुचक्र रचा। उन्होंने आर्यों को घुमंतू कबीले का एवं ऋग्वेद को एक पिछड़े आदिम समाज की रचना सिद्ध करने का प्रयास किया। ऋग्वेद का काल निर्धारण भी त्रुटिपूर्ण ढंग से किया गया।

डॉ. शर्मा ने 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद' में इन दंतकथाओं और कपोल कल्पनाओं का सप्रमाण खंडन किया है। वे सिद्ध करते हैं कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं। इस तथ्य के समर्थन में उन्होंने साहित्यिक पुरातात्विक एवं भाषाशास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। सरस्वती नदी, जल प्रलय, मनु एवं महामत्य की कथा, गिल्गमेश कथा काव्यी प्रणवंतों के देश दिलमुन की खोज, सृष्टि कथाएँ तथा सर्वोपरि देवतंत्र के विकास की विभिन्न मंजिलों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण से भी सभी तथ्य भारत, ऋग्वेद और उसकी प्राचीनता की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। रामविलास जी ने ऋग्वेद में बहुवचन स्त्री लिंगों की प्रयोग बहुलता का सम्बन्ध मातृसत्तात्मक व्यवस्था की स्मृति से जोड़ा है। इसके अलावा वे संकेत करते हैं कि सघोष महाप्राण ध्वनियों वाले भारतीय शब्दों के ईरानी और यूरोपीय प्रतिरूपों में सघोषता और महाप्राणता का लोप हो जाता है। यह सघोषता ऋग्वेद और भारतीय आर्यभाषाओं की विशेषता है।

डॉ. शर्मा की यह मान्य ता है कि आर्य सभ्यता मुख्यत: सरस्वती नदी और उसके तंत्र की सतलज, यमुना आदि के किनारे विकसित सभ्यता है। इस सरस्वती नदी के तटवर्ती भरत, पुरू और अन्यभ जनों ने ऋग्वेद की रचना की थी। वे इसका रचनाकाल ई.पू. पाँच हजार वर्ष मानते हैं। सरस्वती में ई.पू. लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व आए जलप्लावन के कारण इस सभ्यता का केन्द्र सारस्वत प्रदेश से खिसककर कुरू पांचाल प्रदेश में पहुँच जाता है। इस विस्थापन के बाद आर्यों ने ही मोहनजोदड़ों और हड़प्पा सभ्यता की नींव डाली थी। वे प्रमाण देते हैं कि हड़प्पा सभ्यता के ज्ञात 800 स्थलों में 500 से अधिक सरस्वती के तट पर ही अवस्थित थे। अत: यह सभ्यता सिंधु घाटी सभ्यता की अपेक्षा सरस्वती सभ्यता अधिक है। सरस्वती की तुलना में सिंधु पर उसकी निर्भरता कम थी। सतलज और यमुना

नदियों के मार्ग परिवर्तन के कारण सरस्वती नदी में 1750 ई.पू. के लगभग जल की मात्रा में भारी कमी आ गई। इसके फलस्वरूप इस तथाकथित सिंधु सभ्यता का ह्रास हो गया।

डॉ. शर्मा ने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि ऐतिहासिक घटनाक्रम में आर्यजनों को दो बार विस्थापित होना पड़ा था। यह घटना पहली बार ऋग्वेद और यजुर्वेद की रचना के बाद घटित हुई थी, क्योंकि जलप्रलय का उल्लेख पहलीबार अथर्ववेद में ही मिलता है। दूसरी बार यह विस्थापन सरस्वती नदी में जलाभाव के कारण दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. में घटित होता है। लगभग इसी समयावधि में हमें इन आर्यभाषा भाषी जनों की गतिविधियों की सूचना पश्चिम एशिया में मिलती है। इनके अरायुक्त रथ, भारतीय देवनाम, भारतीय पुराकथाओं के भंडार आदि पश्चिम एशिया, मिश्र और क्रीट में इसी समय प्रचलित होते हैं। भाषिक एवं सांगीतिक तत्वों का संक्रमण भी होता है। इसका एक प्रमुख कारण पहले से ही संचालित व्यातपारिक गतिविधियाँ थीं। इन तथ्यों के आधार पर डॉ. शर्मा ने स्थापित किया है कि कालक्रम की दृष्टि से हित्तीर एवं मितन्नीं सभ्यताएँ हड़प्पा अथवा सारस्वत सभ्यता के उत्तरकाल की हैं। पश्चिम एशिया की सुमेरी और बेबीलोनी सभ्यता के बहुत पहले ऋग्वेद के अधिकांश मण्डलों की रचना हो चुकी थी। यजुर्वेद-अथर्ववेद तक समुद्र जैसी विशाल पाट वाली सरस्वती को जल से भरा-पूरा दिखलाया गया है।

यूरोपीय नवजागरण के आधार यूनानी दर्शन के सम्बन्ध में रामविलास जी का मत है कि वह पहले ऋग्वेद और बाद में औपनिषदिक चिंतन से प्रभावित हुआ। मिलेतुस नगर के दार्शनिक थलेस, अनाक्सिमेंदर और अनाक्सिमेनेस वैचारिक स्तर पर अद्वैतवादी थे। देवों की मानवीय एवं भौतिक आकृतियों के स्थात पर वे मूल रचना तत्व का अनुसंधान कर रहे थे। इसके अलावा क्सेनोफॅनेस और हेराक्लितुस एशिया के ही निवासी थे एवं उनकी विचारधारा उपनिषदों से मिलती थी। ऋग्वेद तथा उपनिषदों में काव्य और दर्शन की कोई ऐसी परम्परा नहीं है, जो यूनान की परम्परा में विद्यमान हो।

डॉ. शर्मा के अनुसार ऋग्वेद में इहलोकवाद की सुदृढ़ प्रतिष्ठा है। प्रकृति निरपेक्ष परमेश्वर का ऋग्वेद में अभाव प्रगतिशील सामाजिक विकास, यथार्थवादी दर्शन और मानवतावादी साहित्य का प्रेरक है। यह सकारात्माक धारा ऋग्वेद से

आरम्भ होकर भक्तिकाव्य तक प्रवहमान है। डॉ. शर्मा के अनुसार यूनानी साहित्य के अनेक आदिम साँचे ऋग्वेद में विद्यमान हैं, यूरोप के रूढ़िवादी धर्मग्रंथों में नहीं। ऋग्वेद का दार्शनिक वैभव यूनानी साहित्य में दुर्लभ है। इसका कारण है ऋग्वेद की रचना का देवकथाओं की मनोभूमि से आगे बढ़कर दार्शनिक काव्य की भूमि पर होना है। डॉ. शर्मा के मतानुसार ऋग्वेद में देवों के पृथक और स्वतंत्र अस्तित्व की धारणा मिलती है, जो वैदिक कवियों को परम्परा से प्राप्त है। इसे उन्होंने दार्शनिक तत्वों के संयोजन से एक नया स्वरूप प्रदान किया है। कर्मकांडों को भी ऋग्वैदिक कवि एक नई दृष्टि से देखते हैं। देवतंत्र के आवरण में भक्ति भावना एवं यथार्थवादी अंतर्वस्तु का अभिनिवेश उनकी मौलिक देन है। डॉ. शर्मा भक्ति के दर्शन और यथार्थवादी चित्रण के समन्वय की इस धारा को सूरदास और तुलसीदास तक प्रवाहित देखते हैं। इस तथ्य के आलोक में भक्ति साहित्य के अभिनव मूल्यांकन का प्रस्ताव रामविलास जी ने किया है। सामंती व्यवस्था की तुलना में दीर्घजीवी उसकी पूर्ववर्ती गण व्यवस्था ने देवकथाओं एवं मानविक साहसिक कथाओं की कल्पना की थी। आगे चलकर इसका बहुलांश धर्म द्वारा आत्मसात कर लिया गया। सामंती काल में देवकथाओं से पृथक कई दार्शनिक धाराओं का जन्म हुआ। ये दार्शनिक धारणाएँ मूलत: यथार्थवादी थीं। डॉ. शर्मा के अनुसार सम्पत्तिगत भेदों के स्थापित होते ही भाववादी विचारणाएँ भी अपना वर्चस्व कायम करती हैं। भारत तथा यूनान इन दोनों के दार्शनिक विकास से इन तथ्यों की पुष्टि होती है। भाववादी दर्शन से धर्म और धर्मसंघों के विकास की ओर इंगित करते हुए डॉ. शर्मा कहते हैं कि धर्म भी दार्शनिक धाराओं को अपना लेता है। संघबद्ध धर्म और कर्मकांड के विरोध में लोकधर्म भी सकारात्मक भूमिका के निर्वहण के लिए जाग्रत होता है और सामंती व्यवस्था के विघटन काल में चिंतन की धारा प्रबल हो जाती है। औद्योगिक विकास के साथर्क और विज्ञान की प्रगति होती है। प्रमुख वैचारिक संचालक शक्ति के रूप में विज्ञान दर्शन को अपदस्थ कर देता है। इस प्रक्रिया में सामाजिक विकास के एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण होता है। इसी व्यवस्थात्मक संक्रमण को रामविलास जी नवजागरण के रूप में परिभाषित करते हैं। डॉ. शर्मा ऋग्वेदकालीन समाज को गणसमाज न मानकर अभ्युदयशील सामंती व्यवस्था मानते हैं। इसका आधार व्यक्तिगत अथवा कुटुम्बगत सम्पत्ति है। ऋग्वैदिक ऋषियों को गण व्यवस्था का संज्ञान है एवं उसकी स्मृति भी उनके पास है।

रामविलास शर्मा ने सामंती समाज में घटने वाले नवजागरण के सम्बन्ध में

कतिपय स्थापनाएँ दी हैं। उनका मत है कि समाज में परिवर्तन लाने के कारण सामंती समाज में घटित नवजागरण की भी क्रांतिकारी भूमिका होती है। एंगेल्स ने यूनान में मातृसत्तात्मक समाज के बाद पितृसत्तात्मक परिवार के उदय को प्राचीन काल की महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी घटना बतलाया है। डॉ. शर्मा अत्यंत गर्व से यह घोषित करते हैं कि भारत में उससे कई हजार साल पहले यह क्रांति ऋग्वैदिक काल में हो चुकी थी। श्रम के विशेषीकरण के साथ उत्पादन में गोत्र की भूमिका घटती गई और कुटुम्ब की भूमिका में विस्तार हुआ। श्रम के विशेषीकरण ने विनिमय के विकास को भी प्रोत्साहित किया।

डॉ. शर्मा के अनुसार ऋग्वैदिक समाज में ऐसे मनुष्य भी हैं जिनका प्रत्यक्ष जुड़ाव श्रम से नहीं है। ये धार्मिक क्रियाकलापों अथवा विनिमय व्यापार से युक्त हैं। पुरोहितों और व्यापारियों का वर्ग अभी संगठित नहीं हुआ है। कविवर्ग का तादात्म्य स्वाधीन कृषक एवं कारीगर वर्ग से है। वस्तुतः यही ऋग्वेद के दार्शनिक यथार्थवाद और उसके रचनाकार कवियों-ऋषियों की उस प्रगतिशील समाज व्यवस्था का आधार था, जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ राजसत्ता का भी उद्भव हो रहा था।

द्वंद्वात्मक चिंतन और अद्वैतवादी विचारणा का अधिकांश भाग ऋग्वेद की ही देन है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक तथा लोकायत (चार्वाक) आदि दर्शनों की मूल दृष्टियों के उत्स ऋग्वेद में ही निहित हैं। एक सुसंगत भौतिकवादी विचार पद्धति के रूप में वृहस्पत अथवा लोकायत पथ यूनान के डेमोक्रितुस से कई हजार वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुका था। इसके उद्‌भव का श्रेय भी ऋग्वेद को है। यूरोप में मध्यकाल को अंधकार युग भी कहा गया है, जिसकी कालावधि लम्बी है। इस अंधकार युग से उसे 17-18वीं सदी में मुक्ति मिली। भौतिकवादी विचारधारा भी तभी वहाँ स्वीकृत हो पाई। यूरोप में भौतिकवाद को पुनर्जीवन देने में फ्रांस के पियर गैंडी, रेने देकार्त और दारियों, इंग्लैंड के टामस हाब्स, बेकन, लॉक और न्यूटन तथा जर्मनी में ब्यूखतर, फोग्टै, फायरबाख और हीगल आदि का नाम उल्लेखनीय है। परंतु भारतीय परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद से लेकर गौतम बुद्ध, पूरन काश्यप, क्रुद्ध कात्यायन संजय बेलठ्ठीपुत्त आदि चिंतकों तक भौतिकवादी चिंतनधारा के कई सत और संस्करण उपलब्ध होते हैं। भौतिकवाद की इन धाराओं ने उपनिषदों से होते हुए सुकरात से पहले के यूनानी दार्शनिकों तक अपना प्रभाव

डाला था। जीवभूत से जीव के विकास और 'किण्वद सिद्धांत' की चार्वाक पंथियों की धारणाओं से मिलता-जुलता सिद्धांत यूरोप में अठारहवीं शताब्दी तक प्रचलित था। लोकायत या चार्वाक दर्शन को वृहस्पति से जोड़ा जाता है, जिन्हें नास्तिक शिरोमणि कहा गया है। वृहस्पति ऋग्वेद के दशम मंडल के 71वें एवं 72वें सूक्तों के रचयिता हैं। बहत्तरवें सूक्त में ही असत् से सत् के उत्पन्न होने की क्रांतिकारी घोषणा है। इस संदर्भ में रामविलासजी का कथन है कि विश्व दर्शन में यह भारत की युगांतकारी पहल है, यहाँ पहली बार विश्व प्रपंच के अपनी ही शक्तियों से विकसित होने की बात कही गई है। ध्यान देने पर एंगेल्स प्रतिपादित 'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर' में सांख्य प्रवर्तित सृष्टिक्रम सिद्धांत की प्रतिध्वनि मिलती है। इटली के खगोलशास्त्री सेक्कील, अमेरिकी वैज्ञानिक ड्रेपर और कार्ल सागन तक तमाम आधुनिक वैज्ञानिकों ने संसार की आवृत्ति श्रृंखला का समनुरूप सिद्धांत प्रस्तुत किया है। एंगेल्स की प्रकृति विज्ञान सम्बन्धी धारणाओं के बीजरूप ऋग्वेद के सृष्टि सूत्रों, उपनिषदों और सांख्यिदर्शन में विद्यमान हैं। इसी में आइंस्टीन की चिंतन पद्धति के सूत्र एवं प्रस्थान छिपे हैं। गति के ऊष्मा में बदलने सम्बन्धी ऋग्वेद के ऊर्जा सिद्धांतों की नाभिकीय भौतिकी के सिद्धांतों से पुष्टि करते हुए डॉ. शर्मा कहते हैं कि यहाँ एंगेल्स पीछे छूट जाते हैं और हम आणविक विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। काल की सापेक्षता के संदर्भ में एंगेल्स के विवेचन को आइंस्टाइन के 'रिलेटिविटी थ्योरी' का पूर्वानुमान घोषित करते हुए वे मानते हैं कि जहाँ तक काल की वस्तुगत सत्ता का सम्बन्ध है, एंगेल्स और आइंस्टाइन दोनों अथर्ववेद का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। इससे पूर्व ये धारणाएँ ऋग्वेद में भी हैं।

प्राचीन काल में भारतीय जनों का काल सापेक्षता के सिद्धांत से परिचय था। डॉ. शर्मा ने इन तथ्यों की ओर ध्योन दिलाया है कि न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद के विपरीत आइंस्टाइन अपनी 'फील्ड थ्योरी' प्रस्तुत करते हुए आकाश (फील्डी) और 'अणुमय भूत' के सह अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यहाँ उनका साम्य एकात्मवादियों से है। किंतु यहाँ यह तथ्य भी विचारणीय है कि सांख्य और वैशेषिक के सहअस्तित्व की तरह आकाश और भूत की आणविक संरचना का साथ-साथ होना भी संभव है। ऋग्वेद में यह सह-अस्तित्व प्रत्यक्ष है और अनेकांतवादी दृष्टि के कारण संभव होता है। 'लुडविग फायरबाख' में जब एंगेल्स अपने समय के और हीगल के समय के प्रकृति विज्ञान में भेद करते हैं तो उनका

चिंतन सांख्य दर्शन के अनुकूल है। अत: इस भौतिकवाद के विकास में हीगल की अपेक्षा सांख्य का महत्त्व प्रतिपादित है।

ऋग्वेद के कवि मनुष्य के बाह्यजगत के साथ उसके अंतर्जगत की बहुविध क्रियाओं का भी ध्यान रखते हैं। डॉ. शर्मा ने उपनिषदों में तैत्तरीय को भौतिकवाद के सर्वाधिक निकट माना है। अन्य उपनिषदों यथा ऐतरेय, मांडूक्य, मुंडक, कठोपनिषद, प्रश्नोपनिषद, वृहदारण्यक और छांदोग्य आदि में भी वे भौतिकवादी रुझानों को रेखांकित करते हैं। श्वेवताश्वेत में ऋग्वेद और अन्य उपनिषदों की विचारधारा के विपरीत बातें मिला दी गई हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पाँच तत्वों में से किसी एक को आदितत्व मानने वाले विचारक ऋग्वेद और उपनिषद दोनों के रचनाकाल में रहे हैं। उपनिषदों की मूल धारणा है, ब्रह्म की जगत व्याप्ति। वहाँ ईश्वर की व्यक्ति सत्ता का अभाव है। उपनिषदों में इस अद्वैतसत्ता। की संकल्पना ऋग्वेद से आई है। उसे ब्रह्म नाम देकर उपनिषदों ने उसकी सर्वव्याप्ति की घोषणा की। यह ब्रह्म ईश्वर का पर्यायवाची नहीं है। ब्रह्मवाद अथवा सर्वात्मकवाद दर्शनशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में यथार्थवाद के समरूप है। यही प्राचीन मानवतावाद का वैचारिक आधार है। यथार्थ जगत से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, जो कभी शुद्ध भौतिकवाद तो कभी भाववाद के आवरण में प्रत्यक्षगोचर होता है। यह सर्वात्मवाद ही भारतीय दर्शन का वेदांत है। यह पुरोहितवाद और कर्मकांड का विरोधी है। अध्यात्म और योग का अर्थ है इंद्रियों का नियंत्रण और उपासना का अर्थ है, ध्यानमग्न होना। सर्वात्मवाद के दो प्रकारों को चिन्हित किया गया है। प्रथम कोटि में ब्रह्म की सत्ता प्रकृति के भीतर होती है, और दूसरे में वह ब्रह्म में विलीन हो जाती है। उपनिषदों में प्रकृति के भीतर ही ब्रह्म की सत्ता का साक्षात्कार किया गया है। रामविलास शर्मा इसे सर्वात्मवाद की प्रगतिशील भूमिका के रूप में संकेतित करते हैं। मार्क्स और एंगेल्स लम्बे समय तक हीगल के नियतिवाद के दुष्प्रभाव में रहे। हीगल के एशिया और भारत सम्बन्धी विचारों का कुप्रभाव उन पर पड़ा। इसके फलस्वरूप मार्क्स और एंगेल्स ने किसानों की भूमिका का अवमूल्यन किया एवं ब्रिटिश पूँजीवाद और सर्वहारा को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया।

हीगल की तुलना में कांट, बायरन शेली और चार्टिस्ट्स नेता अर्नेस्टा जोंस का चिंतन क्रांतिकारी था। शेली से मार्क्स तक चिंतन सरणि का विकास सीधा है। बीच में हीगल को व्यतिक्रम माना जा सकता है।

कांट और डार्विन का सम्बन्ध विज्ञान और दर्शन की एक ही धारा से था। रामविलास शर्मा ने यूरोपीय रेनेसां को नेशनलिटीज (जातियों) के निर्माण एवं समेकन का युग स्वीकार किया है। सामंती मध्यकाल के अंत तथा आधुनिक युग के जागरण काल में ही यूरोप में कृषि और कारीगरी में अलगाव पैदा हुआ था। यूरोप के अंधकार युग में वैज्ञानिक चिंतन का तीव्र विरोध होता था। धार्मिक न्यायालय इसके लिए प्राणदंड देते थे। ब्रूनो का उदाहरण इसका प्रमाण है। इसके विपरीत भारत में मध्यकाल केवल एक ऐतिहासिक कालविभाजक श्रेणी का परिचायक है। तीसरी से सोलहवीं सदी के उस दौर में ज्ञान-विज्ञान, विदेश व्यापार और उद्योगों में काफी प्रगति हुई थी। यूरोप ने इस लम्बे अंधकार युग से निकलने के लिए रोमन और ग्रीक कला-साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का आधार ग्रहण किया। इस ज्ञान के पुनरुद्धार ने एक नई चेतना को जन्म दिया जिसे इटालवी भाषा में 'लारिन स्विता' कहा गया। रेनेसां शब्द फ्रेंच भाषा का है और वहीं से अंग्रेजी में आया है। रोमन सभ्यता इटली के लोगों की प्राचीन सभ्यता थी, इस पर फ्रांस और इंग्लैंड का दावा सत्य नहीं था। इटली के अनुकरण पर उन्होंने इसे रेनेसां (पुनर्जन्मा) कहना शुरू किया। फ्रांस और शेष यूरोप के लिए यह पुनर्जन्म नहीं बल्कि नवजागरण और जातीय जागरण का काल था। यूरोप में जागरण की शुरुआत इटली के फ्लोरेंस शहर में 1439 ई. में पूर्वी एवं पश्चिमी चर्च को मिलाने के उद्देश्य से आयोजित एक सम्मेलन से हुई थी। इसमें यूनानी विद्वानों ने प्राचीन कला, ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य संस्कृति पर अनेक व्याख्यान दिए थे। 1453 ई. में ऑटोमन तुर्कों ने मेहमेत द्वितीय के नेतृत्व में कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लिया। इसके फलस्वरूप वहाँ बसे यूनानी विद्वानों का बड़े पैमाने पर यूरोपीय देशों में उत्प्रवासन हुआ। इससे वहाँ प्राचीन लैटिन-ग्रीक ज्ञान का प्रसार संभव हुआ। इससे लगभग डेढ़ सौ वर्षों पहले इटली में पूँजीवादी युग की शुरुआत भी हो चुकी थी। विनिमय के प्रसार के साथ व्यापारिक पूँजीवाद की जड़ें मजबूत हुईं। रोमन सभ्यता के अवशेषों पर इटली ने अपनी नगर सभ्यता का विकास किया। 13वीं सदी तक फ्लोरेंस को यूरोप की वित्तीय राजधानी के रूप में जाना जाता रहा था। यहीं से सर्वप्रथम 1375-76 ई. में पोप की सर्वशक्तिमान सत्ता को चुनौती दी गई थी।

यूरोप में आधुनिक काल का दूसरा चरण 'औद्योगिक क्रांति' के रूप में जाना जाता है, जिसकी शुरुआत 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई। यूरोप की व्यापारिक

क्रांति में भारत का महत्त्वपूर्ण योगदान था। भारत में बड़ी-बड़ी मंडियाँ कायम थीं। देहात तथा शहरी क्षेत्रों के बीच व्यापक विनिमय होता था। पगार एवं ददनी प्रथा का भी प्रचलन था।

यूरोप में 18वीं सदी में प्रबोधन (एनलाइटेनमेंट) का युग आया जो औद्योगिक क्रांति से पूर्व व्यापारिक पूँजीपति वर्ग के उत्थान और ज्ञान प्रसार से सम्बद्ध था। इसके चार प्रमुख संरक्षक यथा प्रशिया के राजा फ्रेडरिक, रूस की साम्राज्ञी कैथरीन, आस्ट्रिया के शासक जोसेफ द्वितीय और पोप बोनीफेस चौदहवाँ थे।

व्यापारिक पूँजीवाद के दौर में जातीय निर्माण की स्थितियाँ अनुकूल होती हैं। भारत का भक्ति आंदोलन भी जातीय निर्माण को प्रेरित करनेवाला एक सांस्कृतिक आंदोलन है। तमिलनाडु और महाराष्ट्र से होकर यह मानवतावादी अभियान पूरे देश में विस्तारित होता है। यूरोप में रेनेसां और रिफार्मेशन की प्रक्रियाओं के मध्य अंतर्द्वंद्व की स्थिति परिलक्षित होती है, जबकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में इन दोनों धाराओं में समन्वय और सहकार की भूमिका दिखाई पड़ती है। डॉ. शर्मा तुलसीदास एवं अन्य भक्त कवियों को उसी तरह आधुनिक नवजागरण का प्रतिनिधि मानते हैं, जैसा इटली के संदर्भ में दाँते हैं। जहाँ वर्जिल इटली की प्राचीनता के प्रतिनिधि हैं, वहीं दाँते (1265-1321) उसकी आधुनिकता के। दाँते इटली में नवजागरण के पुरस्कर्ता कवि माने जाते हैं। वे लैटिन और इटालियन दोनों के रचनाकार हैं। कवि पेत्रार्क, कथाकार बोकाचियो और शिल्पी मिकेल आंजेलो नवजागरण की महान विभूतियाँ हैं। इंग्लैंड में शेक्सपीयर और मिल्टन भी इस नवजागरण के उत्पाद हैं। इटली रेनेसां का केन्द्र था जबकि रिफार्मेशन का अधिक जोर जर्मनी में था। जर्मनी के उत्तेरी राज्यों में इसका नेतृत्व मार्टिन लूथर, अकहार्ट और थॉमस मुंजर कर रहे थे। खुद अकहार्ट और मुंजर की विचारधारा का टकराव लूथर से था। यूरोपीय नवजागरण की चर्चा में उसके नकारात्माक पहलुओं का ध्यान रखने एवं भक्ति के लोकजागरण के बरक्स उसको मूल्यांकित करने का प्रस्ताव रामविलास शर्मा करते हैं। ज्ञान-विज्ञान में भारत के योगदान को जानबूझकर औपनिवेशिक मनीषा ने उपेक्षित किया। डॉ. शर्मा ने लिखा है, 'एंगेल्स ने पुनर्जागरणकालीन यूरोप के ज्ञान प्रसार की प्रशंसा की है, उसमें अरबों के योगदान का उल्लेख भी उन्होंने किया है। उन्हें यह मालूम न था कि अरब माध्यम मात्र थे। भारत से प्राप्त ज्ञान ही वे यूरोप पहुँचा रहे थे। डॉ. शर्मा ने यह निष्कर्ष निकाला कि जैसे भारत से द.पू. एशिया तक

दर्शन, ज्ञान विज्ञान का निर्यात हो रहा था, वैसे ही पहले सीधे फिर अरबों के माध्यम से यह ज्ञान विज्ञान यूरोप पहुँच रहा था।'

अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अंतर्विरोध : थलेस से मार्क्स तक' में रामविलास जी ने ढाई हजार साल में फैले पाश्चात्य दर्शन के इतिहास को विवेचित किया है। पाश्चात्य दर्शन के अनिर्णीत विवादों की विवेचना के क्रम में इतिहास पुरातत्व भाषा विज्ञान के प्रमाणों की सहायता से यह सिद्ध करते हैं कि यूनानी दर्शन के उदभव में भारत का महत्त्वपूर्ण योगदान था। उन्होंने यूनानी दर्शन, रेनेसांकालीन चिंतन तथा दार्शनिक प्रतिपत्तियों पर सामाजिक अंतर्विरोधों के प्रभाव, एशिया-अफ्रीका की सभ्यता के प्रति पश्चिमी दृष्टि पर अत्यंत साफगोई से अपनी बात रखी है।

सभ्यताओं का उत्थान-पतन इतिहास का क्रम है। दूसरी सहस्राब्दी और चौथी सहस्राब्दी ई.पू. में जलप्रलय ने सरस्वती सभ्यताओं को नष्ट किया, किंतु कालांतर में वे फिर से पुनर्जीवित हो गईं। किंतु यूनानी सभ्यता विनाश के उपरांत उठकर खड़ी न हो सकी। बाद में उसका प्रभाव लेकर इटली की सभ्यता फिर से जागरित हुई। नवीं-दसवीं शताब्दी में बगदाद के उदय के समय अरब भारतीय ज्ञान के प्रसार के माध्यम बने। इस परम्परा के प्रगतिशील और मूल्य सम्पन्न विचार तत्वों ने यूरोप के नवजागरण में भी योगदान दिया। औपनिवेशिक शासन की स्थापना ने इस प्रक्रिया को बाधित किया। भारत में विकसित होती हुई व्यापारिक पूँजीवादी शक्तियों को अवरुद्ध कर अंग्रेजों ने इसे एक सामंतशाही व्यवस्था में बदल डाला। अतएव पुनर्जागरण कालीन यूरोप में भारतीय बौद्धिक योगदान के साथ ही भारत एवं उपनिवेशों की अमानवीय लूट और क्रूर हत्याकांडों की घटनाओं को भी याद करना चाहिए। यूरोप के नवजागरण के साथ यह भारत का दोहरा रिश्ता है।

रामविलास शर्मा ने अपने बौद्धिक प्रक्रम एवं हस्तक्षेप से उपनिवेशवादियों एवं प्राच्यवादियों की भारत सम्बन्धी भ्रांत धारणाओं का खंडन कर इतिहास के एक महान असंतुलन को दूर करने का प्रयत्न किया। भारत विद्या के क्षेत्र में उनका यह योगदान अतुलनीय है।

संस्कृत काव्यधारा-रामविलास शर्मा की समीक्षा

राधावल्लभ त्रिपाठी

रामविलास शर्मा ने संस्कृत काव्य परंपरा पर समग्र भारतीय साहित्य के संदर्भ में विचार किया है। वे ऋग्वेद की कविता से इस विचार का उपक्रम करते हैं। ऋग्वेद प्रकृति और मनुष्य के अन्योन्याश्रय, पारस्परिकता और अभिन्नता का उदात्त चेतना के द्वारा काव्यमय आख्यान है। उषा, पर्जन्य, रात्रि, अरण्यानी आदि ऋग्वेद के सूक्तों में प्रकृति प्रतिक्षण नये-नये सौन्दर्य में अपने को ढालती चलती है। रामविलास शर्मा अंग्रेजी के रूमानी कवियों में शेली के भावोच्छ्वासों को ऋग्वेद के इस काव्य की ऊँचाइयों तक पहुँचता हुआ पाते हैं। प्रकृति यहाँ चेतन सत्ता बन जाती है। 'शेली भारतीय काव्य के सर्वाधिक निकट वहाँ हैं, जहाँ वे प्रकृति के ही तत्वों को सक्रिय होते, एक दूसरे को प्रभावित करते और समस्त प्रकृति को गतिशील बनाते देखते हैं। ऋग्वेद के सूक्तों में यह संबंध अनेक बार प्रदर्शित किया गया है, आधुनिक काल में निराला की प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्ति पूजा' में ये पाँच तत्व अद्भुत रूप से सक्रिय हैं। इनकी सक्रियता, इनके संबंधों का विमर्श भारतीय काव्य की विशेषता है। इस काव्य परंपरा से शेली के प्रकृति शिक्षण की तुलना करें तो यह निष्कर्ष उभरेगा कि इंग्लैंड के सारे कवियों में शेली सर्वाधिक भारतीय हैं।'

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास की कविता के आधार पर भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की एक नई रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। रामविलास शर्मा वैदिक काव्य में अवगाहन कर भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के उत्स की तलाश करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी दृष्टि से कालिदास जैसे क्लासिकी कवि के आकलन की समस्या पर विचार करते हुए 'कालिदास : साहित्य के

स्थायी मूल्यों की समस्या' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण और विस्तृत निबंध लिखा जो आलोचना-18 में छपा। निबन्ध के साथ आलोचना के तत्कालीन संपादक की निम्नलिखित टिप्पणी है -

'साहित्य के स्थायी मूल्यों की छानबीन करते हुए कालिदास की चर्चा करना स्वाभाविक है। वह भारतीय साहित्य के सबसे स्थायी कवि हैं। शताब्दियों से सहृदय का काव्य मर्मज्ञ उन्हें कविकुलगुरु कहते आए हैं। जिस समाज व्यवस्था में उनका जन्म हुआ था, वह नष्ट हो चुकी है या नष्ट-प्राय है, फिर भी उनका काव्य-सौष्ठव न तो नष्ट हुआ है, न भविष्य में नष्ट होता दिखायी देता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह काव्य-सौष्ठव समाज-निरपेक्ष है, वह ऐसे शाश्वत सौन्दर्य की व्यंजना है जो देशकाल की सीमाओं से परे है? क्या कालिदास की काव्य महिमा इस बात के लिए प्रबल तर्क नहीं है कि साहित्यकार को सामाजिक उथल-पुथल से दूर रहकर सौन्दर्य की एकान्त साधना करनी चाहिए?'

निश्चय ही रामविलास जी के निबन्ध का सारा स्वर इस संपादकीय टिप्पणी से भिन्न है। वे कालिदास की मीमांसा उनकी समाज निरपेक्षता के संदर्भ से नहीं, समाज से कवि के गहरे जुड़ाव और उसकी समकालिकता के संदर्भ में करते हैं।

रामविलास जी ने कालिदास के दो व्यक्तित्वों को रेखांकित किया है- एक तो वह जो प्रचलित समकालिक व्यवस्थाओं, मर्यादाओं और रूढ़ियों से सीमित या संकुचित कर दिया गया है, जो मर्यादा का इतना हिमायती है कि उससे रेखा मात्र भी हटना नहीं चाहता। पर उसके व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष है, जिसमें संकीर्ण नैतिकता और सामाजिक विधि-विधानों से परे उठकर कवि अपनी एक दुनिया रचता है।

द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद से प्रेरित समाजशास्त्रीय समीक्षा दृष्टि से कालिदास की समीक्षा करने वाले विद्वानों मे जर्मनी के वाल्टर रूबेन का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। रूबेन की पुस्तक 'कालिदास-दि ह्यूमन मीनिंग ऑफ हिज वर्क्स' के शीर्षक से स्पष्ट है कि वे कालिदास की कविता में आज के मनुष्य के लिए अर्थवत्ता देखते हैं। शर्मा जी की तरह पंडित वाल्टर रूबेन ने भी कालिदास की अपनी विशद समीक्षा में कवि कालिदास की काव्यचेतना के ये दो पक्ष सामने रखे थे। डॉ. शर्मा ने कालिदास के इन पूर्व और उत्तर दोनों पक्षों की और भी विस्तार और गहराई से छानबीन की है।

कालिदास के व्यक्तित्व की बनावट और रचना-संसार का एक वह पक्ष है, जिसमें सामंती संस्कृति की भव्यता, गरिमा और बौद्धिक प्रकर्ष भी सम्मिलित हैं और उसकी विकृतियाँ भी। निस्संदेह प्राचीन समाज व्यवस्था से उन्होंने बहुत कुछ पाया, किन्तु यह भी सही है कि इस व्यवस्था की, उसकी धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों की गहरी छाप उनके काव्य पर है, और यह सदा उसके उत्कर्ष में सहायक नहीं हुई। (आलोचना-18, पृ.14)

कालिदास की अर्थवत्ता, आज की हमारी सभ्यता के लिए, रूबेन ने दो दृष्टियों से देखी है-एक तो सार्वभौम मानवीय मूल्यों की अनुभूति देने की दृष्टि से, दूसरे संस्कृति-विशेष की उसकी निजता में पहचान कराने की दृष्टि से। रूबेन मानते हैं कि कालिदास-जैसे क्लासिकी कवियों को पढ़ने से मानव-जाति-उसके अतीत और भविष्यत-की नयी समझ मिलती है (रूबेन, पृ.6) यह समझ हमें अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और विश्व-बंधुत्व की दिशा में आगे ले जाती है। इसलिए रूबेन जैसे भारतीय विद्या के पश्चिमी अध्येताओं के लिए कालिदास उस संस्कृति के प्रतीक और प्रवक्ता के रूप में भी ग्राह्य हैं, जो विश्व को एक नीड़ होते देखना चाहती हैं। उनके माध्यम से विभिन्न संस्कृतियों का अपना-अपना वैशिष्ट्य और उनकी एकता प्रकट करने वाले समान तत्व-दोनों जाने जा सकते हैं।

रूबेन मानते हैं कि मौर्यकालीन समाज दासता-प्रधान समाज था जो गुप्तकाल में-आकर सामंती समाज में-संक्रांत हो गया था। वाल्मीकि की कविता दास-समाज की छवि प्रस्तुत करती है और कालिदास की सामंती समाज की। फिर भी कालिदास में वाल्मीकि के समाज के रूपांतर होने का बोध तीव्रता से नहीं हो पाता तो इसका कारण यह है कि भारत में परिवर्तन की रफ्तार धीमी रही है। फिर भी कालिदास में सामाजिक चेतना थी, जिसका प्रमाण यह है कि स्वयं ब्राह्मण समाज पर ही व्यंग्य किया है।

रूबेन बौद्ध, जैन, औपनिषदिक परंपरा तथा पुराण का कवि पर विशेष प्रभाव देखते हैं। मालविकाग्नि मित्र की परिव्राजिका को वे बौद्धभिक्षुणी मानते हैं।

रूबेन की दृष्टि में कालिदास के कृतित्व की उपलब्धि यह है कि अपने संपूर्ण परिवेश से प्रभावित होकर और उसे आत्मसात् करके उसने अपनी सर्जना को मनुष्य के चरित्र की अर्थवत्ता की खोज में लगाया। इसलिए यह समझना भूल होगी कि कालिदास अपने इतिहास से अप्रभावित रहे। उनके व्यक्तित्व की बनावट में भारतीय सामाजिक-

आर्थिक व्यवस्था और समाज-संरचना का योग अवश्य ही रहा है।

रघुवंश एक महान् वंश के क्षय के साथ समाप्त होता है। कवि ने उसके द्वारा सामंतवाद के क्षय का ज्वलंत चित्र उपस्थित किया है। रघुवंश में दिलीप से कुश तक के चरित्र मिथकीय हैं, कुश के बाद अग्निवर्ण तक के ऐतिहासिक। कालिदास मिथकीय और ऐतिहासिक दोनों प्रकार के चरित्रों को द्वंद्व में आमने-सामने रख कर दोनों का तारतम्य प्रदर्शित करते हैं। (वही, पृ. 58)

इस प्रकार कालिदास समकालीन सामंती समाज से प्रभावित होकर भी उसके ढाँचे में ही सीमित नहीं रह गये हैं। रूबेन ने सामंतीय समाज की स्थितियों का प्रतिबिंब कालिदास में अनेकत्र देखा है, यहाँ तक कि पुरूरवा के वैदिक आख्यान को विक्रमोर्वशीयम् में जो रूप दिया गया है उसमें भी उन्हें सामंती संस्कृति की छवि दिखायी दी है। फिर भी वे कालातिक्रांति-क्षमा प्रतिभा के लिए कालिदास को गौरव और आदर देते हैं।

रूबेन ने अपनी पुस्तक 1955-56 में लिखी थी। लगभग इसी समय रामविलास शर्मा की कालिदास पर विस्तृत समीक्षा प्रकाशित हुई। सम्भवत: दोनों विद्वानों ने एक-दूसरे का काम नहीं देखा, पर उनके दृष्टिकोण और समीक्षा के स्वर एक-दूसरे के बहुत करीब हैं।

वाल्टर रूबेन की तरह डॉ. शर्मा ने कवि कालिदास के व्यक्तित्व की बनावट और समग्र कृतित्व की संरचना पर समकालिक समाज का गहरा असर देखा है। कालिदास प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था के हामी हैं। वैदिक समाज की संस्कृति के उषाकाल में पनपी उदात्त और उदार भावनाएँ उनके समय में आकर विपरिवर्तित हो गयी हैं। कहाँ तो 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या:' की बात और कहाँ 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की। रूबेन ने इसी को आदिम समाज से दासता प्रधान समाज और उससे फिर सामंती समाज की संक्रांति कहा है। डॉ. शर्मा कालिदास की कविता के कई प्रसंग उद्धृत कर भोगवादी सामंती समाज की प्रतिच्छवि उसमें दिखाते हैं। सरस्वती चारणों के कंठ में बैठकर एक राजा (रघु) की स्तुति करती है। पृथ्वी की तरह नारी भी सुखोपभोग का एक साधन बन गयी है। कालिदास की कविता में पण्य स्त्रियाँ हैं, पुरुषों को रिझाती-मनाती मदविह्वला नारियाँ हैं। उनकी कविता में प्रतिबिंबित व्यवस्था एक अभ्युदयशील व्यवस्था नहीं, रूढ़ व्यवस्था है।

इस प्रकार डॉ. शर्मा की दृष्टि में कालिदास की रचना का एक पक्ष वह है जो

अपने समय के दबावों से आक्रांत और संकुचित हुआ है। केवल भोगवादी सामंती संस्कृति ही नहीं, योग, दर्शन, चिन्तन के क्षेत्र में भी क्रमशः संकीर्ण होती दृष्टि की छाप महाकवि पर पड़ी है। सामंती व्यवस्था उनके समय में परिपक्व हो चुकी है और उसने कवि चेतना को सीमित किया है। राजा के ईश्वरत्व की अवधारणा तथा अवतारवाद को वाल्मीकि के मानवतत्व के स्थान पर इसमें प्रतिष्ठा मिली है। डॉ. शर्मा का कहना है, कालिदास की सामाजिक विचारधारा–प्रजा आदि के सम्बन्ध में वाल्मीकि और व्यास से पिछड़ी हुई है, उसी तरह योग के विषय में भी उनका दृष्टिकोण उपनिषदों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। आगे चलकर तुलसीदास ने इसी चमत्कारवाद का प्रबल विरोध करके अपना भक्तिमार्ग प्रतिष्ठित किया था। (वही) तथा वाल्मीकि की तरह वे (कालिदास) अपने आदर्श पात्रों के मानवत्व का घोष गान नहीं करते–'देव–सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः' (आलोचना–18, पृ.14)

डॉ. शर्मा की दृष्टि में कालिदास ने तप का अर्थ शरीर को कष्ट देना दर्भांकुर वृत्ति मात्र होना मान लिया है। यहाँ ऐसा लगता है कि कालिदास के समय की सीमाओं को डॉ.शर्मा ने कवि पर बलात् आरोपित कर दिया है। कालिदास अपने युग की दुर्बलताओं और संस्खलन का चित्रण जहाँ करते हैं, वहाँ वे उसे पूर्वपक्ष के रूप में चित्रित करते हैं, उसके उत्तरपक्ष के रूप में वे आश्रमों की संस्कृति और कण्व, वाल्मीकि तथा कश्यप जैसे ऋषियों की तेजस्विता को सामने लाते हैं। कालिदास वाल्मीकि की बात को आगे ले जाते हुए मनुष्य को देवता के आगे चुनौती बनकर खड़ा होता हुआ भी दिखाते हैं। उनका रघु इन्द्र से कह सकता है – 'ग्रहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते, न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्'। पहले रघु को जीत लो, तभी अपना यह अन्याय करना। कालिदास की दृष्टि में तो ईश्वर भी मनुष्य की भूमि पर उतर कर धन्य होता है। संपूर्ण कुमारसंभव का कथ्य यही है। रही बात कठोर तपश्चर्या की शरीर को कष्ट देने वाले तपस्वियों के समानांतर शाकुन्तलम् में काश्यप का जो वैभवशाली गरिमामय स्वरूप है, उस पर भी शर्मा जी को ध्यान देना चाहिए था।

उन्होंने कवि को समकालीन भोगवादी संस्कृति से जितना प्रभावित पाया है, वह कवि का पूर्ण सत्य नहीं है। डॉ. शर्मा स्वयं भी इस बात को समझते हैं। इसलिए वे कवि के दूसरे पक्ष की भी विस्तार से मीमांसा करते हैं, जिसमें कवि इस कथित भोगवाद पर टिप्पणी या प्रतिक्रिया देता है। रघुवंश का अंत विलासी

अग्निवर्ण के अवसान से दिखाना कवि का सारी व्यवस्था पर अत्यंत साहसपूर्ण मार्मिक टिप्पणी है। रघुवंश में इतने महान् वंश का यह अध:पतन चित्रित करने के पीछे कवि की निर्भीक और निर्लिप्त दृष्टि की सराहना रूबेन ने भी की है और डॉ. शर्मा भी यही कहते हैं।

रघुवंश को उनकी अन्तिम रचना माना जाता है। यदि वह सत्य है तो अग्निवर्ण का अन्त कालिदास की अन्य रचनाओं में वर्णित भोगवाद पर अच्छी टिप्पणी है। यह रोग उस समाज-व्यवस्था में लग चुका था, जिसमें एक अवकाश भोगी वर्ग दूसरों की अर्जित सम्पत्ति के बल पर भोग (और योग) के सिवा दूसरी बात सोच ही नहीं सकता था। उस रोग का जो परिणाम हुआ, उसे भारतीय इतिहास का हर विद्यार्थी तरह जानता है। (वही, पृ. 12)

यहीं आकर डॉ. शर्मा अपनी समाज शास्त्रीय सचेत दृष्टि से कालिदास की उपलब्धियों और उनकी कविता की प्रासंगिकता को उद्घाटित कर पाये हैं-कालिदास की कविता एक पूर्ण विकसित सामाजिक व्यवस्था का जितना प्रतिबिंब है, उतनी ही बड़ी वह उसकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों और निर्जीव रूढ़ियों की प्रतिक्रिया भी है। (वही.पृ.14)

समकालीन समाज और उसके अपक्षय पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने की कालिदास की पद्धति अपनी है। यह एक रचनाकार की पद्धति है।

इस प्रकार अपने समय से कालिदास की मुठभेड़ उसके समानान्तर एक भिन्न जगत् खड़ा करने की प्रक्रिया में भी होती है-'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।' कालिदास की यह समानान्तर दुनिया तपोवनों और निसर्ग की दुनिया है। वे नगर संस्कृति की विकृतियों और कृत्रिम चाकचिक्य या आडंबर के समानान्तर निसर्ग के सहज सौंदर्य के बिम्ब रचते हैं। इसलिए आज के आलोचक की शब्दावली में वे रोमांटिक कवि कहे जा सकते हैं। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने मेघदूत को संस्कृत कविता में रोमांटिक युग का प्रवर्तन करने वाली कृति बताया था। (इंडिया इन कालिदास, पृ.288) डॉ. शर्मा इसमें अपनी बात जोड़ते हुए कहते हैं कि निस्संदेह रूप से कालिदास एक महान् रोमांटिक कवि हैं, और विश्व के प्रथम रोमांटिक कवियों में से एक हैं। उनकी रूमानियत अपने समय से पलायन करके सौंदर्य के लोक में मुँह छिपाने का साधन नहीं है। उसमें सार्वभौम मनुष्यता के प्रति अनुराग, करुणा और साहस तथा विश्व-दृष्टि ने इस रूमानियत को भारतीय

साहित्य में अप्रतिम बनाया है। डॉ. शर्मा ने पश्चिमी कवियों की तुलना मे कालिदास के काव्य में व्यक्त रूमानियत में उदात्तता देखी है–कालिदास की करुणा मानव ही नहीं, जीवमात्र को अपने अन्दर समेट लेती है। इस करुणा का स्रोत दया नहीं है, उसका स्रोत व्यापक जीवन के प्रति गम्भीर अनुराग है। पाश्चात्य रोमांटिक कवियों में रूप–रस–गन्धमय मानवीय और प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति अतिशय अनुराग है और कभी–कभी उसके साथ अतीन्द्रिय, अगोचर विश्वव्यापी चेतना की उद्भावना भी है। कालिदास के लिए रूप–रस–गन्धमय सौन्दर्य निर्जीव नहीं है, न यह अतीन्द्रिय चेतना की ओर ही काल्पनिक उड़ान भरते हैं। वह सूक्ष्म इन्द्रिय–बोध और मार्मिक करुणा से समृद्ध जीवन के अद्वितीय कवि हैं। इस दृष्टि से उनकी रोमांटिक भावधारा एक अन्य और उच्चस्तर की है। गोचर जगत् के समृद्ध जीवन के प्रति वह सघन अनुराग अवश्य ही साहित्य का स्थायी तत्व है। (वही)

कालिदास ने स्वैर यौनाचार और भोगवादी संस्कृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया में अपनी रचनाओं में स्त्रीत्व और दाम्पत्य को प्रतिष्ठा दी है। उन्होंने पत्नी को गृहिणी, सचिव, सखी, प्रिय शिष्या और पुरुष के लिए सब कुछ माना। इंदुमती के द्वारा अज का वरण करने में भी स्त्री की स्वतंत्रता का उद्घोष छिपा है। स्त्री को भोग्या और पण्य बनाने वाली संस्कृति के विरुद्ध सुस्पष्ट मंतव्य देते हैं, जब वे कहते हैं–स्त्री– 'पुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् या क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पन्नयो मूलकारणम।' अग्निवर्ण का अन्त क्षयग्रस्त सामन्तवाद पर प्रभावशाली टिप्पणी है, जिसकी ओर रूबेन और डॉ. शर्मा की मान्यता है कि दुर्वासा की अपेक्षा शकुन्तला के प्रति सहानुभूति भी कवि की रूढ़ियों से टकराहट को द्योतित करती है। (वही, पृ.17)

कालिदास में भारतीय कविता की रूमानी परिपक्व रूप में प्रकट हुआ है। यहाँ चन्द्रमा की किरणें जौ के अंकुरों की तरह धरती पर उगती हैं या वृक्ष की पत्तियों से टुकड़े-टुकड़े छनकर गिरती हैं, तो उन्हें उठाकर कर्णफूल की तरह सजाने का मन होता है। कुमार सम्भव के आठवें सर्ग की इस सौन्दर्यानुभूति को लेकर डॉ. शर्मा ने कहा है – 'रोमांटिक शृंगार भावना की यह चरम परिणति है।' उन्होंने कालिदास में प्रकृति के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध और जीवनक्रिया की तन्मयता पायी है। दरबारी संस्कृति के समानान्तर जीवन का यह अकलुष नैसर्गिक रूप दिखाना कवि की उपलब्धि है, जिसके कारण समीक्षक यह कहने को विवश हुआ है–विलास और वैभव का यह कवि धरती के इतना निकट है,

जितना कोई भौतिकवादी कवि नहीं हुआ।

कालिदास की प्रतिभा ने एक ही समय की भव्यता और गरिमा को भी आत्मसात् किया और उसमें निहित पतन के बीजों को भी। चिन्तन की दृष्टि से कालिदास का झुकाव शैव दर्शन की ओर प्रतीत होता है। रूबेन उनमें शैव और वैष्णव सम्प्रदायों का द्वन्द्व देखते हैं, इसकी बजाय डॉ. शर्मा की दृष्टि अधिक सही है। वे कवि की ऐहलौकिक-आस्था या भौतिक जीवन के प्रति लगाव को उनकी शैव-आस्था के प्रति कारण मानते हैं। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल की हर जगह आध्यात्मिक गूढ़ अर्थ खोजकर देखने की दुरारूढ़ व्याख्या पद्धति को वे अरविन्दवादी कवियों के लिए उपयुक्त मानते हैं, कालिदास जैसे शैव कवि के लिए नहीं।

कालिदास की कविता में मानवीय मूल्यों तथा करुणा के अजस्र प्रवाह को लेकर डॉ. शर्मा ने जो बातें कहीं हैं, वे कालिदास की समीक्षा में उनके प्रदेय को रेखांकित करती हैं अपने समय से कवि के जूझने की प्रक्रिया में शर्मा जी ने द्विविध पद्धति देखी है- अपने परिवेश के समानान्तर नये विश्व की रचना तथा अतीव का स्वप्न देखना। पर यह स्वप्न एक प्रबुद्ध और द्रष्टा कवि का है, अतीतोपजीवी व्यक्ति का नहीं।

इस प्रकार अपने युग की उपलब्धियों की समझ, उसकी विकृतियों पर प्रतिक्रिया तथा अतीत की ओर दृष्टि के साथ कालिदास अपने साहस के द्वारा भविष्य का पथ आलोकित करते हैं। यह उनका साहस ही है कि उन्होंने सीता-परित्याग के अन्याय के लिए राम को क्षमा नहीं किया है। वाल्मीकि के मुख से सीता के प्रति कहे गये शब्दों के द्वारा कवि ने अपना मंतव्य स्पष्ट व्यक्त कर दिया है - 'तुम्हारे प्रति बिना कारण इस कलुषित व्यवहार करने के कारण राम के प्रति मैं कुपित हूँ।' रूबेन ने कालिदास के इस साहस को समग्र भारतीय साहित्य में अप्रतिम माना है। डॉ. शर्मा का भी निष्कर्ष यही है। वे कहते हैं - 'वाल्मीकि ही राम पर क्रोध कर सकते थे और कालिदास ही उसके बारे में यों लिख भी सकते थे।' (वही, पृ.24)

मेघदूत में भारत के ग्रामों और नगरों की छवि, स्वयंवर के बहाने सारे देश के वैभव और वैशिष्ट्य का उत्कीर्णन- इन सबको दृष्टि में रखकर डॉ. शर्मा का निष्कर्ष है-कालिदास के मानववाद में देशभक्ति के बीज हैं (वही, पृ.19)। यह टिप्पणी हमें आचार्य रामचन्द्रशुक्ल के मेघदूतविषयक मंतव्य का स्मरण कराती है। उन्होंने मेघदूत को भावुक मन से निस्सृत राष्ट्रीय कविता कहा था।

डॉ. शर्मा द्वारा कालिदास के इस मूल्यांकन में कवि की उपलब्धियों की दृष्टि से ये पक्ष विशेष रूप से सामने आते हैं-एक-अपने युग की समग्र बौद्धिक प्रखरता और भास्वर उपलब्धियों को आत्मसात् करके कविता में उनके अभिप्रायों का सार्थक अन्विति के साथ उपस्थापन, दो-सार्वभौम मानवीय दृष्टि और करुणा, तीन-सामन्ती अपक्षय के समानान्तर उदात्तता, सौन्दर्य और मानवीय मूल्यों की रक्षा करते हुए समानान्तर विश्व का सर्जन, चार वर्तमान की प्रतिक्रिया में अतीत का सिंहावलोकन, पाँच-साहस। ये सभी पक्ष कवि की रचनात्मकता से अनुप्राणित हैं और एक-दूसरे से जुड़े हैं। वे अपने युग की विसंगतियों के प्रति कालिदास की साफ दृष्टि और समझ को रेखांकित करते हैं।

कालिदास ने अपने युग को देखा, परखा और पहचाना है, उसकी कमजोरियाँ एक अनिवार्य प्रक्रिया में उनके रचना विश्व में संक्रांत हुई हैं। पर कालिदास का युग एक हमारी संस्कृति की महत्तम उपलब्धियों का युग था। ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में हमने इसी युग में अभूतपूर्व प्रगति की। इसे हम सामंतवाद की उपलब्धियों का शिखर भी कह सकते हैं, जहाँ से संस्खलन की ढलान भी शुरू होती है। रूबेन और शर्मा दोनों ने अपनी कालिदास-समीक्षा में इस तथ्य को दृष्टि में रखा है।

कुल मिलाकर डॉ. शर्मा की समीक्षा का निष्कर्ष यह है कि अपने युग के संदर्भ में कालिदास ने प्रभाव ग्रहण की अनिवार्य प्रक्रिया के भीतर रहकर जो दिया है वह हमारे लिए आज प्रासंगिक नहीं है। पर अपनी प्रतिभा, युग-दृष्टि और साहस के द्वारा जहाँ वे युग का अतिक्रमण करते हैं, वहाँ साहित्य के स्थायी मूल्यों की सृष्टि करते हैं। कालिदास का युग इतना महान् था कि उसकी परिपक्व व्यवस्था ने कवि की चेतना को विकसित भी किया और सीमित भी। भवभूति तक आते-आते शुंगकाल या गुप्तकाल की सामंतीय व्यवस्था में ह्रास स्पष्ट दिखायी देने लगा था। इसलिए भवभूति अपने युग की सीमाओं को अपेक्षाकृत आसानी से ध्वस्त कर सके तथा उनमें एक स्तर पर मानवत्व की प्रतिष्ठा भी अधिक सप्राणरूप में है। डॉ. शर्मा कहते हैं -

'डंकन की हत्या करने वाले मैकवेथ के प्रति दर्शक में सहानुभूति उत्पन्न करना अपेक्षाकृत सरल कार्य था, सीता को निकालने वाले राम के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना प्रायः असंभव। यह कार्य वाल्मीकि ने नहीं किया, कालिदास ने नहीं

किया। उस प्राय: असम्भव कार्य को भवभूति ने सम्भव कर दिखाया। (परम्परा का मूल्यांकन : डॉ. रामविलास शर्मा, पृ.42 नाटककार भवभूति शीर्षक लेख)

कहना न होगा कि यह मूल्यांकन एक पक्ष की दृष्टि से अधिक है। जब साहित्य की सम्पूर्ण परम्परा के संदर्भ में डॉ. शर्मा कालिदास को जाँचते हैं, तो वे उसी निष्कर्ष पर आते हैं, जिस पर आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की महनीय परम्परा पहुँची थी-अर्थात् वाल्मीकि और व्यास के बाद कालिदास एक परम्परा के सबसे बड़े कवि हैं। पर इस एक परम्परा के बाहर कालिदास को देखें, तो हम उन्हें कहाँ रखेंगे?

उनकी अपनी मेधा, सहृदयता, जीवन-दर्शन की क्षमता अपना पूर्ण चमत्कार दिखलाती है। इसी कारण उस युग का और उस समाज-व्यवस्था का कोई भी कवि कालिदास को नहीं पाता। वाल्मीकि और व्यास ही इसके अपवाद हैं। उनकी तुलना में कालिदास का काव्यजगत् संकुचित है। वह उदात्त चरित्र-निर्माण में अक्षम हैं। यद्यपि उन्होंने नाटक रचे हैं, फिर भी उनकी प्रतिभा मुख्यत: एक सौन्दर्योपासक लिरिक कवि की है। मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण चित्रण के बिना कोई भी कवि व्यास और वाल्मीकि की बराबरी नहीं कर सकता। मनुष्य का अपना अनुभव जितना समृद्ध होता है, उतना ही समृद्ध वह साहित्य भी चाहता है। कालिदास की रोमाण्टिक कल्पना, उनका सूक्ष्म सौन्दर्य दर्शन हमारे लिए काफी नहीं है। तुलसीदास ने मध्यकालीन समाज के साधारण जनों की जिस व्यथा को पहचाना है और उसे वाणी दी है, उससे कालिदास स्वभावत: अपरिचित थे। महाभारत और रामायण में मनुष्य की विजय में जो उद्दाम आशा प्रकट की गयी है, करुणा के साथ अन्यायी को दे देने के लिए जो संघर्ष प्रतिभा व्यंजित हुई है, श्रृंगार के अतिरिक्त मनुष्य के भावजगत् का जो विविध और गम्भीर चित्रण हुआ है, कालिदास के लिए सुलभ नहीं है। (वही.25)

कालिदास विषयक समीक्षा में रामविलास शर्मा ने बहुत कुछ नया जोड़ा है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के बाद वे कालिदास के समीक्षकों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं।

कीट्स और शेली जब काव्य रचना कर रहे थे, तब कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तलम् अनूदित हो कर यूरोप में पहुँच चुका था। शर्मा जी ने कालिदास के रोमांटिक काव्य की बहुत बढ़िया मीमांसा की है। उन्हें यह विचार करने का

कदाचित् अवसर नहीं मिला कि क्या यूरोप के इन दोनों महान् कवियों पर कालिदास की कविता का प्रत्यक्ष या परोक्ष असर आया? अपनी पुस्तक शेली और मार्क्स में शर्मा जी शेली की कविता का आकलन वैदिक काव्य की भावधारा के आसंग में करते हैं। कालिदास के संदर्भ से इस चर्चा को और भी मार्मिक बनाया जा सकता था। पर शर्मा जी कालिदास पर अधिक टिके नहीं रहे, संस्कृत के एक दूसरे महाकवि– भवभूति–ने उन्हें अपनी तरफ ज्यादा खींचा। भवभूति की अपनी समीक्षा में वे कुछ और उन्मुक्त और उदार भाव से कवि के रचनासंसार में पैठते हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य अरस्तू ने त्रासदी और महाकाव्य को काव्यविधाओं में सर्वोच्च स्थान दिया था। कॉमेडी या सुखांत नाटक को उसने गंभीरता से नहीं लिया। उसका कहना था कि त्रासदी उत्कृष्ट मानव के चरित्र का अनुकरण करती है जबकि कॉमेडी निकृष्ट लोगों का। अरस्तू की दृष्टि में त्रासदी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह जीवन का श्रेष्ठ रूप प्रस्तुत करती है। अरस्तू की त्रासदी के नायक की अवधारणा अंशत: नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा में धीरोदात्त नायक की अवधारणा को स्पर्श करती है। कम से कम महासत्त्व, उच्चकुल, गाम्भीर्य तथा संपत्ति और कीर्तिमान आदि लक्षण धीरोदात्त नायक तथा त्रासद नायक पर समानतया लागू होते हैं।

अतएव नाट्यशास्त्रीय शब्दावली में त्रासदी को परिभाषित करना हो तो कह सकते हैं कि करुणरसप्रधान नाटक त्रासदी है। अरस्तू ने त्रासदी या करुणरसप्रधान नाटक को इतनी अहमियत दी तो सहज ही प्रश्न उठता है कि क्या नाट्यसाहित्य की इतनी संपन्न विरासत और नाट्यशास्त्रीय लक्षण चिंतन की सुदीर्घ परम्परा के रहते हमारे यहाँ करुणरसप्रधान नाटकों की परिकल्पना नहीं थी? भरत के नाट्यशास्त्र की परम्परा तो इस प्रश्न का तत्काल सीधा और सकारात्मक उत्तर प्रस्तुत करती है। करुणरसप्रधान नाटक की अवधारणा तो इस परम्परा में थी ही रूपकों के भेदों में ऐसे नाट्यप्रकार का समावेश करके उसे विधिवत् परिभाषित भी किया गया था। रूपक के दस प्रमुख भेदों में ही सदैव? उत्सृष्टिकाङ्क की गणना की जाती रही है। भरत के प्रमुख भाष्यकार आचार्य अभिनवगुप्त बताते हैं कि इस रूपक प्रकार की? उत्सृष्टिकाङ्क संज्ञा इसलिए पड़ी कि इसमें अपने स्नेही बांधवों की मृत्यु पर विलाप करती स्त्रियों के प्राण दु:खावेग से निकले पड़ने को होते हैं। उत्सृष्टिकाङ्क में वाग्व्यापारप्रधान भारतीय वृत्ति का प्रयोग अधिक होता है शेष तीन वृत्तियों का

कम। उसकी ये विशेषताएँ इस रूपकप्रकार को ग्रीक त्रासदी के बहुत निकट ला देती हैं। संस्कृत नाट्य-परम्परा में उत्सृष्टिकाङ्क का एक उत्कृष्ट उदाहरण भास का 'उरुभङ्ग' है। मृत्यु शैय्या पर पड़ा हुआ जंघाएँ टूट जाने से अपने नन्हें बेटे को गोद में उठाने या सामने अपने माता-पिता के सम्मुख उठकर अभिवादन करने में असमर्थ ऊरुभङ्ग का नायक अपनी गरिमा, उदात्तता, कुलीनता, अपनी भूलों पर पश्चात्ताप तथा अश्वत्थामा और बलराम को बदला लेने से रोकने में अभिव्यक्त अपनी उदारता में ग्रीक त्रासदी के ही नहीं विश्वनाट्य साहित्य की सर्वोत्कृष्ट त्रासदियों के नायकों के समकक्ष आ बैठता है। भय, आतंक, क्षोभ, दु:ख आदि का उद्रेक इस रूपक में त्रासदी के अनुरूप ही हुआ है। ऊरुभङ्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई उत्सृष्टिकांक संस्कृत में रचे गये।

आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य वामन तो स्पष्टया साक्ष्य देते हैं कि करुणरसप्रधान रूपकों की परम्परा उनके समय विद्यमान थी और यही नहीं इस परम्परा के अपने प्रत्यक्ष अनुभव के कारण वामन यह भी बताते हैं कि रस का अनुभव एक सम्प्लवात्मक अनुभव है-उसमें सुख-दुख का सम्प्लव (गड्डमड्ड होना) रहता है।

भवभूति रस के सम्मिश्र अनुभव को अपने कर्तृत्व से रेखांकित करते हैं। सुख में दु:ख के अनुवेध का सीधी सपाट समझी गयी अनुभूति की जटिलता का इतनी तीव्रता से बोध संस्कृत कविता में अन्यत्र कहीं नहीं होता जितना भवभूति में।

प्रकरण को आचार्यों ने क्लेशाढ्य विधा कहा है। प्रकरणों के पात्र त्रासदी के नायकों की तरह कष्ट झेलते हैं।

रामविलास शर्मा ने भवभूति पर बड़े मनोयोग से लिखा है। उन्होंने भवभूति के नाटकों में ट्रेजेडी के भारतीय संदर्भों को सत्यापित किया है। 'यूनानी नाटकों में ट्रेजेडी सुखान्त भी होती है। अंग्रेजी आलोचक सुखान्त ट्रेजेडी को ही 'ट्रेजी-कामेडी' कहते हैं।' (परम्परा का मूल्याङ्कन, पृ. 30)। शर्मा जी भवभूति की करुणरसदर्शन को ट्रेजी-कामेडी का अवधारणा से जोड़ कर देखते हैं। न्यायव्यवस्था के साथ व्यक्ति की टकराहट और मनुष्य का जीवनसंघर्ष भवभूति के करुणरस अथवा ट्रेडीकामेडी के बोध को तीव्रता प्रदा करता है। शर्मा जी ने यह सत्य ही कहा है कि देवनिरपेक्ष न्यायव्यवस्था के मनुष्य के टकराव का कारुणिक चित्रण कर के भवभूति ने साहित्य जगत् में वह कार्य कर दिया था, जो उनके बाद शेक्सपीयर ने

किया (अलबत्ता असावधानी में वे भवभूति को शेक्सपीयर के नौ सौ साल पहले का बता देते हैं, जो चार सौ साल पहले होना चाहिये - परम्परा का मूल्याङ्कन, पृ. 31)। वे इन दोनों बड़े कवियों की उनके अनोखेपन में भी पहचान करते हैं 'प्रसार ...यथार्थ की विविधता मनोवैज्ञानिक सूझबूझ, चरित्र निर्माण की वास्तविकता, में यद्यपि शेक्सपीयर आगे हैं, तथा भी गहराई ...शोकानुभूति की तीव्रता, करुणरस ही नहीं, वात्सल्य आदि सुकुमार भावों की पराकाष्ठा ...में भवभूति आगे हैं।' (वही, पृ. 43)। वे मानते हैं कि 'भारतीय साहित्य में भवभूति का आविर्भाव विश्वसाहित्य में नये युग का सूत्रपात है।' (वही, पृ. 44)।

भवभूति की समीक्षा करते हुए रामविलास शर्मा ने आलोचक के रूप में जो ऊँचाई हासिल की है, नौसिखियों समीक्षकों को उससे सीखने की ज़रूरत है। शर्मा जी किंग लियर, ओथेलो और हेमलेट के कारुणिक उद्गारों के सामने भवभूति के उत्तररामचरित में राम के हहराते अपार करुणापारावार को रखते हैं। उनका कहना है कि भवभूति शेक्सपीयर के इन तीनों नायकों के उद्गारों को अपनी गहनता में निमज्जित कर लेते हैं। यही स्थिति भवभति के मालतीमाधव में नायक माधव के कथनों की है।

भवभूति का मालतीमाधव प्रकरण कोटि का रूपक है। प्रकरण को आचार्यों ने क्लेशाढ्य विधा कहा है। प्रकरणों के पात्र त्रासदी के नायकों की तरह कष्ट झेलते हैं। शर्मा जी ने मालतीमाधव का भवभूति के निजी जीवन, उनके समकाल तथा उनके समय की सामाजिक राजनैतिक स्थितियों के संदर्भ में जो विश्लेषण किया है, वह भवभूति के काव्यसंसार के अछूते पक्ष उजागर करता है। उत्तररामचरित की अपनी समीक्षा में भी समीक्षा के अपने औजारों को पैनेपन के साथ भवभूति के भावसंसार की गहराई ही नहीं, भवभूति के सामाजिक सरोकारों की भी अच्छी पड़ताल करते हैं।

संदर्भ

1. शर्मा, डॉ. रामविलास: कालिदास: साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या, आलोचना-18 (5.2) अप्रैल 1956
2. वही, नाटककार भवभूति, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली 1981
3. वही, कालिदास : सामाजिक भूमिका, विश्वमानव खंड-38, मार्च-अप्रैल, 1981
4. रूबेन,वाल्टर, कालिदास-दि ह्यूमन मीनिंग ऑफ हिज वर्क्स, पीपुल्स प. हाउस, नईदिल्ली, 1984

रामविलास शर्मा का अर्थशास्त्रीय चिन्तन-लेखन

रविभूषण

''विश्व पूँजीवाद के संकटकाल में केन्द्रबद्ध, सुनियोजित अर्थतंत्र को समाजवादी व्यवस्था की विशेषता कहकर उसकी खूब ले-दे हुई है। वास्तव में भारतीय इतिहास के अनेक गौरवशाली युगों का संबंध इस अर्थतंत्र से है। इनमें सबसे पहले आता है हड़प्पा सभ्यता का युग। यह युग उस समय के सबसे बड़े राज्य में केन्द्रबद्ध राज्य सत्ता और सुनियोजित अर्थतंत्र का युग है, इस तथ्य को उजागर करने का श्रेय पुरातत्वज्ञ पिगॉट को है।'' (पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद, 1994, प्रस्तावना, पृ. 19)

''आदिम साम्यवादी व्यवस्था में जो मानव समुदाय संगठित होता है, उसे हम 'गण' कहते हैं। यह गण चाहे पशुपालन करे, चाहे खेती करे, जो भी सम्पत्ति होती है, उस पर सारे गण का अधिकार होता है। यदि गण छोटा हुआ तो सभी लोग मिलकर श्रम करेंगे... गण के अनेक घटक अलग-अलग खेती करते हैं। इस घटक को 'गोत्र' कहते हैं... यह गोत्र आर्थिक घटक होता है क्योंकि लोग मिलकर उत्पादन का काम करते हैं। यह सामाजिक घटक भी होता है।'' ('भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद', 1992, पृ. - 29)

''ब्रिटिश-पूर्व भारत के सामाजिक विकास की परख के लिए व्यापारिक पूँजीवाद की पहचान जरूरी है। मार्क्सवाद के रूढ़ि-मुक्त अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है व्यापारिक पूँजीवाद।'' - (वही, पृ. - 62)

''मुनाफा कमाने के लिए बड़े पैमाने पर मशीनी उत्पादन-यह औद्योगिक पूँजीवाद की विशेषता है। यह पूँजीवाद पुरानी व्यवस्था का नाश करता है, लेकिन पूरी तरह नहीं।''- (वही, पृ. - 96)

''पूँजीवाद की शुरुआत सूदखोरी से होती है, उसका खात्मा भी सूदखोरी से होता है। महाजनी पूँजीवाद के युग में दुनिया दो तरह की जातियों में बँट जाती है। एक सूद लेनेवाली जातियाँ, दूसरी सूद देने वाली जातियाँ। महाजनी पूँजी उद्योग-धंधों को अपने अधीन कर लेती है। बड़े-बड़े पूँजीवादी संघ बनाकर उत्पादन और वितरण पर इजारा कायम करते हैं। कच्चे माल के स्रोतों और तैयार माल की बिक्री के बाजारों पर कब्जा कर लेती है। पूँजी के अन्तरराष्ट्रीयकरण और केन्द्रीकरण में वृद्धि होती है।'' (वही, पृ. - 130)

''दर्शन, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र ये सभी तो जीवन सापेक्ष हैं। सभी प्रकार के शास्त्र, साहित्य और दर्शन जो भी सैद्धान्तिक मान्यताएँ विकसित करते हैं, उनका उद्गम भी जीवन यथार्थ ही है। इसलिए ज्ञान की ये स्थितियाँ एक-दूसरे के भीतर और बाहर दोनों तरह संचरण करती हैं।''- ('आज के सवाल और मार्क्सवाद', 2001, पृ. - 78)

रामविलास शर्मा की 1933 से 2012 तक लिखित, अनूदित और सम्पादित जो 112 पुस्तकें हैं, उन सबका अभी तक किसी ने गंभीरतापूर्वक अध्ययन नहीं किया है। विवेचन-विश्लेषण की बात बाद की है। उनके लेखन में 'एकात्मकता, अंत:संबद्धता और अंत:सूत्रता' है। उनके अर्थशास्त्रीय चिंतन-विवेचन पर भी सम्पूर्णता में कोई गंभीर विचार नहीं हुआ है। 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' (1986) के प्रकाशन के बाद नामवर सिंह ने उसी वर्ष यह किताब वीरभारत तलवार को ''आलोचना में समीक्षा'' लिखने के लिए दी थी। यह समीक्षा 'एक किताब जितनी लम्बी हो गई'। रामविलास जी ने इस पुस्तक के चौथे अध्याय में 'प्राचीन और मध्यकालीन भारत : पगारजीवी श्रम की भूमिका' पर 76-77 पृष्ठों में विचार किया था। तलवार ने 'रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद' पर अपनी पुस्तक 'सामना : रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध' (2005) के चार अध्यायों में से एक में उनके व्यापारिक पूँजीवाद पर भी विचार किया है। उन्होंने पूँजीवाद-संबंधी डॉ. शर्मा के समग्र अध्ययन पर ध्यान नहीं दिया है। इन पंक्तियों के लेखक ने 2011 में दिल्ली में आयोजित उन पर वार्षिक कार्यक्रम में केवल 'जुआरी सभ्यता' या सट्टेबाजी-संबंधी उनके विचारों को ही सामने रखा था। बाद में 'साम्य' सम्पादक विजय गुप्त ने 'रामविलास शर्मा का अर्थशास्त्रीय चिन्तन' एक लेख लिखा, (उद्भावना :

रामविलास शर्मा महाविशेषांक, 2012) जिसमें अत्यन्त संक्षेप में उनके अर्थशास्त्रीय चिन्तन-पक्ष पर आंशिक रूप में अपने विचार रखे।

रामविलास शर्मा को कोई इतिहासकार नहीं मानता। वे समाजशास्त्रियों और भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि में भी न तो समाजशास्त्री हैं, न भाषा वैज्ञानिक। उनके व्यापक लेखन का अध्ययन कठिन है, पर उन्हें समग्रता में देखने-समझने के प्रयत्न जारी रहने चाहिए। उन्हें समझे बिना भी उनपर कई आरोप मढ़े गये हैं, कुछ बहसें भी हुई हैं, जो आगे भी जारी रहेंगी। डॉ. शर्मा अपने प्रशंसकों को भी पहले पढ़ने को कहते हैं। ''मुझे निन्दकों का डर नहीं है और प्रशंसकों की आवश्यकता भी नहीं है। मुझे पढ़ने और समझने वालों की आवश्यकता है और यह भरोसा नहीं हो पाता कि लोग मुझे ध्यान से पढ़ते और समझते भी हैं'' (उद्भावना, रामविलास शर्मा महाविशेषांक, पृष्ठ-233 पर उद्धृत) उनके अर्थशास्त्रीय लेखन-चिंतन का क्षेत्र व्यापक है। वे ऋग्वेद कालीन भारत और हड़प्पा सभ्यता से लेकर बीसवीं शताब्दी के अंत तक की आर्थिकी और पूँजीवाद पर विचार करते हैं। चार-पाँच हजार वर्ष की इस सुदीर्घ विचार- यात्रा में कुछ त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। इससे उनके अर्थशास्त्रीय चिन्तन का महत्त्व घट नहीं जाता।

भारत और यूरोप में पूँजी और पूँजीवाद के विकास की कई मंजिलें हैं। एडम स्मिथ (5.6.1723-17.7.1790) को 'अर्थशास्त्र का पितामह' कहा जाता है। क्लासिकल अर्थशास्त्र का उनका मूलभूत ग्रंथ 'द वेल्थ ऑफ नेशंस' 1776 में प्रकाशित हुआ था। इसके सत्रह वर्ष पहले 'द थ्योरी ऑफ मोरल सेंटीमेंटस' (1759) प्रकाशित हुई थी, जिसकी कम चर्चा होती है। रामविलास जी ने 16वीं सदी से बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के अंतिम चरण को 'इंग्लैण्ड और यूरोप के सामाजिक विकास की मंजिल' माना है। वे कई प्रकार का पूँजीवाद मानते हैं। ''उद्योग, व्यापार और महाजनी, पूँजीवाद के लिए ये तीनों जरूरी हैं, पहले दौर में भाप से चलनेवाली मशीनों का उपयोग नहीं होता। उत्पादन के औजार पुराने होते हैं। उत्पादन का यह तरीका उनकी दृष्टि में दो विशेषताओं-मुनाफे के लिए माल तैयार करना और पेशगी धन देकर कारीगर की श्रम शक्ति खरीदने के कारण पूँजीवादी है। हाथ से औजारों के इस्तेमाल के कारण इसे वे 'दस्तकारी पूँजीवाद' कहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति युग 1760 ई. से 1840 ई. तक का है। इंग्लैण्ड का औद्योगिक विकास 1757 ई. के बाद आरंभ होता है। जहाँ तक नये यांत्रिक

आविष्कारों का प्रश्न है, जॉन के (1704-1779) ने, सन् 1723 ई. में फ्लाइंग शटल नामक एक मशीन का आविष्कार किया, जिससे एक व्यक्ति कम समय में अधिक कपड़ा बुन सकता था। रिचर्ड आर्कराइट (23.12.1732-3.8.1792) ने कताई फ्रेम का आविष्कार किया (पानी फ्रेम) था 1769 में। रामविलास शर्मा 1757 को 'भारत और इंग्लैण्ड दोनों के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण' मानते हैं। इंग्लैण्ड का औद्योगिक इतिहास 1757 से आरंभ होता है और इसी वर्ष प्लासी की लड़ाई के बाद वे भारत का आर्थिक विकास अवरुद्ध देखते हैं। 1757 का महत्त्व इस रूप में भी है कि इसी वर्ष इंग्लैण्ड के श्रॉपशायर में विश्व में लोहे से निर्मित पहला पुल बना। औद्योगिक क्रांति का आरंभ वस्त्र-उद्योग के मशीनीकरण से हुआ था। वाष्प इंजन को औद्योगिक क्रान्ति का प्रतीक माना गया। आर्नल्ड टॉयनबी (ब्रिटिश, आर्थिक इतिहासकार, 23.8.1852-9.3.1883) में 'लेक्चर्स ऑन द इंडस्ट्रियल रेवोल्यूशन इन इंग्लैंड' (1884) में 'औद्योगिक क्रान्ति' पद का प्रयोग किया। रामविलास शर्मा ने 'इंडिस्ट्रियल रेवोल्यूशन' के समान कुछ इतिहासकारों द्वारा 'कमर्शल रेवोल्यूशन' ('सौदागरी क्रान्ति') की चर्चा की भी बात कही है। उन्होंने एंगेल्स, लेनिन और स्टालिन की पुस्तक 'कार्ल मार्क्स और उनके सिद्धान्त' (1952) का,1957 में माओत्से तुंग ग्रंथावली के प्रथम भाग का अनुवाद और 1974 में मार्क्स की 'पूँजी' खण्ड-2 का अनुवाद किया था। व्यापारिक पूँजीवाद की तुलना में औद्योगिक पूँजीवाद की प्रधानता वे अधिक समय तक नहीं देखते। 1867 में दूसरे रिफार्म बिल के पास होने के बाद वे औद्योगिक पूँजीवाद के हाथ में राजनीतिक शक्ति को देखते हैं। इसके पहले वह आर्थिक शक्ति था। 1875 से वे 'महाजनी पूँजीवाद' का आरंभ मानते हैं, जो बीसवीं शताब्दी में प्रथम विश्व-युद्ध के पहले राज्यसत्ता पर हावी हुआ।

रामविलास शर्मा अपनी इस मान्यता पर सदैव अडिग रहे हैं कि अंग्रेजों ने भारत का विकास नहीं किया। उन्होंने विश्व-विकास को यूरोप केन्द्रित नहीं माना है। वे प्राचीन सभ्यता के तीन प्रमुख केन्द्रों-मिस्र, (2000-150 ईसा पूर्व) सुमेर (2300-2150 ईसा पूर्व) या मेसोपोटामिया और भारत को परस्पर संबद्ध मानते हैं। मिस्र और सुमेर में भारत से निर्यात की गयी अनेक वस्तुओं के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सुमेर में भारतीय व्यापारियों के उपनिवेश भी थे। ('पश्चिम एशिया और ऋग्वेद', 1994, पुष्ठ 85) वे वैदिक सभ्यता और हड़प्पा

सभ्यता का विकास एक ही क्षेत्र में देखते हैं। ''रेडियो-कार्बन काल-निर्धारण पद्धति से हड़प्पा सभ्यता की शुरुआत 2700 और 2500 वर्ष ईसा पूर्व के बीच मानी जाती है। बड़े पैमाने पर नगर समाजों का एकीकरण 2600 के आस-पास शुरू हुआ।'' (भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश, खण्ड 1, 1999, पृ. - 153) हड़प्पा और उपनिषद को वे ऋग्वेद की परम्परा में देखते हैं। ''ऋग्वेद में सामाजिक विकास की जो मंजिलें दिखाई देती हैं, उन्हीं के आगे की मंजिल हड़प्पा सभ्यता के भीतर विद्यमान है।'' (वही, पृ. - 136) उन्होंने बार-बार इस धारणा का खण्डन किया है कि भारत ग्राम-समाजों का देश है और यहाँ के लोग यूरोप की तुलना में पिछड़े हुए हैं। वे यूरोप केन्द्रित सभ्यता की तुलना में अन्य सभ्यताओं को 'ठहराव तथा अलगाव की हालत में' नहीं देखते। अपने अर्थशास्त्रीय विवेचन में वे ऋग्वेद के पहले के गण समाज की व्यवस्था पर भी विचार करते हैं। ऋग्वेद का समाज गण-समाज के बाद का है। ऋग्वेद के पहले के गण समाज की व्यवस्था पर विचार करते हैं। ऋग्वेद का समाज गण-समाज के बाद का है। ऋग्वेद और रामायण के समाजों से महाभारत के समाज को उन्होंने 'पिछड़ा' कहा है। गण समाज पहले था, व्यक्तिगत सम्पत्ति वाला समाज उसके बाद का है। गणसम्पत्ति के विघटन के बाद उसके स्थान पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के चलन को उन्होंने 'प्राचीन काल की बहुत बड़ी सामाजिक क्रान्ति' (वही पृ. 42-43) कहा है। 'ऋग्वेद का समाज आदिम साम्यवादी समाज नहीं है, वह इस व्यवस्था से बाहर निकल आया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति यहाँ दृढ़ता से स्थापित है। समाज में सम्पत्ति-भेद पैदा हो गया है।'' (वही, पृ. 11)

'भारतीय साहित्य की भूमिका' (1996) के तीसरे अध्याय 'नगर सभ्यता और वर्ण व्यवस्था' के दूसरे उपखण्ड 'वैदिक काल में विनिमय और लेनदेन' में वे ऋग्वैदिक काल में विनिमय का क्रम विकास देखते हैं और यह नहीं मानते कि उस समय विनिमय एकदम नहीं होता था। भारतीय-ईरानी भाषाओं में 'क्रय' के लिए 'क्रीणाति' शब्द का प्रयोग है। ऋग्वेद में 'विक्रीत' शब्द के उल्लेख से वे यह अनुमान करते हैं कि ''भारतीय ईरानी काल में पारस्परिक आदान-प्रदान के रूप में क्रय तथा विक्रय विद्यमान रहे होंगे।'' (भारतीय साहित्य की भूमिका; 1996, पृ. 99) डॉ. शर्मा के अनुमान का एक आधार है। मोनियर विलियम्स ने 'वस्न' का अर्थ 'प्राइस' ओर 'वैल्यू' किया है तथा 'वैदिक इंडेक्स' के लेखकों ने 'क्रय' के अंतर्गत 'शुल्क' को भी माना है। बेचने-खरीदने का ऐसा चलन आदिम अवस्था में

है। रामशरण शर्मा ने 'वाणिज्य' के लिए किसी स्पष्ट प्रमाण के न होने की बात कही थी। वे प्राचीन भारत के बड़े इतिहासकार हैं। रामविलास शर्मा के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऋग्वेद में केवल 'वणिक' का ही नहीं, 'औशिजाय दीर्घश्रवसे वणिजे' का भी उल्लेख है। 'उशिक पुत्र दीर्घश्रवा नामक व्यापारी' को उन्होंने 'विश्व साहित्य में व्यापारी का पहला नामोल्लेख' माना है। अथर्ववेद में व्यापार में सफलता के लिए पहली प्रार्थना है और मंत्र में स्वयं इन्द्र को धन से व्यापारी कहा गया है। 'धनेन धनं इच्छमान:' में धन से धन कमाने की बात है। रामशरण शर्मा ने 'प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ' पुस्तक में उस समय सिक्कों के न होने के कारण यह लिखा है कि ब्याज लेने की प्रथा संभवत: प्रारंभ ही नहीं हुई होगी। रामविलास शर्मा की विशेषता यह है कि वे शब्दों में अवगाहन करते हैं, उसके प्रयोग का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पक्ष भी देखते हैं। यास्क ने ऋग्वेद के 'बेकनाट' शब्द का अर्थ 'सूदखोर' किया है। सातवलेकर ने 8.66.10 मंत्र के अनुवाद में इन्द्र द्वारा सभी सूदखोरों और दिन गिनने वाले कंजूसों को अपने कर्म से दबाने की बात कही है। (वही पृ. 101) ऋग्वेद के पहले, दूसरे, चौथे, आठवें, नवें और दसवें मंडलों में 'ऋण' शब्द के प्रयोग पर उनका ध्यान है और उनके लिए ऋण देना 'सामान्य क्रिया' न होकर एक तरह की विपत्ति है। ग्रिफिथ, मोनियर विलियम्स, सातवलेकर को आधार बना कर उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि ऋग्वेद में 'ब्याज' के लिए शब्द है और वहाँ अंधकार को ऋण की तरह माना गया है। ''व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव के साथ हर समाज में सूदखोरी का चलन हो जाता है। यह स्थिति ऋग्वैदिक समाज में थी। जो कर्ज न चुकाये, वह अपराधी के समान था और दण्डनीय था।'' (वही पृ. 102) ऋग्वेद के 'पुर' को ही नहीं, 'ग्राम' को भी उन्होंने 'आदिम साम्यवाद के आगे की मंजिल' कहा है। आधार यह है कि वहाँ सम्पत्ति सामूहिक नहीं, व्यक्तिगत है। प्राचीन भारत के इतिहास को जिन्होंने 'ग्राम समाजों' का इतिहास माना है, उसका डॉ. शर्मा ने सप्रमाण खण्डन किया है। भारत की नगर सभ्यता को उन्होंने यूनान से 'कहीं' अधिक स्थायी' माना है। ऋग्वेद में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे नगर नहीं हैं, पर वहाँ उद्योग-धंधों का विकास है, जो कृषितंत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और स्वतंत्र रूप से भी हुआ है। अग्नि का संबंध उद्योग-धंधों के विकास से है। भाप से चलने वाले इंजन की तुलना में मानव-विकास में अग्नि का महत्त्व है,

क्योंकि इसने मानव-विकास में 'जबर्दस्त छलांग' लगायी। ऋग्वेद के देवों में 'इन्द्र' और 'अग्नि' प्रमुख हैं। ऋग्वेद में 'अग्नि' का उल्लेख वे केवल भोजन पकाने में ही न देख कर 'धातु उद्योग के विकास' में भी देखते हैं। अन्य उद्योगों के साथ वैदिक काल में 'गृह-निर्माण और पुर-निर्माण के उद्योग का भी यथेष्ट विकास' उन्होंने देखा है। उनकी मुख्य स्थापना यह है कि इस युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्थापना हो चुकी है। एंगेल्स ने सभ्यता के विकास में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उद्भव आवश्यक माना है। रामविलास जी का महत्त्व यह है कि उन्होंने ऋग्वेद में व्यक्तिगत सम्पत्ति का चलन कई उदाहरणों से पुष्ट किया। वहाँ मनुष्य के हाथ का महत्त्व है, जिसे देखकर महान् तुर्की कवि नाजिम हिकमत (15.1.1902-3.6.1963) की 'हाथ' कविता याद आती है। ऋग्वेद में मनुष्य के 'हाथ' को डॉ. शर्मा ने 'भगवान' माना है। वैदिक युग के स्वाधीन किसानों वाले समाज को समझने में उन्होंने 'पूँजी' के तीसरे खण्ड का यह अंश उद्धृत किया है- ''भूखंडों का मालिक किसान स्वयं है। स्वाधीन रूप से वह उनका प्रबंध करता है। यह व्यवस्था सामान्य और व्यापक होती है। क्लासिकल प्राचीनता के सबसे अच्छे दौरों में वह समाज की आर्थिक बुनियाद होती है।'' (वही, पृ. 58-59) ऋग्वेदकालीन समाज में राजा भूमि का मालिक नहीं है। सामंती व्यवस्था के राजाओं से ये भिन्न हैं। ऋग्वेद में 'शफ' का अर्थ मूल धन और 'कला' का अर्थ ब्याज भी हैं सूदखोर के लिए 'बेकनाट' के अलावा 'पणि' (वणिक) भी है, जो वाणिज्य के साथ सूदखोरी भी करते हैं'' ऋग्वेद में डॉ. शर्मा मानसिक और शारीरिक श्रम का विभाजन नहीं देखते हैं। वहाँ 'न तो बड़े पैमाने पर भूमि का केन्द्रीकरण' है, न 'व्यापारियों के यहाँ वित्त का केन्द्रीकरण' है।

'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' (1994) का 26 पृष्ठों का दूसरा अध्याय है- 'हड़प्पा : केन्द्रबद्ध राज्यसत्ता और सुनियोजित अर्थतंत्र'। आरंभ में ही रामविलास जी ने ब्रिटिश पुरातत्त्वविद स्टुअर्ट पिगॉट (28.5.1910-23.10.1926) की पुस्तक 'प्रागेतिहासिक भारत' (1949) का उल्लेख किया है, जिसमें 'हड़प्पा सभ्यता के आर्थिक पक्ष का नया मूल्यांकन' है। पिगॉट ने 'भारत के परवर्ती सामाजिक विकास' पर हड़प्पा सभ्यता के प्रभाव की बात कही थी और 'आर्थिक राजनीतिक संगठनों' पर बल दिया था। हड़प्पा सभ्यता को पिगॉट ने 'मूलत: भारतीय सभ्यता' कहा है। हड़प्पा की केन्द्रबद्ध राज्यसत्ता और सुनियोजित अर्थतंत्र पर डॉ. शर्मा के विचार का मुख्य आधार पिगॉट हैं, यद्यपि वे पिगॉट के कुछ विचारों से असहमत

भी हैं। पिगॉट ने इस समय के उद्योग को 'कारीगर संघ के उद्योग' से भिन्न माना था। रामविलास जी ने इसे 'नए ढंग का संगठित उद्योग' कहा है। ''पश्चिम एशिया में प्रथम वास्तव में संगठित उद्योग का श्रेय अनुमानत: हमें हड़प्पा सभ्यता को देना चाहिए।'' (पश्चिम एशिया और ऋग्वेद, 1994 पृ. 46)

मिस्र और सुमेर (मेसोपोटामिया) प्राचीन संसार के सर्वाधिक विकसित देश थे, पर संगठित उद्योग में हड़प्पा उद्योग उनसे आगे था। यह 'कारीगर संघ' से भिन्न 'शिल्पी संघ' था, जो 'एक सुसंबद्ध बाजार में थोक खपत के लिए' सामान बनाता था। व्यापारी वर्ग माल खरीदता-बेचता था। व्यापारी वर्ग के आगमन के बाद मुनाफे के लिए बिकाऊ माल पैदा किया जाता था। पिगॉट ने इस समय 'नियोजित अर्थतंत्र' (प्लान्ड इकॉनोमी) की बात कही है। हड़प्पा की प्रसिद्धि नगर-निर्माण को लेकर है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों में श्रमिकों के निवास थे। रामविलास जी ने इस अर्थतंत्र की विशेषता 'शहर और देहात का उत्पादन एक ही योजना के अनुसार संचालित' माना है। अर्थव्यवस्था नियंत्रित और नियोजित थी। वस्तु-निर्माण के उद्योग के साथ खानों का उद्योग था। हड़प्पा नगर का एक भाग 'अर्धउद्योगीकृत था, धातुकर्मियों (मेटल वर्कर्स) के कारण। पिगॉट ने एक से अधिक बार सूती कपड़ों के व्यापार का उल्लेख किया है। रामविलास जी ने उसे आगे बढ़ाया। ''कपास की खेती की शुरुआत भारत में हुई, सूत कपड़ा बनाने का कौशल भारत में आरंभ हुआ, फिर वह अन्य देशों में फैला... भारतीय सूती कपड़े के बदले सोना, चाँदी देने की प्रथा हड़प्पा काल में शुरू हो गई थी।' (वही, पृ. 50) 'ठप्पा मुहर' जैसी उस समय की मुद्राओं के आधार पर वे इस सभ्यता को 'व्यावसायिक सभ्यता का पूर्वाभास' देने वाली कहते हैं और हड़प्पा की सभ्यता को 'एक लम्बे विकास का परिणाम' के रूप में देखते हैं। सभ्यता के विकास में लौह युग को कांस्य युग से आगे माना गया है। लौह युग में ब्रिटेन और रोम दोनों थे। ब्रिटेन बर्बर था और रोम सभ्य। कांस्य युग में हड़प्पा के होने के बाद भी उसे डॉ. शर्मा ने 'रोम के समतुल्य' कहा है। ''मनुष्य किस धातु से उपकरण बनाते हैं, सभ्यता के विकास के लिए यह तथ्य निर्णायक नहीं है। निर्णायक तथ्य यह है कि वे उन उपकरणों का प्रयोग किस काम के लिए करते हैं और इस काम के दौरान अपास में किस तरह के सामाजिक संबंध कायम करते हैं।'' (वही, पृ. - 53) उन्होंने हड़प्पा-युग में 'तकनीकी विकास' और 'विनिमय के उपकरण' पर भी विचार किया।

हड़प्पा राज्य से मौर्य राज्य की तुलना का उनके लिए 'असाधारण महत्त्व' है। पिगॉट ने हड़प्पा सभ्यता के अवसान पर विशेष जोर नहीं दिया था। ''हड़प्पा सभ्यता का ह्रास 1750 ईसा पूर्व के लगभग होता है। उस समय सरस्वती जलहीन हो रही है। कालीबंगा के उत्खनन से यह तथ्य सामने आया है।'' (वही पृ.-18) कालीबंगा चार हजार ईसा पूर्व से भी अधिक प्राचीन मानी गयी है। 1952 में अमलानन्द घोष (1910-1981) ने इसकी खोज की थी। वे प्रतिष्ठित पुरातत्त्वविद और भारतीय पुरातत्त्विक सर्वेक्षण के महानिदेशक थे राजस्थान के हनुमानगढ़ जिला के इस प्राचीन ऐतिहासिक स्थल में बी.के. थापर (18.10.1921-6.9.1995) और बी.बी. लाल (2.6.1921) ने 1961-69 में यहाँ उत्खनन कार्य किया। कालीबंगा हड़प्पा समय से लगभग हजार वर्ष पहले का है। 'ऋग्वेद' और उसके बहुत बाद के 'यजुर्वेद' में सरस्वती 'जल से भरी शक्तिशाली नदी' है। सरस्वती को 'भारत के प्राचीन इतिहास की काल-विभाजक रेखा' मानकर डॉ. शर्मा ऋग्वेद की रचना को ''हड़प्पा सभ्यता के ह्रास से, 1750 ई.पू. से बहुत पहले'' की मानते हैं।

मौर्य राज्य को उन्होंने हड़प्पा राज्य का 'उत्तराधिकारी' माना है। टॉयनबी के इस कथन को कि 'हड़प्पा राज्य ने मौर्यों को 'पितृत्वप्रदान' किया था। पिगॉट ने अतिशयोक्तिपूर्ण माना है। उन्होंने इस सभ्यता की निरन्तरता की बात कही थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने 'हड़प्पा सभ्यता की असैनिक, आर्थिक और राजनीतिक धरोहर की रक्षा' की। मौर्य राज्य की स्थापना 322 ईसा पूर्व में हुई थी। मौर्य राजवंश ईसा पूर्व 322-185 में था। इसने भारत में 137 वर्ष तक राज्य किया था जिसकी स्थापना का श्रेय चन्द्रगुप्त मौर्य और मंत्री चाणक्य (कौटिल्य) को दिया जाता है। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। पचास लाख किलोमीटर इस राज्य का क्षेत्रफल था। 24 वर्ष राज्य करने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य पहले शासक थे और अन्तिम शासक बृहद्रथ था, जिसने मात्र दो वर्ष राज किया।

हिन्दी में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की विस्तारपूर्वक चर्चा डॉ. शर्मा ने 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' (1986) के चौथे अध्याय 'प्राचीन और मध्यकालीन' भारत : पगार जीवी श्रम की भूमिका' में की है। एंगेल्स ने 'एन्टी डूयरिंग (1877, अंग्रेजी अनुवाद 1907 में प्रकाशित) की एक पाद टिप्पणी में 'पगार वाले श्रम में उत्पादन की सारी पूँजीवादी पद्धति भ्रूण रूप में विद्यमान' होने की बात लिखी थी और पगार वाले श्रम को 'बहुत प्राचीन' कहा था। रामविलास शर्मा ने इसे उद्धृत

किया। आवश्यक ऐतिहासिक शर्तें पूरी किये जाने के बाद ही 'भ्रूण' पूर्णत: विकसित होकर 'उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति' बन सकता था। 'इतिहास और समकालीन परिदृश्य' शृंखला के अंतर्गत डॉ. शर्मा ने पहले जो कुछ पुस्तिकाएँ प्रकाशित की थीं, उनमें व्यापारिक, औद्योगिक और महाजनी पूँजीवाद की तीन पुस्तिकाएँ भी थीं। 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' (1992) में वे सभी पुस्तिकाएँ शामिल की गयीं। 'सामंती खोल के भीतर' उन्होंने 'एक नए अर्थतंत्र व्यापारिक पूँजीवाद' के विकास की बात कही है। वे कारखानेदारी को 'व्यापारिक पूँजीवाद के अन्तर्गत' रखते हैं। वे पगार देकर मेहनत कराने को सामंती समाज की विशेषता न मानकर पूँजीवादी समाज की विशेषता मानते हैं। ''पूँजीवादी पद्धति से पगार वाले श्रम का संबंध तब दिखाई देता है, जब कारीगर से काम कराने वाला व्यक्ति स्वयं कारीगर नहीं होता, जब यह व्यक्ति कारीगर से निजी उपभोग के लिए नहीं, विनिमय के लिए माल तैयार कराता है''। ('मार्क्स और पिछड़े हुए समाज', 1986, पृ. - 174)

भारत में कौटिल्य से पहले अर्थशास्त्रीय विचारकों का अभाव नहीं था। कौटिल्य ने अपने से पहले के जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनके ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। रामविलास शर्मा का अनुमान है कि पहले की नगर-परम्परा और अर्थशास्त्र की परम्परा के आधार पर ही कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना की। कौटिल्य का समय ईसा पूर्व 375-283 वर्ष है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना में उनकी प्रमुख भूमिका थी। 'अर्थशास्त्र' में नियोजन और संगठन का विस्तृत ब्योरा है, जिसे देखकर डॉ. शर्मा संगठित-नियोजित, हड़प्पाई उद्योग को याद करते हैं। 'अर्थशास्त्र' में वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने वाले को 'पण्याध्यक्ष', तराजू और बाट-बटखेरा की जाँच करने वालों को 'संस्थाध्यक्ष', सूत कातने, कपड़ा बुनने की व्यवस्था करने वाले को 'सूत्राध्यक्ष', नाप-तौल के उपकरणों को बनवाने और उसकी जाँच करने वालों को 'पौतवाध्यक्ष', खेती की देखभाल करने वाले को 'सीताध्यक्ष', पशुपालन के लिए 'गोअध्यक्ष' और कताई के लिए 'सूत्रशाला' का उल्लेख है। हड़प्पाई और मौर्य राज्य सत्ता में यह समानता थी कि दोनों सत्ताओं का 'प्रधान लक्ष्य बिकाऊ माल का उत्पादन और वितरण' था। कोसंबी ने 'अर्थशास्त्र' के 'राजनीतिक सिद्धान्त और उसकी प्रशासनिक नीति में बुनियादी अन्तर्विरोध' के कारण आगे के प्रगति-मार्ग को बंद किये जाने की बात कही थी। डॉ.शर्मा

कोसंबी (धर्मानन्द दामोदर कोसंबी, 31.7.1907-29.6.1966) की इस स्थापना से सहमत हैं कि चन्द्रगुप्त की समाज-व्यवस्था की विशेषता 'राज्यसत्ता के प्राधान्य में चलने वाला बिकाऊ माल का उत्पादन है।' इस प्रधानता को वे आर्थिक प्रगति में बाधक न मानकर सहायक इसलिए मानते हैं कि ''व्यापारी के मुनाफे को मर्यादित करके वह उपभोक्ताओं को ठगे जाने से बचाती हैं।'' ('पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद, पृ. 57) श्रम के लिए 'पगार' देने की प्रथा मौर्य राजवंश के पहले से थी। कौटिल्य ने 'इति आचार्या:' कह कर पुराने आचार्यों के मतों का उल्लेख किया था। हड़प्पा काल में भारतीय वस्त्र सुमेर में बिकने की बात कही गयी है। उन्होंने भारतीय वस्त्रों के सुमेर में बिकने के कारण यह 'तर्कसंगत अनुमान' लगाया है कि ''उस समय भी सूत कातने और कपड़ा बुनने के लिए पगार दी जाती थी।'' (वही पृ. 58) यह पगार एक प्रकार का वेतन था। पिगॉट 'वेतन देकर श्रम कराने की प्रथा' से अपरिचित थे, इसलिए उन्होंने 'निरंकुश राज्यसत्ता की कल्पना' की थी। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में 'पगार देकर श्रम कराने की प्रथा' पर रामविलास जी विचार करते हैं। वे इस ग्रन्थ को यूरोप का इतिहास समझने में भी सहायक मानते हैं। लिखते हैं - ''इससे... ऐतिहासिक भौतिकवाद की कुछ धारणाएँ अधिक स्पष्ट होंगी।'' (मार्क्स और पिछड़े हुए समाज, पृ. 176) वह पेशगी पगार को 'ददनी प्रथा की सूचक' मानते हैं। ''जिसमें उत्पादक माल तैयार करने से पहले ही उसे बेच चुका होता है। यह प्रथा पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का आदिम रूप है।'' (वही, पृ. 177)

'पगार' देने की बात 'रामायण' में भी है। संस्कृत विद्वान राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'अर्थशास्त्र: हमारे पास, हमसे दूर, एक लोकोपकारी शास्त्र की विवेचना' लेख (प्रतिमान : जनवरी-जून 2015, वर्ष 3,खण्ड 3, अंक 1) में 'अर्थशास्त्र की प्राचीन परम्परा' पर विचार किया है। 'रामायण' में राम ने भरत से यह पूछा है। ''ढलती रात में तुम अर्थ की व्यवस्था को लेकर सोच-विचार तो करते हो न? तुम अकेले तो मंत्रणा नहीं करते?... तुम अपनी सेना के सैनिकों को समय पर पगार तो दे देते हो न? इसमें विलंब तो नहीं करते? सैनिकों को पगार देने में विलम्ब होने पर वे अपने मालिक से चिढ़ जाते हैं और यही महान् अर्थ होता है।'' (पृ. 70) स्पष्ट है कि ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में 'पगार' का चलन था। रामायणकालीन अर्थशास्त्र की और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अंतर है। डॉ. त्रिपाठी रामायण और महाभारतकालीन अर्थशास्त्र की तुलना में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक 'अनोखापन'

देखते हैं- ''रामायण और महाभारत में राम और भीष्म के द्वारा प्रतिपादित अर्थशास्त्रों से कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनोखापन लोक को वरीयता देने के साथ ही आन्वीक्षिकी (तर्क पूर्वक परीक्षण) पर बल देने के कारण है।'' (वही पृ. 73) अब रामविलास शर्मा के व्यापारिक पूँजीवाद, 'पगार' आदि पर विचार के क्रम में डॉ. त्रिपाठी के इस लेख का उल्लेख अत्यावश्यक है। रामविलास शर्मा ने रामायण और महाभारतकालीन अर्थशास्त्र पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया था। डॉ.त्रिपाठी पहले विद्वान हैं, जिन्होंने अपने इस लेख में ईसा के हजार वर्ष पहले के 'अर्थशास्त्र के विकास का एक खाका' प्रस्तुत किया है। वे राम द्वारा प्रस्तुत अर्थशास्त्र की रूपरेखा को कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से 'बहुत अलग' मानते हैं ''क्योंकि कौटिल्य का अर्थशास्त्र तो आन्वीक्षिकी को बहुत महत्त्व देता है और राम आन्वीक्षिकी के आधार पर बात करने वाले लोकायतिकों के खिलाफ मन्तव्य प्रकट करते हैं'' (वही पृ. 71) 'रामायण', 'महाभारत' और 'अर्थशास्त्र' पर पहली बार व्यापक, गंभीर, शोधपरक अध्ययन- विवेचन डॉ. त्रिपाठी के यहाँ है। रामायण और महाभारत में अर्थशास्त्र 'धर्मशास्त्र के पासंग बनकर विकसित हुए' थे। कौटिल्य ने पहली बार अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र से अलग किया। ''धर्मशास्त्र के समानान्तर तथा इनके पूरक के रूप में अर्थशास्त्र को रखा।'' (वही, पृ. 74)

भारत में अर्थशास्त्रीय चिन्तन-विवेचन की प्राचीन परम्परा है। ''कौटिल्य ने अपने से पहले के अर्थशास्त्र को कम से कम दस आचार्यों या उनके सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। ये हैं : मानव (मनु का सम्प्रदाय), ब्राहस्पत्य (बृहस्पति का सम्प्रदाय), औशनस (उशना का या शुक्राचार्य का सम्प्रदाय), भारद्वाज या द्रोणाचार्य, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन (नारद) कौणपदन्त (भीष्म), वातव्याधि (उद्धव) तथा बाहुदंतीपुत्र (इन्द्र)'' (वही, पृ. 79) डॉ. त्रिपाठी ने कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में 'पगार' लेकर काम न करने पर बारह पण दण्ड देने का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने शुल्क या टैक्स के पचीसों प्रकार बताए हैं। ''परिघ, रूपिक, षड्भाग, सेनाभक्त, बलिकार, उत्संग, पार्श्व, कौष्ठेयक, गुल्मदेय, तारदेय, वर्तनी, अतिवाहिक, शुल्क, क्लृप्त- ये सब अलग-अलग तरह के टैक्स हैं।'' (वही, पृ. 87)

'पगार' की प्रथा भारत में प्राचीन थी। 'पगार' देकर श्रम कराया जाता था और 'पगार' एक प्रकार का 'वेतन' भी था। भारत में 'निरंकुश राज्य सत्ता' की बात करनेवाले इस पगार-प्रथा से अपरिचित थे। जिस स्टुअर्ट पिगॉट का उल्लेख 'हड़प्पा

केन्द्रबद्ध राज्य सत्ता और सुनियोजित अर्थतंत्र' में डॉ. शर्मा ने 76 बार (कुल 95 रेफरेंसेज में) किया है, वे 'वेतन देकर श्रम कराने की प्रथा' से अपरिचित थे। इसी कारण उन्होंने 'निरंकुश राज्य-सत्ता की कल्पना की। डॉ. शर्मा निरंकुश राज्य-शासन की धारणा को 'पश्चिमी विद्वानों की धारणा' कहते हैं। जिसका उन्होंने काफी प्रचार किया। पिगॉट पर मौर्टिमर व्हीलर (10.9.1890-22.7.1976) का प्रभाव था। पिगॉट की यह धारणा डॉ. शर्मा ने व्हीलर में देखी है। उनके अनुसार पगार देकर श्रम कराने की प्रथा ने 'संगठित उद्योग को स्थायित्व प्रदान किया।' उनका तर्क है कि 'घरेलू बाजार का निर्माण' और 'विश्व व्यापार का संगठन' निरंकुशता के बल पर संभव नहीं है।

औद्योगिक क्रांति (1760-1840) के पहले व्यापारी वर्ग की भूमिका थी और 'एशियाई-अफ्रीकी बाजार के गठन' में भारत की अग्रणी भूमिका थी। औद्योगिक क्रांति से पहले की सभ्यता विभिन्न युगों और देशों की नगर-सभ्यता को डॉ. शर्मा 'व्यापारिक पूँजीवाद की देन' कहते हैं। वे एंगेल्स को उद्धृत करते हैं कि उन्होंने 'विनिमय और सौदागर वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया' की बात जहाँ कही है, वहाँ 'सभ्यता' शब्द का व्यवहार किया है।'' (भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद पृ. 64) 'सांस्कृतिक विकास तथा आधुनिक जातियों की निर्माण-प्रक्रिया' में व्यापारिक पूँजीवाद की भूमिका है। व्यापारिक पूँजीवाद का कोई एक स्तर नहीं है। 'व्यापारिक पूँजीवाद स्वयं अनेक प्रकार का होता है। उसमें अनेक भेद होते हैं... जहाँ नगर होंगे, वहाँ नगर को अन्न देने का काम गाँव करते होंगे। वहाँ की सभ्यता व्यापारिक पूँजीवाद पर आधारित होगी।'' (वही, पृ. 65) व्यापारिक पूँजीवाद की कालावधि औद्योगिक पूँजीवाद की कालावधि से कहीं अधिक है। डॉ. शर्मा ''भारत की पुरानी सिंधु घाटी की सभ्यता, भारत के पड़ोस में सुमेर और बाबुल की सभ्यता, उत्तरी अफ्रीका में मिस्र की सभ्यता, उसके बाद भारत में मौर्य काल की सभ्यता, आगे-चलकर अकबर के समय की सभ्यता, इन सबको व्यापारिक पूँजीवाद की देन'' कहते हैं। (वही) वे यूरोप के पुनर्जागरण काल, इटली, फ्रांस, ब्रिटेन में आधुनिक जातियों के निर्माण के समय की विकसित सभ्यता को भी 'व्यापारिक पूँजीवाद की देन' मानते हैं।

एंगेल्स (28.11.1820-5.8.1895) ने 'ऐन्टी ड्यूरिंग' (1878 में जर्मन में और 1907 में अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित) में ''पगार वाले श्रम में उत्पादन की सारी

पूँजीवादी पद्धति भ्रूण रूप में विद्यमान'' होने की बात कही थी और यह लिखा था कि 'इस तरह का श्रम बहुत प्राचीन है'। उन्होंने यह भी लिखा था कि ''किन्तु, भ्रूण, पूर्ण विकसित होकर, उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति बने, यह तभी संभव था। जब आवश्यक ऐतिहासिक शर्तें पूरी हो जायें'' (मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' में उद्धृत, पृ. 173-74) औद्योगिक पूँजीवाद में मशीनों से बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण प्रमुख है और व्यापारिक पूँजीवाद में विनिमय। पगार देकर मेहनत कराने को डॉ. शर्मा सामन्ती समाज की विशेषता न मान कर पूँजीवादी समाज की विशेषता मानते हैं। उनकी यह धारणा एक साथ अब तक के इतिहास-लेखन और इतिहास-विवेचन पर भी प्रश्न खड़ा करती है। और अर्थशस्त्रीय चिन्तन में भी एक हस्तक्षेप करती है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जो 'पेशगी पगार' है, उसे डॉ. शर्मा ने 'ददनी प्रथा की सूचक' माना है, ''जिसमें उत्पादक माल तैयार करने से पहले ही उसे बेच चुका होता हैं यह प्रथा पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का आदिम रूप है,'' (वही, पृ. 177) 'अर्थशास्त्र' में 'पेशगी पगार लेने वाले को गृहीत वेतन कहा गया है।'' (वही) डॉ. शर्मा ने यह बताया है कि ''पगार जीवी श्रमिकों से काम कराने वाला सबसे बड़ा भर्ता राज्य है। वह अनेक धन्धों में, उद्योग और कृषि में, उनसे काम कराता है और सामान्यत: उन्हें द्रव्य रूप में पगार देता है।'' (वही पृ. 178) उस समय इस्पात बनाने की प्रक्रिया विशेषज्ञ जानते थे। उत्पादन और विनिमय दोनों में 'निजी व्यवसाय और राज्यसत्ता' दोनों की भागीदारी थी, पर राज्यसत्ता की भूमिका सूत्रधार की थी। इस व्यापार को 'विकासमान व्यापार' कहा गया है। राज्यसत्ता के लाभ के लिए व्यापार-क्षेत्र का व्यापक होना आवश्यक था। राज्यसत्ता स्वयं व्यापार कर रही थी। ''कौटिल्य की राज्यसत्ता विशुद्ध खेतिहर राज्यसत्ता नहीं है; वह उत्पादन और वाणिज्य से लाभ उठाने वाली राज्यसत्ता भी है। वह उत्पादन और विनिमय पर नियंत्रण ही नहीं रखती उनका संचालन भी करती है।'' (वही, पृ. 189) कौटिल्य ने 'एकमुखी राज्यतंत्र' की हिमायत' की हैं। डॉ. शर्मा इसे 'चालू अर्थ में सर्वसत्तावादी' (सर्वशक्तिमान') नहीं मानते। कौटिल्य को उन्होंने 'गतिशील यथार्थ की दिशा पहचानने वाला अर्थशास्त्री' कहा है। वे इस 'सुनियोजित अर्थव्यवस्था' के प्रमाण के अनेक उदाहरण देते हैं। लिखते हैं ''पूरे समाज की आवश्यकताओं का हिसाब लगाकर उत्पादन की योजना बनाना समाजवादी अर्थतन्त्र की विशेषता है। उल्लेखनीय यह है कि कौटिल्य की सुनियोजित अर्थव्यवस्था की

अनेक विशेषताएँ पूँजीवादी राज्यों ने अब भी नहीं अपनायीं... कौटिल्य की राज्यसत्ता समाज को पूँजीवादी विकास की दिशा में आगे बढ़ानेवाली किन्तु पूँजीवादी विकास की अराजकता को नियंत्रित रखने वाली राज्यसत्ता है।'' (वही पृ. 196) एकतंत्रीय प्रणाली के पक्षधर के रूप में आज भी कौटिल्य को याद किया जाता है, पर राधावल्लभ त्रिपाठी ने उन्हें 'प्रजा का हित करने वाली प्रणाली के पक्षधर' भी कहा है। उन्होंने कौटिल्य के संदर्भ में 'अर्थ' का आशय मात्र सम्पत्ति न मान कर उनके 'अर्थशास्त्र' को 'इन्द्रियों पर विजय का शास्त्र' कहा है- ''कौटिल्य का इन्द्रियजय का अर्थशास्त्र आज के भोगवादी अर्थशास्त्र का प्रतिवाद है।'' (प्रतिमान, वही, पृ. 81) यह 'लोकोपकार का शास्त्र' है।

व्यापारिक पूँजीवाद का यह समाज सामंती व्यवस्था से मुक्त नहीं है। सामन्ती व्यवस्था को रोमन समाज, जो व्यापारिक पूँजीवाद के युग का समाज था, तोड़ने में विफल रहा था। पगार देकर श्रमिकों से श्रम कराने के कारण डॉ. शर्मा कौटिल्य के समाज को 'आधुनिक पूँजीवादी समाज के अधिक निकट' मानते हैं। भारत के विनिमय-केन्द्रों के बार-ध्वस्त होने के बाद भी पनपते रहने का मुख्य कारण डॉ. शर्मा 'पगार देने की श्रम की प्रथा' समझते हैं। सामंती समाज से कौटिल्य का समाज भिन्न इस अर्थ में है कि वहाँ वस्तुओं का उत्पादन 'आवश्यकताओं की पूर्ति' के लिए न होकर 'विनिमय के लिए' है। वस्तुओं का उत्पादन देश-विदेश में व्यापार के लिए बिकाऊ माल को तैयार करने के लिए है। सामंती व्यवस्था में उत्पादन छोटे पैमाने पर होता है, वहाँ विनिमय सीमित होता है। वहाँ ऐसी बात नहीं है। कहीं-कहीं अतिरेक में डॉ. शर्मा ने कौटिल्य के समय की राज्यसत्ता को 'आधुनिक' पूँजीवादी राज्यसत्ता से बढ़कर' माना है, जिस पर आपत्तियाँ भी की गयी हैं। उस समय 'सामन्ती अर्थतंत्र समाप्त नहीं हुआ था। 'उत्पादन और विनिमय का विकास 'सामन्ती अर्थतन्त्र की सीमाएँ लाँघ रहा था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का राज्य गणराज्य और 'वर्णव्यवस्था वाले छोटे राज्य' के बीच था। अंतर यह था कि इस राज्य में 'विनिमय केन्द्रों की प्रधानता' और 'नगर की प्रधानता' है। व्यापारिक पूँजीवाद के समय का रोमन समाज जिस प्रकार सामन्ती व्यवस्था को तोड़ नहीं पाया उसी प्रकर कौटिल्य के समय के व्यापारिक पूँजीवाद का समाज भी सामन्ती व्यवस्था को तोड़ नहीं सका। ''सामंती व्यवस्था छोटे पैमाने के उत्पादन की व्यवस्था है, कौटिल्य की समाज व्यवस्था में बड़े पैमाने के उत्पादन की व्यवस्था' (मार्क्स और पिछड़े हुए समाज), (वही, पृ. 209)

महत्त्वपूर्ण है।

डॉ. शर्मा 'पगारजीवी श्रम की प्रथा के अध्ययन के लिए... 'बय चकड़ा' नाम की पोथी बहुत महत्त्वपूर्ण' बताते हैं। 'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद् ग्रन्थमाला' की छठी पुस्तक 'न्यू लाइट ऑफ द सन टेम्पल ऑफ कोणार्क' चौखंभा से 1972 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के लेखक एलिस मोनर, सदाशिव रथ शर्मा और राजेन्द्र प्रसाद दास हैं। जिन्होंने चार हस्तलिखित पोथियों का पता लगाया था। इनमें से एक 'बय चकड़ा' थी। रामविलास जी इस पुस्तक के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचे कि ''कोणार्क का मंदिर गुलामों से या बेगार के लिए बटोरे हुए मजदूरों से न बनवाया गया था।'' (वही, पृ. 243) मंदिर के व्यय का हिसाब-किताब 'बय चकड़ा' में सुरक्षित है। इसमें पगार संबंधी विवरण है। पगार देने का यह चलन बाद में भी बना रहा है। 'आईने अकबरी' में 'सीमित' ही सही 'पगार संबंधी सूचना' है। श्रमिक कुशल हों या अकुशल, उन्हें मेहनताना दिया जाता था। व्यापारिक पूँजीवाद के विकास में इस प्रथा के महत्त्व की वे विस्तारपूर्वक चर्चा करते हैं जिस समाज में, राज्यसत्ता में पगार देने की व्यवस्था रही हो, वह समाज और राज्यव्यवस्था अर्थतंत्र की दृष्टि से पिछड़ी नहीं थी। ''भारत के पिछड़ेपन पर जिन 'देशी-विदेशी विद्वानों ने लिखा है, उन्होंने पगारजीवी श्रम की परम्परा पर विचार नहीं किया। इस परम्परा से भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के लिए जो निष्कर्ष निकलते हैं, उनकी वे कल्पना नहीं कर सकते।'' (वही, पृ. 248)

रामविलास शर्मा के मत और मान्यताओं पर कइयों को आपत्ति रही है। उनकी अध्ययन-पद्धति, चिन्तन-पद्धति और विवेचन-पद्धति पर भी कइयों को एतराज है। 'रामविलास शर्मा की विवेचन पद्धति और मार्क्सवाद' पर जिस श्रम से वीरभारत तलवार ने विचार किया है, उस पर समग्रता में विचार यहाँ संभव नहीं है। वे 'वैज्ञानिक भौतिकवाद', 'मार्क्स का दर्शन और हीगलीय द्वन्द्ववाद', 'व्यापारिक पूँजी और पूँजीवाद' तथा 'नई जनवादी क्रांति' संबंधी डॉ. शर्मा के विचारों की समीक्षा करते हैं। उनके 'व्यापारिक पूँजी और पूँजीवाद' संबंधी मान्यताओं से तलवार सहमत नहीं है। रामविलास जी ने पगार देने की प्रथा से मगध-राज्य में व्यापारिक पूँजीवाद की बात कही है। वे हजार वर्ष पहले की इस पगार-प्रथा पर लिख चुके हैं। मगध राज्य के व्यापारिक पूँजीवाद में उन्होंने आधुनिक पूँजीवाद की भी कुछ विशेषताएँ देखी हैं। दूसरे डॉ. शर्मा ने कौटिल्यकालीन राज्यसत्ता में वर्ग-

संतुलन कायम किये जाने की ओर भी ध्यान दिलाया। तलवार उनके इन 'निष्कर्षों' से सहमत नहीं हैं। इस लेख में थोड़ा-सा उल्लेख भर किया जा सकता है क्योंकि यह लेख डॉ. शर्मा के लगभग समस्त अर्थशास्त्रीय चिंतन को एक स्थान पर संक्षेप में समेटकर भविष्य में व्यापक और समग्र दृष्टि से गंभीर अध्ययन-मनन की आवश्यकता के तहत लिखा जा रहा है।

रामविलास जी ने जातीय गठन की प्रक्रिया को व्यापारिक पूँजीवाद से जोड़ा है। तलवार का कथन है कि मगध के राज्य में व्यापारिक पूँजीवाद के विकास के बाद भी ''जातीयों के गठन के मामले में मगध का व्यापारिक पूँजीवाद बाँझ ही साबित हुआ।'''' (सामना : रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद', 2005, पृ. 79) वे यह नहीं मानते कि 'कौटिल्य का राज्य व्यापारियों के पक्ष में था।'' (वही, पृ. 81) चूँकि व्यापारी राज्य द्वारा तय मूल्य पर ही अपना माल बेच सकता था, इसलिए वहाँ 'समाजवादी अर्थतंत्र की विशेषता' नहीं देखी जा सकती। तलवार 'मगध राज्य का वर्ग-आधार स्वयं राज्य' को मानते हैं। राज्य का अपना हित ही सर्वोपरि था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के डॉ. शर्मा गंभीर अध्येता हैं। संस्कृत विद्वान् राधावल्लभ त्रिपाठी ने कौटिल्य को 'प्रजा का हित करने वाली प्रणाली का पक्षधर' और अर्थशास्त्र' को 'आज के भोगवादी अर्थशास्त्र का प्रतिवाद' माना है। संभव है, इस मान्यता पर वीर भारत तलवार को आपत्ति हो। 'अर्थशास्त्र' पर कोसंबी, रामविलास शर्मा और राधावल्लभ त्रिपाठी ने जो मत व्यक्त किये हैं उन सब पर विचार किये जाने की अधिक आवश्यकता है। कौटिल्य की तुलना आज भी मैकियावेली (3.5.1469-21.6.1527) से करने वाले कम नहीं हैं, पर राधावल्लभ त्रिपाठी यह 'पूरा सत्य' नहीं मानते कि वह 'एकतंत्रीय प्रणाली के पक्षधर' हैं। तलवार ने 'बय चकड़ा' की प्रामाणिकता की जाँच की भी बात कही है। तलवार की शिकायत है कि 'पगार-प्रथा पहले भ्रूण, फिर प्रमुख विशेषता-फिर स्वयं पद्धति बन गई।' (वही पृ. 88)

व्यापारिक पूँजीवाद का महत्त्व डॉ. शर्मा के यहाँ सर्वाधिक है। वे इसी दौर में जाति का गठन और जातीय भाषा का जन्म और विकास देखते हैं। अर्थशास्त्र, इतिहास, जाति, भाषा, साहित्य सब का इस दौर के साथ जब तक सर्वांगीण अध्ययन नहीं किया जाता, किसी एक पक्ष विशेष को लेकर किया गया विवेचन अधूरा ही रहेगा। इस व्यापारिक पूँजीवाद के संबंध में उनकी धारणा और स्थापना

पर कम विवाद नहीं हुए हैं। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने यह प्रश्न किया है कि ''रामविलास जी जिसे पूँजीवाद कह रहे हैं, क्या वस्तुत: वह पूँजीवाद था या सिर्फ सौदागरी पूँजी द्वारा किया जाने वाला व्यापार मात्र था?'' ('उद्भावना', रामविलास शर्मा महाविशेषांक, दिसम्बर 2012, पृ. 28) वे इरफान हबीब के तीन आलेखों (पाक-औपनिवेशिक भारत में पूँजी संचय की प्रक्रिया, मुगल अर्थ-व्यवस्था में पूँजीवादी विकास की संभावनाएँ और 1757 से 1900 के बीच की अर्थव्यवस्था का उपनिवेशीकरण) के जरिए 'इस मुद्दे पर गंभीर विचार-विमर्श' के होने की जरूरत बताते हैं, पर स्वयं गंभीर विचार नहीं करते। उन्होंने अमिय कुमार बागची के एक शोध-आलेख 'सेलिब्रेटिंग इरफान हबीब ऐट एट्टी' से अठारहवीं सदी में 'सौदागरी पूँजी का संचय पूँजीवाद की दिशाओं में' होने की बात कही है और यह लिखा है कि ''उसे औपनिवेशिक सत्ता ने अंकुरण काल में ही विनष्ट कर दिया'' (वही) डॉ. शर्मा इस समय को व्यापारिक और सौदागरी पूँजी का 'अंकुरण काल' नहीं मानते। यह 'अंकुरण काल' से कुछ अधिक था।

डॉ. रामविलास शर्मा के उपनिवेशवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी चिंतन पर सवाल खड़ा नहीं किया जा सकता। इसे चिन्तन में व्यापारिक पूँजीवाद की उनकी धारणा-अवधारणा का विशेष महत्त्व है उनका यह लेखन अकादमिक नहीं है। वे अपनी स्थापनाओं से एक बड़ी चुनौती देते हैं, जिसे हल्के ढंग से नहीं लिया जा सकता। उन्होंने 'मार्क्सवाद के रूढ़ि, मुक्त अध्ययन' की बात कही है। वे यह मानते हैं कि अंग्रेजों के आगमन के पहले भारत में जो पूँजीवाद उभर रहा था, उसका विनाश अंग्रेजों ने यहाँ के प्रतिक्रियावादी सामंतों से मिल कर किया। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने भारत की 'उत्पादन शक्तियों' के पिछड़े होने की बात कही है। कई पुस्तकों में डॉ. शर्मा ने सप्रमाण यह साबित किया है कि भारत इंग्लैण्ड की तुलना में कहीं आगे बढ़ा हुआ देश था। अंग्रेजों ने यहाँ के आर्थिक और औद्योगिक विकास में रुकावट डाली। अंग्रेजों का आगमन अगर न हुआ होता तो भारत उसके राज में जिस अधोगति को पहुँचा, वह कभी नहीं होता। औद्योगिक पूँजीवाद के बाद केवल इंग्लैण्ड ही नहीं बदला, पूरी दुनिया भी बदली। मार्क्स ने जिस पूँजीवाद का गहन अध्ययन किया था, वह यही था। रामविलास शर्मा ने पूँजीवाद के विवेचन में व्यापारिक पूँजीवाद को सामने रखा। संभवत: किसी अर्थशास्त्री ने शायद ही व्यापारिक पूँजीवाद को इतना अधिक महत्त्व दिया हो।

मार्क्स ने पूँजी, खण्ड 1 में मध्यकाल से प्राप्त पूँजी के जिन दो रूपों की बात कही है, वे पूँजीवादी उत्पादन पद्धति से पहले की है। ये स्वयं पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति में नहीं बदलते। मार्क्स ने सौदागरी और सूदखोरी पूँजी को पूँजी के दो रूप माना है, जो सामंती मध्यकाल में विकसित होते हैं, पर अपने-आप औद्योगिक पूँजी में परिणत नहीं हो जाते। डॉ.शर्मा का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण उनके इतिहास-संबंधी दृष्टिकोण से जुड़ा है। व्यापारिक पूँजीवाद पर उनका विशेष बल उनके इतिहास-संबंधी दृष्टिकोण से भी जुड़ा है। वे समग्रता में रखकर अध्ययन, चिंतन-मनन करते थे। उन पर विचार भी समग्रता में ही किया जाना चाहिए। वे आधुनिक काल की शुरुआत जातीय गठन के समय देखते हैं और यह बताते हैं कि आधुनिक काल के भी कई चरण हैं। ''जिसे लोग मध्य काल कहते हैं, वह वास्तव में आधुनिक काल का प्रथम चरण है जब समाज में उद्योग और व्यापार के विकास और प्रसार के साथ समाज में नये संबंध कायम होते हैं। साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन का आधार समाज-व्यवस्था होनी चाहिए। पुरानी संस्कृति के अवशेष बहुत दिनों तक कायम रहते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि नये युग का सूत्रपात नहीं हुआ।'' ('भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ', 1986, पृ. 146)

निजी सम्पत्ति पर आधारित एक अर्थव्यवस्था के रूप में 'पूँजीवाद' पद का प्रयोग 'दास कैपिटल' के प्रकाशन (1867) के समय से होने के बाद उत्पादन के एक साधन के रूप में व्यापक रूप से इसका प्रयोग आरंभ हुआ। जहाँ तक 'कैपिटलिज्म' के प्रथम प्रयोग की बात है, ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार 1854 में अंग्रेजी उपन्यासकार विलियम मेकपीस थैकरे (18.7.1811-24.12.1863) के उपन्यास 'द न्यू कम्स' में इसे हम देखते हैं। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि विलियम मैकपीस थैकरे का जन्म कलकत्ता में हुआ था। 1854-55 में प्रकाशित इस उपन्यास का पूरा नाम था - 'द न्यू कम्स : मेम्बार्स ऑफ ए मोस्ट रेस्पेक्टेबल फेमिली।' 'कैपिटलिज्म' पद 'दास कैपिटल' के प्रकाशन के बाद ही प्रसिद्ध हुआ। यह औद्योगिक पूँजीवाद का समय था। बड़े पैमाने पर मशीनी उत्पादन से औद्योगिक पूँजीवाद का संबंध है। जेथ्रे टूल(1674-1741), जेम्सवाट (1736-1819), रिचर्ड आर्कराइट (1732-1792), रौबर्ट फल्टन (1765-1815), एझमुंड कार्टराइट (1743-1823), जॉन के (1704-1780), सिमुएल क्रॉम्प्टन (1753-1827), जॉर्ज स्टीफेंसन (1781-1848), एली व्हिटनी(1765-1825)

और हेनरी बेसमर (1813-1898) औद्योगिक क्रांति से संबंधित प्रमुख व्यक्ति हैं। उस समय के प्रमुख आविष्कार वाष्प इंजन, टेलीग्राफ, स्पिनिंग जेनि, रेल मार्ग, इस्पात निर्माण, फोटोग्राफी, विद्युत और वायुयान हैं।

1757 की प्लासी की लड़ाई के पहले इंग्लैण्ड में वैसे आविष्कार नहीं हुए थे, जिनसे वहाँ औद्योगिक क्रांति सम्पन्न होती। 'आविष्कारक प्रतिभा' अकारण और अचानक नहीं फूट पड़ी थी। आविष्कारों का पूँजी के इकट्ठे होने से संबंध था। 1757 के बाद बड़े-बड़े आविष्कारों का सिलसिला आरंभ हुआ जिससे औद्योगिक क्रांति संभव हुई। प्लासी की लड़ाई के बाद भारत की दौलत बेशुमार मात्रा में इंग्लैण्ड जाने लगी, जिसे रजनी पाम दत्त ने 'बरसाती नदी की तरह विलायत की तरफ बहना' कहा है। 1757 के बाद ही 1764 में हारग्रीब्स द्वारा नये करघे (स्पिनिंग जेनी) का आविष्कार, 1765 में वाट द्वारा भाप के इंजन का निर्माण, 1769 में आर्कराइट द्वारा जल-ढाँचा (वाटर फ्रेम) बनाना, 1775 में 'रुई की सफाई, खिंचाई और कताई की मशीनों का पेटेंट कराना, 1779 में क्रॉम्प्टन द्वारा खच्चर-कर्घा (म्यूल), 1785 में कार्टराइट द्वारा मशीन का करघा (पावर-लूम) बनाना और 1788 में लोहा गलाने की भट्ठियों में भाप का इंजन लगाना संभव हुआ।

रामविलास शर्मा ने इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति से हुए विकास को 'निरपेक्ष रूप में मानव जाति के लिए आगे बढ़ा हुआ कदम नहीं' माना है। ''उसके साथ ह्रास वाला पक्ष जुड़ा हुआ है।'' ('मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' भूमिका पृ. 4) वे इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति के बाद संसार के देशों को 'मोटे तौर से दो भागों में' विभाजित देखते हैं- 'आगे बढ़े हुए देश और पिछड़े हुए देश'। आज जिन देशों को विकसित अर्द्धविकसित या विकासशील और अविकसित देश कहा जाता है, उसका संबंध औद्योगिक क्रांति से है, जो लूट से संभव हुई। अंग्रेजों के प्रति भारतीय बौद्धिकों में पहले भी एक सहानुभूति रही है, आज भी है। बड़े पैमाने पर मशीनी उत्पादन मुनाफा कमाने के लिए है। मार्क्स ने दुनिया में आने वाले पैसों पर 'खून के दाग' देखे थे। ''अगर पैसे का यह हाल है, तो पूँजी सिर से पैर तक रत्ती-रत्ती खून और गंदगी में सराबोर होकर आती है।'' (पूँजी, खण्ड 1, अध्याय 31)

औद्योगिक क्रांति का आरंभ 1760 ई. से माना जाता है क्योंकि इसी वर्ष फ्लाइंग -शटल आई और लोहा गलाने के लिए लकड़ी के स्थान पर कोयला से काम लिया जाने लगा। औद्योगिक पूँजीवाद पूरी तरह से पुरानी व्यवस्था को नष्ट

नहीं करता है। ''इंग्लैण्ड समेत किसी भी देश में उद्योगपतियों ने सामंतवाद को पूरी तरह खत्म नहीं किया।'' ('भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' खण्ड 1, 1982, पृ. 21) डॉ. शर्मा 'सूदखोरी' को 'पहला अवशेष' मानते हैं। 1694 में इंग्लैण्ड का बैंक बना, पर वहाँ 1850 ई. तक बैंक पूँजी और चालू पूँजी कम थी। 60 साल तक उसका सबसे छोटा नोट 20 पौंड का था। पूँजीपतियों ने अपने लिए बैंक-व्यवस्था बनाई थी, पर साधारण लोग सूदखोरों से पैसा उधार लिया करते थे। क्या शहर, क्या देहात दोनों ही जगहों में इन सूदखोरों की अपनी दुकानें थीं। ''इस तरह की सिर्फ लंदन में ही दो सौ चालीस दुकानें थीं। इन्हीं में से किसी दुकान से मार्क्स को भी साबिका पड़ा था। देहात में इन लोगों की ढाई हजार दुकानें थीं। इन्हें गिरवी रखने वाला (पौन ब्रोकर) कहा जाता था। उस समय के एक लेखक ने हिसाब लगाया था कि ये लोग साल में दस लाख पाउंड सूद के रूप में कमाते हैं।'' ('भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद', पृ. 96) सूदखोरी के साथ-साथ 'घटिया किस्म की सौदागरी' भी कायम थी। अवशेषों में जमींदार-वर्ग अधिक महत्त्वपूर्ण था। इंग्लैंड के दो राजनीतिक दलों में टोरी दल जमींदारों का था और प्रगतिशील माने जाने वाले दल में भी जमींदारों के प्रतिनिधि अधिक संख्या में थे। जमींदार राज्यसत्ता के अलावा 'फौज और चर्च के ऊपर भी हावी थे।' पूँजीपति वर्ग वहाँ अभिजात वर्ग पर निर्भर था। डॉ. शर्मा ने इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति को 'मानव इतिहास में अब तक की सबसे बड़ी क्रान्ति' मानने के बाद भी 'पुराने तामझाम' के बरकरार रहने की बात कही है। ''यह पूँजीवादी क्रांति अधूरी थी, आर्थिक क्षेत्र में अधूरी थी, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी अधूरी थी... औद्योगिक क्रांति के बाद सामाजिक प्रगति के लिए पश्चिमी यूरोप में अभिजात वर्ग के प्रभुत्व को खत्म करना जरूरी था।'' (वही, पृ. 99)

ब्रिटेन में मजदूर वर्ग की श्रम शक्ति का शोषण करने वाला पूँजीपति वर्ग, राज्य सत्ता पर हावी अभिजात वर्ग और मजदूरों के बीच उत्पन्न एक ऊपरी स्तर को डॉ. शर्मा ने 'मजदूर वर्ग के तीन शत्रु' कहा है और यह लिखा है कि ''भारत जैसे पराधीन देशों के भी यही तीन शत्रु थे।'' (वही, पृ. 104) आधुनिक रूप में भारत का औद्योगीकरण 1850 ई. से आरंभ हुआ। 1853-54 में यहाँ रेल और तार-प्रणाली बहाल हुई। बाद में इन उद्योगों की उन्नति हुई। 1908 में पहली बार भारत में लौह-इस्पात का कारखाना आरंभ हुआ। इंग्लैण्ड में मजदूरों के शोषण के साथ

'पूँजी का केन्द्रीकरण' हुआ। पूँजी के केन्द्रीकरण से छोटे पूँजीपतियों का बड़े पूँजीपतियों ने भक्षण किया। मार्क्स ने इस समय 'श्रम की प्रक्रिया में सहकारिता बढ़ने' की बात लिखी है। विज्ञान से प्राप्त तकनीक उत्पादन में लगाया गया। उत्पादन के औजारों का सब मिलकर उपयोग करने लगे। ''श्रम के औजारों का समाजीकरण हुआ।'' विश्व बाजार का जाल फैला, जिसमें दुनिया के लोग सिमटने लगे। 'पूँजीवादी व्यवस्था का अन्तरराष्ट्रीय चरित्र निर्मित' हुआ।' बड़े पूँजीपयिों ने उत्पादन पर इजारा कायम करना आरंभ किया। ''इजारे की यह प्रवृत्ति औद्योगिक पूँजीवाद के जमाने में देखी जाती है।'' (वही, पृ. 108) पूँजी के ऊपर बड़े पूँजीपतियों के इस इजारे को उत्पादन की पद्धति पर एक बंधन के रूप में देखा गया है। कुछ पूँजीपतियों का उत्पादन के साधन पर स्वामित्व हुआ और इस उत्पादन-संबंध से उत्पादक शक्तियाँ (करोड़ों मजदूर) टकराने लगीं। डॉ. शर्मा ने विस्तार से 'औद्योगिक पूँजीवाद : वैज्ञानिक समाजवाद और रूस की समाजवादी क्रांति' पर विचार किया है। वे 'वैज्ञानिक समाजवाद को सही ढंग से समझने के लिए मार्क्स और एंगेल्स के विचारों को उनकी विकास मानता के संदर्भ में' देखते हैं। मार्क्स और एंगेल्स के विचार बदलते रहे हैं। ''वैज्ञानिक समाजवाद के बारे में मार्क्स और एंगेल्स की विचारधारा विकासमान है, यह न समझने के कारण बहुत से मार्क्सवादियों ने आपसी विवाद में अनगिनत पृष्ठ लिखे हैं।'' (वही, पृ. 115) समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए पूँजीवाद को निरस्त करना ही आवश्यक नहीं है। उसे नियंत्रित करके ही रूस में 'समाजवाद की ओर संक्रमण' हुआ। लेनिन ने रूसी अर्थतंत्र के पाँच अंगों में एक अंग 'राजकीय पूँजीवाद' (स्टेट कैपिटलिज्म) माना है जिसे डॉ. शर्मा ने 'सबसे महत्त्वपूर्ण' कहा है। वे यह मानते हैं कि बड़े उद्योग-धंधों की बुनियाद के बिना 'समाजवाद की रचना' संभव नहीं है। राजकीय पूँजीवाद इसी कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है। डॉ. शर्मा 'औद्योगिक पूँजीवाद' पर लेखन के क्रम में 'राजकीय पूँजीवाद' पर विचार करते हैं। 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' में भी उन्होंने 'नया जनतंत्र और राजकीय पूँजीवाद' पर लिखा है। वे राजकीय पूँजीवाद के एक पक्ष में जहाँ 'पूँजीपतियों के सहयोग से बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों का संगठन' रखते हैं वहाँ दूसरे पक्ष को किसानों से जोड़ते हैं। एक पक्ष औद्योगिक विकास का है और दूसरा पक्ष व्यापार का है। उनके इस अध्ययन के केन्द्र में सोवियत रूस है।

रामविलास शर्मा तीन प्रकार की पूँजी मानते हैं- सूदखोर, व्यापारिक और औद्योगिक। ''इसी के अनुरूप पूँजीवाद तीन तरह का होता है- व्यापारिक, औद्योगिक, सूदखोर। ऐतिहासिक विकास-क्रम में सूदखोर पूँजी का जन्म पहले होता है, सूदखोर पूँजीवाद का जन्म सबसे पीछे होता है।'' (वही, पृ. 138) मुनाफा देनेवाली पूँजी और सूद देने वाली पूँजी में अंतर है। उद्योगपति मुनाफा देनेवाली पूँजी का मालिक है और महाजन सूद देने वाली पूँजी का मालिक। मार्क्स के जीवन काल में ही इस महाजनी व्यवस्था का आरंभ हो चुका था। 'महाजन' आसानी से समझ में आने वाला शब्द है। इसी कारण प्रेमचन्द ने पूँजीवादी सभ्यता को 'महाजनी सभ्यता' कहा था। डॉ. शर्मा ने पूँजी की इस 'उन्नत' अवस्था को, जो औद्योगिक पूँजीवाद के बाद की है, 'महाजनी पूँजीवाद' कहा है। 'उद्योगपति' और 'पूँजीपति' में अंतर है। उद्योगपति उद्योग-धंधों का मालिक होता है, जो बाद में पूँजी का प्रबन्धक और प्रशासक भर रह जाता है। डॉ. शर्मा ने 'पूँजी' के तीसरे खण्ड (1894) से, जिसे एंगेल्स ने मार्क्स द्वारा छोड़े गये नोट्स से तैयार किया था, यह अंश उद्धृत किया है ''पूँजी का मालिक, महज मालिक, महज पैसे वाला पूँजीपति रह गया है'' (वही, पृ. 140 पर उद्धृत) उद्योगपति अब महाजन का कारिन्दा, उद्योगधंधों का प्रबंधक मात्र रह जाता है। माल की बिक्री से प्राप्त मुनाफे का एक भाग महाजन का होता है। औद्योगिक पूँजीवाद के बाद का यह युग महाजनी पूँजी या इजारेदार पूँजी का युग है। औद्योगिक पूँजीवाद की तुलना में इस 'अधिक प्रतिक्रियावादी' कहा गया है। 1875 से इस महाजनी पूँजी का युग आरम्भ हुआ। अब उद्योगपति की तुलना में बैंक पति प्रमुख हुआ। ''1914 के विश्व महायुद्ध के समय तक इंग्लैण्ड का महाजनी पूँजीवाद राज्यसत्ता पर हावी हो चुका था...। रूस में यह औद्योगिक पूँजीवाद का विकास काल था। विश्व पैमाने पर यह महाजनी पूँजीवाद का विकास काल था।'' ('भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद', खण्ड 1, 1982, पृ. 22) पूँजीवाद की सभी अवस्थाओं में भारत का इंग्लैण्ड से संबंध था। विश्व बाजार में पूँजीवादी शक्तियों की आपसी टकराहट का भारत पर भी प्रभाव पड़ा।

महाजनी पूँजीवाद में पूँजी उत्पादन से अलग हो जाती है। ''सूदखोर पूँजी अपने आरंभिक रूप में उत्पादन से विलग थी, अपने आधुनिक रूप में वह उससे फिर विलग है। उत्पादन से विलग होने के कारण वह पहले भी परजीवी थी, अब भी परजीवी है। अंतर यह है कि तब उत्पादन अविकसित था, अब वह असाधारण रूप से विकसित है। इससे परजीवीपन में वृद्धि होती है, पूँजीवादी सट्टेबाजी और

धोखाधड़ी में वृद्धि होती है।'' ('भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद', पृ. 140) महाजनी पूँजीवाद में मुनाफा सूद के रूप में प्राप्त होता है। पूँजी के केन्द्रीकरण से इजारेदार गुटों में प्रतिद्वंद्विता बढ़ती है। प्रथम विश्व युद्ध के पहले पूँजी के केन्द्रीकरण से इजारेदार गुटों में प्रतिद्वंद्विता बढ़ी थी। 1913 में लेनिन ने 'पूँजीवादी विकास का शान्तिपूर्ण दौर' समाप्त होने की बात कही थी। ब्रिटेन की इजारेदारी को चुनौतियाँ मिल रही थीं। महाजनी पूँजीवाद, जिसे डॉ. शर्मा 'इजारेदार पूँजीवाद' भी कहते हैं, पूँजीवाद का एक नया दौर है। इस इजारेदार पूँजीवाद को लेनिन ने 'पूँजीवाद की सबसे ऊँची मंजिल' कहा है, जो 'साम्राज्यवाद' है। औद्योगिक पूँजीवाद, जिसे गैर इजारेदार पूँजीवाद भी कहा जाता है, का दौर 1870 के दशक में समाप्त हो रहा था और उन्नीसवीं सदी के अंत में इसका संक्रमण महाजनी पूँजीवाद की ओर हुआ। यह पूँजीवाद का एक नया रूप था, जिसकी मार्क्स और एंगेल्स ने केवल पहचान ही नहीं की, उसकी विशेषताएँ भी, बताईं। मार्क्स ने 'ग्रुंदिसे' (प्रकाशन 1939) और 'पूँजी' में 'आधुनिक विज्ञान और तकनीक' के जिन उन्नत रूपों की व्याख्या की है वह आज की पूँजी को समझने में हमारी मदद करती है। ''महाजनी पूँजीवाद कृषि-प्रधान देशों को ही नहीं, उद्योग-प्रधान देशों को भी अपने अधिकार में ले आना चाहता है। बड़ी ताकतों की आपसी होड़ तेज होती है और पहले से बँटी हुई दुनिया को वे फिर से बाँटने की कोशिश करती हैं। उपनिवेशों, अर्ध उपनिवेशों, पराधीन देशों, अर्ध स्वाधीन देशों और प्रभाव क्षेत्रों के द्वारा वे सारी दुनिया को अपने जाल में फाँस लेती हैं'' (वही, पृ. 143) लेनिन ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के साथ अमरीका को भी बड़ा इजारेदार माना था। उन्होंने इन चारों को 'विश्व की महाजन पूँजी का चार 'स्तंभ' कहा था, जिनके पास दुनिया की महाजनी पूँजी का अस्सी प्रतिशत था। इजारेदारी और युद्ध में एक रिश्ता है। इजारेदारी युद्ध को जन्म देती है और युद्ध इजारेदारी को और शक्तिवान बनाता है। दूसरे महायुद्ध के बाद विश्व-परिदृश्य बदल गया। पहले जिस स्थान पर ब्रिटेन था अब उस स्थान पर अमरीका आ गया। दूसरे विश्वयुद्ध के अंतिम समय में ही ब्रेटन वुड्स ने दो संतानें-विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष पैदा कीं। इन पंक्तियों के लेखक ने पचीस वर्ष पहले 1995 में 'विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, गैट, विश्व व्यापार संगठन और अमरीका (भारतीय संदर्भ में)' पर विचार किया था ('वैकल्पिक भारत की तलाश', 2018 में संकलित)

लेनिन ने 1916 में इजारेदार पूँजीवाद की विशेषता मानी थी- 'जनतंत्र को समाप्त करने वाले प्रतिक्रियावाद में परिवर्तन'। आज सौ वर्ष बाद दुनिया के लोकतांत्रिक देशों में लोकतंत्र की कराहें सुनी जा सकती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका का अर्थतंत्र अन्य देशों की तुलना में कहीं अधिक सुदृढ़ था। ब्रिटेन पीछे हुआ और अमरीका आगे बढ़ा। महाजनी पूँजीवाद को डॉ. शर्मा 'इजारेदारी पूँजीवाद' भी कहते हैं। अमरीकी राजनीति में इजारेदारी और सट्टेबाजी दोनों का वे 'सह अस्तित्व' देखते हैं। एंगेल्स ने अमरीका में 'राजनीतिक सट्टेबाजों के दो बड़े गिरोह' को 'राजनीतिज्ञों के दो बड़े कार्टेल' कहा था। डॉ. शर्मा इस आधार पर यह लिखते हैं ''जहाँ कार्टेल है, वहाँ सट्टेबाजी भी है, चाहे राजनीति हो, चाहे अर्थतंत्र हो।'' (भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद', पृ. 146) महाजनी पूँजी के विकास के साथ बैंक सट्टा बाजार बना। महाजनी पूँजीवाद जुगारी पूँजीवाद बना। अर्थशास्त्री और अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ ऐसे 'पद' या 'टर्म' का प्रयोग नहीं करते, पर सामान्य रूप से समझने के लिए ये उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने 'स्पेकुलेशन' की बात कही है। स्पेकुलेटिव कैपिटल की चर्चा अब सामान्य है। ''सट्टा एक तरह का जुआ है। इस जुए की छाप समसस्त महाजनी संस्कृति पर है। घुड़दौड़ में लोग घोड़ों पर पैसा लगाते हैं, चुनाव में राजनीतिज्ञों पर लगाते हैं।'' (वही, पृ. 147)

आज जिसे हम 'वित्तीय पूँजी' (फाईनेंस कैपिटल) कहते हैं, उसने पहले के सब कुछ को नष्ट कर डाला है। यह पूँजी बड़े अन्तरराष्ट्रीय बैंकों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा संचालित होती है। डॉ. शर्मा ने बार-बार यह कहा है कि व्यापारिक पूँजीवाद के दौर में और महाजनी पूँजीवाद के दौर में भी सूदखोरी की प्रवृत्ति बढ़ती रही है। सूद कमाने के तरीके अब पहले से बदले हुए हैं। पिछली सदी के सत्तर के दशक से जो कुछ परिवर्तन हुए, विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जिस प्रकार तीसरी दुनिया के देशों पर हावी हुए, उसकी चर्चा कम की जाती है। उत्तरी अमरीका और यूरोप के चारित्रिक अन्तर को समझने के लिए मार्क्स-एंगेल्स के एक निबंध 'बास्तियत एण्ड कैरे' को पढ़ना आज अधिक जरूरी है क्योंकि सत्तर के दशक से मुख्य रूप से अमरीकी अर्थतंत्र दुनिया में प्रभावी हुआ। हिन्दी में अभी तक राजेश्वर सक्सेना को छोड़कर शायद ही किसी ने 'बास्तियत एण्ड कैरे' निबंध की विस्तार से चर्चा की है। बास्तियत फ्रेंच अर्थशास्त्री (30.6.1801-

24.12.1850) थे और हेनरी चार्ल्स कैरे (15.12.1793-13.10.1879) अमरीकी अर्थशास्त्री थे। मार्क्स-एंगेल्स के इस निबंध को पढ़कर यह साफ हो जाता है कि ''उत्तरी अमरीका की राजनीत्यार्थिकी (पॉलिटिकल इकोनॉमी) का उन्मुक्त चरित्र यूरोप की राजनीतित्यार्थिकी जैसा नहीं है'' (राजेश्वर सक्सेना, 'वित्तीय पूँजी और उत्तर आधुनिक', 2001 पृ. 60) डॉ. सक्सेना इस वित्तीय पूँजी का 'नव्य फासीवाद' से रिश्ता देखते हैं।

रामविलास शर्मा ने जीवन के अंतिम वर्षों में बार-बार 'विदेशी पूँजी' की बात कही है। आजादी के समय केवल ब्रिटिश फौज यहाँ से गयी, विदेशी पूँजी नहीं गयी। 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश', भाग 2 (1999) में वे आज के भारत को 'कल के इतिहास की देन' कहते हैं। विदेश से कर्ज लेकर देश के विकास के वे विरोधी हैं। नरसिंह राव और मनमोहन सिंह की सरकार ने जो नयी आर्थिक नीति लागू की, वह नव उदारवादी अर्थव्यवस्था के तहत थी। ''लेनिन ने कर्ज लेकर माल खरीदने की क्रिया की तुलना बैल की खाल दो बार उतारने से की थी। महाजनी पूँजी पहले उधार दी हुई रकम का मुनाफा गाँठ में करती है, उसके बाद उसी रकम से वह दूसरे मुनाफे भी गाँठ में करती है जब लेनदार उसका उपयोग क्रुप (जर्मन पूँजीपति) से माल खरीदने को करता है।'' (भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद पृ. 162) देशी-विदेशी पूँजी का गठबंधन 'चौमुखी संकट' बढ़ाता है। ''भाषा, साहित्य और संस्कृति से ले कर पर्यावरण तक भारतीय जीवन को हर स्तर पर विदेशी पूँजी प्रभावित करती है।'' (भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश, खण्ड 2, पृ. 635) सोवियत संघ के विघटन के बाद भारत में जिस तीव्र गति से 'जाति-बिरादरीवाद' और सम्प्रदायवाद' बढ़ा है, उसका विदेशी पूँजी से सीधा संबंध है। विदेशी पूँजी अपने साथ एक भाषा, एक मूल्य और एक संस्कृति भी लाती है। आज जिसे 'मार्केट कैपिटल' कहा जाता है, वह मात्र अर्थ-जगत के दायरे में ही संचरण नहीं करती।

डॉ. शर्मा के के व्यापक अर्थशास्त्रीय अध्ययन-चिंतन और विचार-दृष्टि पर अभी तक कम विचार हुआ है। उनका लेखन मात्र अकादमिक नहीं है। केवल अकादमिक चश्मे और नजरिये से न तो उसे देखा-समझा जा सकता है और न उस पर सही तरीके से विचार किया जा सकता है। बेनेदिक्त एंडरसन (26.8.1936-13.12.2015) ने 'प्रिंट कैपिटलिज्म' की बात की, व्यापारिक और औद्योगिक

पूँजीवाद का भेद मिटाया, जिसकी डॉ. शर्मा ने आलोचना की। बड़ी बात यह है कि वे पूँजी के इस खेल और विश्वव्यापी प्रसार में 'इलेक्ट्रॉनिक्स' की भी एक बड़ी भूमिका देखते हैं, इजारेदार पूँजीवाद पर अमरीकी वर्चस्व को समाप्त करने का मार्ग भी बताते हैं। अमरीका पूँजीवाद का गढ़ है। वहाँ से पूँजी के निर्यात के साथ संस्कृति का भी निर्यात होता है। किसिंजर ने वर्षों पहले यह कहा था कि भूमंडलीकरण अमरीकीकरण है।

जहाँ तक उधार देकर सूद कमाने का धंधा है, वह अब अनेक नये तरीकों से जारी है। इसके विशाल रूप को समझने के लिए यह उल्लेख आवश्यक है कि (एक स्रोत के अनुसार) भारत प्रति सेकंड 1 लाख 46 हजार 990 रुपये, प्रति मिनट 88 लाख 94 हजार रुपये, प्रत्येक घंटे 52.9 करोड़ रुपये, प्रतिदिन 1270 करोड़ रुपये और प्रत्येक वर्ष 4 लाख 63 हजार करोड़ रुपये पुराने कर्ज के ब्याज के रूप में चुका रहा है। भारत विदेशी कज के जाल में फँसा देश है। प्रति व्यक्ति यह कर्ज 53 हजार 544 रुपये है। कर्ज लेकर ब्याज दिया जा रहा है। एक और भारत प्रति घंटे 52.9 करोड़ रुपये व्याज दे रहा है, दूसरी ओर मुकेश अम्बानी ने पिछले 6 महीने में प्रति घंटा 90 करोड़ रुपया कमाया। कर्ज पर ब्याज चुकाने में प्रत्येक वर्ष सरकार लाखों करोड़ रुपये खर्च करती है। विदेशी कर्ज जिस अनुपात में बढ़ता गया है, उसी अनुपात में ब्याज भी बढ़ता गया। नव उदारवादी अर्थव्यवस्था के दौर में यह कर्ज काफी बढ़ा है। मार्च 1999 में जो विदेशी कर्ज 98.2 अरब डालर था, वह जून 2019 में बढ़ कर 557.4 अरब डालर हो गया है।

डॉ. शर्मा के गंभीर अध्येताओं को उनके अर्थशास्त्रीय अध्ययन-चिंतन पर भी विचार करना चाहिए। औद्योगिक पूँजी का सम्बन्ध मानव-श्रम से था। आज की वैश्विक पूँजी श्रम-निरपेक्ष है। इस पूँजी की लपेट में सब है- भाषा, संस्कृति, लोकतंत्र, घर, परिवार, संबंध, शिक्षा, मूल्य आदि। डॉ. शर्मा ने इस पूँजी की सदैव आलोचना की है। पारम्परिक अर्थ में वे अर्थशास्त्री नहीं हैं, पर उनका यह अर्थशास्त्रीय अध्ययन-चिंतन अधिक महत्त्वपूर्ण है।

रामविलास शर्मा और हिंदी नवजागरण

योगेश प्रताप शेखर

हिंदी नवजागरण की अवधारणा डॉ. रामविलास शर्मा की है। इस पर उन्होंने बहुत काम किया है। 19 वीं और 20 वीं शताब्दी में भारत में जो नवजागरण दिखाई देता है उस के परिप्रेक्ष्य में डॉ. रामविलास शर्मा ने हिंदी क्षेत्र में हुए नवजागरण को समझने की कोशिश की है। 1977 ई. में डॉ. शर्मा की 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी पुस्तक में विस्तार से 'हिंदी नवजागरण' की अवधारणा का विवेचन है। इस से पहले उनकी दो और किताबें प्रकाशित हो चुकी थीं। 'भारतेंदु-युग और हिंदी भाषा की विकास-परम्परा' सब से पहले 1943 ई. में 'भारतेन्दु-युग' के नाम से छपी थी। 1973 ई. में इस किताब के पाँचवें संस्करण की भूमिका में डॉ. शर्मा ने इस किताब के बदले हुए नाम यानी 'भारतेन्दु-युग' से बदलकर 'भारतेंदु-युग और हिंदी भाषा की विकास-परम्परा' होने के कारण बताए हैं। इसी पुस्तक के तीसरे संस्करण की भूमिका 1956 ई. में लिखते हुए डॉ. शर्मा ने स्पष्ट किया था कि 'भारतेन्दु-युग का साहित्य हिंदी-भाषी जनता का जातीय साहित्य, वह हमारे जातीय नवजागरण का साहित्य है।' (भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा-रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998 ई., पृ.-6) इसके बाद 1953 ई. में डॉ. शर्मा की 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' पुस्तक प्रकाशित हुई। इस किताब के भी तीसरे संस्करण की भूमिका में डॉ. शर्मा ने इस के नाम बदले जाने की बात लिखी है। पहले यह पुस्तक भारतेन्दु हरिश्चंद्र पर केंद्रित थी। तीसरे संस्करण के अवसर पर इस में 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' अध्याय जोड़ा गया था। इसीलिए इस का नाम 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' कर दिया गया। मृत्यु से ठीक एक वर्ष पहले यानी 1999 ई. में दो वृहत् खंडों में

डॉ. शर्मा की पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश' प्रकाशित हुई। इसमें भी यथास्थान 'हिंदी नवजागरण' का विवेचन है। इस संक्षिप्त काल-क्रम-विवेचन से स्पष्ट है कि डॉ. रामविलास शर्मा 'हिंदी नवजागरण' पर लगभग चालीस-पचास वर्षों तक लगातार सोचते रहे हैं। उनकी कई और भी किताबें या तो प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से 'हिंदी नवजागरण' से संबद्ध रही हैं।

'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' किताब की भूमिका का पहला ही वाक्य यह है कि 'हिन्दी प्रदेश में नवजागरण 1857 ई. के स्वाधीनता - संग्राम से शुरू होता है।' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण-रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012 ई., पृ.-9) सरल से दिखने वाले इस वाक्य में तीन अति महत्त्वपूर्ण पदबंध का प्रयोग है। 'हिन्दी प्रदेश', 'नवजागरण' और 'स्वाधीनता-संग्राम'। जैसा कि ऊपर कहा गया कि डॉ. शर्मा की लगभग अंतिम किताबों में से एक 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश' में भी 'हिन्दी प्रदेश' पदबंध है। मतलब यह कि वे 'हिन्दी प्रदेश' की अवधारणा को बहुत ही पुष्ट रूप में न केवल मानते हैं बल्कि इसका विश्लेषण भी जबरदस्त तैयारी के साथ करते हैं। 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' किताब के उपर्युक्त वाक्य से यह भी समझ में आता है कि 1857 ई. डॉ. रामविलास शर्मा के नवजागरण संबंधी चिंतन के केंद्र में है। इस से दूसरी बात यह भी निकलती है कि डॉ. शर्मा के लिए 'हिन्दी प्रदेश' एक इकाई है। इसी विचार से 'हिंदी जाति' की अवधारणा भी डॉ. रामविलास शर्मा ने विकसित की। तात्पर्य यह कि 'नवजागरण' और 'हिन्दी प्रदेश' की अवधारणा डॉ. रामविलास शर्मा के यहाँ एकदम अंतर्भुक्त है। एक के बिना दूसरे की कल्पना ही संभव नहीं है। अकारण नहीं है कि आगे चलकर रामविलास शर्मा एक किताब ही 'हिन्दी जाति का साहित्य' नाम से 1986 ई. में लिखते हैं।

'हिंदी प्रदेश' या 'हिंदी जाति' की अवधारणा सबसे पहले हिंदी के प्रख्यात भाषावैज्ञानिक धीरेंद्र वर्मा ने सामने रखी थी। 1930 ई. में उनकी किताब 'हिन्दी-राष्ट्र या सूबा हिन्दुस्तान' प्रकाशित हुई थी। उस में उन्होंने लिखा था कि 'भारतवर्ष में केवल यह एक हिन्दी-भाषा-भाषी जन-समुदाय ही ऐसा अभागा है न तो जिसके देश का ही कोई नाम है और न जहाँ देशवासियों को ही किसी एक नाम से पुकारा जा सकता है। यदि आप किसी कलकत्ते के रहने वाले से पूछिये तो वह

बड़े गर्व से कहेगा कि मैं बंगाल का रहने वाला हूँ। अहमदाबाद का रहने वाला अपने को गुजराती बतला देगा। अमृतसर का रहने वाला अपने को पंजाबी समझता है। पूना वालों का देश महाराष्ट्र है। किन्तु काशी, अयोध्या, प्रयाग, लखनऊ, आगरा, मेरठ तथा दिल्ली के रहने वाले जानते ही नहीं कि वे कहाँ के रहने वाले हैं। उनके देश का नाम यदि कोई है तो वह है 'संयुक्त-प्रान्त' अथवा 'मुमालिक मुतहद्दा आगरा व अवध'। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे अपने को 'यू. पी. मैन' समझते हैं। बंगाल में हमारे प्रान्त को 'अप-कन्ट्री' के नाम से पुकारा जाता है। हमारा राष्ट्र किस अवस्था में है तथा के भारत के अन्य राष्ट्र अभी भी हम से कितने आगे हैं इसका पता इसी एक छोटी सी बात से चल जाता है। बिना नाम का आदमी भला अपना परिचय कैसे दे सकता है। हमारे प्रान्त के नाम का यह स्वांग अब बन्द हो जाये इस सम्बन्ध में तुरन्त प्रयत्न होना चाहिये। हिन्दी-भाषा-भाषियों को चाहिये कि 'संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध' के स्थान पर अपने प्रान्त का कोई सीधा तथा सर्वप्रिय नाम रखवावें। मेरे विचार में हमारे प्रान्त का सब से अधिक उपयुक्त नाम 'हिन्दुस्तान' होगा। देश, देश वासी, तथा भाषा का जितना सुन्दर साम्य इस नाम से हो सकेगा उतना और किसी नाम से संभव नहीं मालूम होता - देश का नाम हिन्दुस्तान, देश वासी हिन्दुस्तानी, भाषा हिन्दुस्तानी।' (हिन्दी राष्ट्र या सूबा हिन्दुस्तान-धीरेन्द्र वर्मा, लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1930 ई., पृ.-6, 7) इस लंबे उद्धरण से स्पष्ट है कि धीरेंद्र वर्मा ने हिंदी क्षेत्र को एक इकाई मानते हुए उस की एक संस्कृति की पहचान की है। एक तरह से वे हिंदी क्षेत्र की अस्मिता को भारत की दूसरी क्षेत्रीय अस्मिताओं के संदर्भ में स्वतंत्र रूप से खड़ा करना चाहते हैं। इसका संबंध भारत में भाषा के हिसाब से राज्यों के गठन से भी है। डॉ. रामविलास शर्मा को यह अवधारणा अत्यंत आकर्षक लगती है। उन्होंने कई जगह इस तथ्य का जिक्र किया है कि '1936 की लखनऊ कांग्रेस में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने हिन्दी भाषियों का एक प्रान्त बनाने की बात कही थी, लेकिन जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें डाँटकर चुप करा दिया था। (कांग्रेस के उस अधिवेशन में निराला जी के साथ मैं उपस्थित था।)' (हिन्दी जाति का साहित्य-रामविलास शर्मा, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, 1992 ई., पृ.-19) आगे चलकर डॉ. शर्मा ने यह बात भी ज़ोर दे कर कही कि 'हिंदी भाषा के सारे जनपदों को मिला कर एक बड़ा राज्य नहीं बनाया जाएगा, तब तक यहाँ जातीय विकास नहीं हो सकता।' (हिंदी में हम आधुनिकता के कारख़ाने

में भाषा और विचार–अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015 ई., पृ.–190) इससे यह स्पष्ट है कि 'हिंदी नवजागरण की अवधारणा' के विकास के लिए आधारभूमि 'हिंदी प्रदेश' की परिकल्पना है। 'हिंदी प्रदेश' की इस परिकल्पना में 'जातीयता' और 'राष्ट्रीयता' के तत्त्व भी आगे चल कर शामिल हो जाते हैं।

हिंदी क्षेत्र में घटित आंदोलनों का विश्लेषण डॉ. शर्मा ने बहुत विस्तार से किया है। हिंदी में जिसे भक्तिकाल या भक्ति आंदोलन कहा जाता है उस को ले कर भी डॉ. शर्मा का यह मत प्रचलित ही है कि 'कबीर, जायसी, सूर और तुलसी का युग लोकजागरण का युग है।' (लोकजागरण और हिंदी साहित्य–सं. रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1985 ई., पृ.–11) इस लोकजागरण को डॉ. शर्मा इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि इस काल के कवियों को 'आधुनिक' भी कहते हैं। अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि 'यहाँ आधुनिक' शब्द सीधे काल क्रम का सूचक नहीं है। जो काल हमारे अपने समय के, यथा बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के, अधिक समीप होगा, वही आधुनिक होगा, ऐसा आशय इस शब्द का नहीं है। सामंती अंधविश्वासों से बाहर निकलकर जो साहित्य ज्ञान–विज्ञान और कलात्मक सौन्दर्य की ओर अग्रसर होता है, वह 'आधुनिक' है।' (हिंदी जाति का साहित्य–वही, पृ.–6)

डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार हिंदी नवजागरण की तीन मंजिलें हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'गदर, सन् 57 का स्वाधीनता–संग्राम, हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल भारतेन्दु हरिश्चंद्र का युग है। ... हिंदी नवजागरण का तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है।' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण–वही, पृ.–12, 15) 1857 ई. रामविलास शर्मा के लिए प्रेरक बिंदु है। 1957 ई. में जब 1857 ई. के स्वाधीनता–संग्राम के सौ वर्ष पूरे हुए तो उन्होंने 'सन् सत्तावन की राज्य क्रांति' किताब लिखी। इसी किताब का दूसरा संस्करण 1990 ई. में प्रकाशित हुआ और तब इसका नाम 'सन् सत्तावन की राज्य क्रांति और मार्क्सवाद' हो गया। इसी किताब में डॉ. शर्मा ने लिखा है कि 'क्रांति में भारत की एक से अधिक जातियों ने भाग लिया। उसे सभी प्रदेशों की जनता की सहानुभूति प्राप्त थी। उसकी धुरी हिंदी प्रदेश की जनता थी। ... इस क्रांति में जनता के सभी वर्गों ने भाग लिया। उसका

नेतृत्व सेना के हाथ में था। सैनिक और किसान उसके मूलाधार थे।' (सन् सत्तावन की राज्य क्रांति–रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 1957 ई., पृ.–498, 500) इतना ही नहीं डॉ. शर्मा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' की भूमिका में 1857 ई. के स्वाधीनता–संग्राम की कई विशेषताएँ बताते हैं। इस संदर्भ में वे यह लक्ष्य करते हैं कि 1857 ई. की पहली विशेषता यह है कि 'यह सारे देश की एकता को ध्यान में रखकर चलाया गया था।' इससे स्पष्ट है कि भारत की राष्ट्रीयता की पहली ध्वनि 1857 ई. की क्रांति है। डॉ. शर्मा के लिए 1857 ई. का महत्त्व इसलिए भी है कि इसमें नेतृत्व किसानों ने किया, इसका असाम्प्रदायिक राष्ट्रीय स्वरूप है और यह हिंदी प्रदेश में ही मुख्यत: चलाया गया। 1982 ई. में डॉ. शर्मा की दो खंडों में 'भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद' किताब का प्रकाशन होता है। इस में भी उन्होंने 1857 ई. के महत्त्व पर विस्तार से चर्चा की है। ऊपर यह कहा गया है कि डॉ. शर्मा की साधना का उत्तमांश 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' 1999 ई. में प्रकाशित हुई थी। इस में भी डॉ. शर्मा ने अपनी स्थापना को दोहराते हुए लिखा है कि '1857 का संग्राम मूलत: हिन्दीभाषी जनता का जातीय संग्राम था लेकिन वह भी राष्ट्रीय स्मृति का अंग बन गया।' (भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश (खंड 2) –रामविलास शर्मा, किताब घर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1999 ई., पृ.–350) इन सब बातों से स्पष्ट है कि डॉ. शर्मा के मन में 1857 ई. का महत्त्व एकदम स्थायी रूप से विद्यमान है। ऐसा होने के कारणों का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध विद्वान शंभुनाथ ने लिखा है कि 'रामविलास शर्मा 1857 के स्वाधीनता संग्राम के क़ायल थे। 1857 उनके साहित्यिक मूल्यांकन और चिंतन में ही नहीं, उनके जीवन में भी किसी–न–किसी रूप में धधकता रहा है। रामविलास शर्मा को भीतर–बाहर से समझने के लिए 1857 को नज़र में रखना ज़रूरी है। नि:संदेह यह मुख्यत: हिंदी पट्टी की घटना थी। ... रामविलास शर्मा को लगा कि 1857 का मामला ऐसा है, जिस पर हिंदी समाज गर्व कर सकता है। यह उसके ऐतिहासिक सार से प्रेरित होकर नए साम्राज्यवाद से टकराते हुए अपना धर्मनिरपेक्ष इतिहास दुबारा रच सकता है। उनके लिए 1857 की कथा किसी दर्द की जीवित धुन की तरह थी, जो बहुत नज़दीक से उठ रही थी। अंग्रेजों की सबसे बड़ी सेना 'बंगाल आर्मी' के ज़्यादातर सिपाही अवध के थे। विभिन्न धर्मों एवं जातियों (कास्ट) के बावजूद उनमें एकता थी। रामविलास शर्मा के जन्मस्थान

बैसवाड़ा के रहने वाले अवधी पूर्वजों ने इस लड़ाई में हिस्सा लिया था। अत: उनके लिए यह एक व्यक्तिगत गर्व का मामला भी था।' (रामविलास शर्मा-शंभुनाथ, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2013 ई., पृ.-61) इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1857 ई. का स्वाधीनता-संग्राम ही वह प्रस्थान-बिंदु है जहाँ से डॉ. रामविलास शर्मा की 'हिंदी जाति' की अवधारणा विकसित हुई है। उनका तर्क यह है कि 1857 ई. का गदर चूँकि मुख्यत: 'हिंदी प्रदेश' में घटित हुआ था इसलिए भारत की राष्ट्रीयता के विकास में 'हिंदी प्रदेश' यानी 'हिंदी जाति' का विशेष योगदान है।

डॉ. शर्मा के अनुसार हिंदी नवजागरण का अगला चरण 'भारतेंदु युग' है। डॉ. शर्मा ने भारतेंदु युग पर जो विचार किया है उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उन्होंने मूल स्रोतों की छानबीन की है। भारतेंदु द्वारा संपादित और प्रकाशित जिस 'कविवचन-सुधा' का आज हिंदी संसार में बस उल्लेख होता है उस 'कविवचन-सुधा' के ढेरों संदर्भ डॉ. शर्मा के लेखन में दर्ज़ हैं। भारतेंदु ने मात्र 18 वर्ष की अवस्था में 'कविवचन-सुधा' का प्रकाशन शुरू किया था। डॉ. शर्मा ने ध्यान दिलाया है कि 'कविवचन-सुधा' शुद्ध साहित्यिक पत्रिका न थी। वैसे भी 'शुद्ध साहित्य' जैसा कुछ होता नहीं! 'कविवचन-सुधा' के अंकों में उसके बारे में अंग्रेजी में छपा रहता था कि 'Abi-monthly journal of Literature, News and Politics.' (भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ-रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999 ई., पृ.-97) मतलब यह कि भारतेंदु केवल एक कमरे में बैठ कर साहित्य-साधना करनेवाले लेखक न थे। अपनी पत्रिका 'कविवचन-सुधा' को उन्होंने साहित्य के साथ-साथ विचार और राजनीति की भी पत्रिका बनाया था। साहित्य के बारे में एक धारणा प्रचलित कर दी गई है कि साहित्यकारों को राजनीति से बच कर चलना चाहिए। आधुनिक हिंदी साहित्य की शुरुआत से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय तक हिंदी साहित्य को देखने से यह स्पष्ट होता है कि साहित्यकारों ने अपने समय की राजनीति का न केवल विश्लेषण और चित्रण किया है बल्कि कई बार सक्रिय भूमिका भी निभाई है। इसलिए 'कविवचन-सुधा' में कई ऐसे लेख छपते थे जो सीधे अंग्रेजी राज की आलोचना करते थे। डॉ. शर्मा ने इसका विवरण देते हुए लिखा है कि 'नवम्बर 1870 में लार्ड मेयो का वह लेवी दरबार हुआ था जिस पर भारतेन्दु ने अपना प्रसिद्ध व्यंग्य लेख

'लेवी प्राणलेवी' लिखा था। इस लेख के बाद अंग्रेजों ने हरिश्चंद्र को कभी राजभक्त नहीं समझा।' (वही - पृ.-95) इतना ही नहीं 'कविवचन-सुधा' में ही इसके चार साल बाद एक मर्सिया छपता है जिससे शासक और अधिक क्रोधित हुए। उस मर्सिये में एक राजा की चर्चा थी। यह सवाल पूछा जाने लगा कि वह राजा कौन था? डॉ. शर्मा ने उस मर्सिये का एक अंश भी दिया है। भारतेंदु ने लिखा था कि 'मर्सिया में हमारे अनेक ग्राहकों को शंका होगी कि वह राजा कौन था इससे अब हम उस राजा का अर्थ स्पष्ट कर सुनाते हैं। वह राजा अंग्रेजी फैशन था जो इस अपूर्ण शिक्षित मंडली अंधेर नगरी पर राज करता था। जब से बम्बई और काशी इत्यादि कई स्थानों में अच्छे-अच्छे लोगों ने प्रतिज्ञा करके अंग्रेजी कपड़ा पहिरना छोड़ देने की सौगंध खाई तब से मानो वह मर गया।' (वही - पृ.-96) इन संदर्भों से यह पूरी तरह स्पष्ट है कि भारतेंदु युग के लिए साहित्य का मतलब किसी ख्याल में डूबे रहना नहीं बल्कि अपने समय की राजनीति और वास्तविकता का साक्षात्कार था। यहाँ 1936 ई. में हुए पहले प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति के पद से दिए गए प्रेमचंद के भाषण की वे अतिप्रसिद्ध पंक्तियाँ याद की जा सकती हैं जिसमें उन्होंने कहा था कि 'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है,-उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।' (कुछ विचार-प्रेमचंद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997 ई., पृ.-20) प्रेमचंद के इस कथन से हमें यह महसूस होता है कि भारतेंदु की परंपरा का सीधा विकास प्रेमचंद में होता है। न तो भारतेंदु तथाकथित शुद्ध साहित्य की साधना में लीन थे और न ही प्रेमचंद। अकारण नहीं है कि भारतेंदु और प्रेमचंद को माननेवाले डॉ. रामविलास शर्मा भी साहित्य के उस तरह से शुद्ध आलोचक नहीं है। तात्पर्य यह कि डॉ. शर्मा का लेखन साहित्य तक ही सीमित नहीं है। वे साहित्य से शुरू ज़रूर करते हैं पर भाषाविज्ञान, इतिहास और संस्कृति की गहरी, मौलिक और सहज ग्राह्य व्याख्या एवं विवेचन करते हैं। इसीलिए इन विधाओं के पेशेवर विद्वान उनकी स्थापनाओं पर विचार तो करते हैं, उससे सहमत या असहमत भी होते हैं परंतु उनकी पद्धति, जो एक आलोचक की है, को स्वीकार करने में हिचकते हैं। यहाँ ऋग्वेद के प्रसिद्ध विद्वान और उपन्यासकार भगवान सिंह का डॉ. रामविलास शर्मा पर लिखा लेख याद किया जा सकता है जिसमें उन्होंने लिखा है

कि 'मैं कई बार यह देखकर भौंचक रह जाता हूँ कि जिन बातों की ओर मुझसे पहले किसी का ध्यान न गया था, उनकी ओर रामविलास जी का ध्यान गया था।' (प्राचीन भारत के इतिहासकार-भगवान सिंह, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011 ई., पृ.-3) इसी प्रकार प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक अभय कुमार दुबे ने अपनी किताब 'हिंदी में हम : आधुनिकता के कारख़ाने में भाषा और विचार' में लिखा है कि 'अगर वे महज साहित्यालोचक होते, तो समाज-वैज्ञानिक शोध की कसौटियों पर उन्हें कसने की ज़रूरत न पड़ती। पर, मुश्किल यह है कि रामविलास शर्मा का लेखन समाज-वैज्ञानिक दृष्टि से सुपरिभाषित पेशेवर अनुसंधान की प्रविधियों का इस्तेमाल नहीं करता।' (हिंदी में हम आधुनिकता के कारख़ाने में भाषा और विचार - वही, पृ.-154)

भारतेंदु युग के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग को रामविलास शर्मा काफ़ी महत्त्व देते हैं। ऊपर यह संकेत किया गया है कि डॉ. शर्मा का ध्यान केवल साहित्य पर नहीं था। वे साहित्य को राजनीति, अर्थशास्त्र और वर्तमान समय के यथार्थ से जोड़ कर पढ़ने और समझने के हिमायती थे। अकारण नहीं है कि 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' किताब का पहला अध्याय 'अंग्रेज़ी राज में भारत' है। इस की शुरुआत महावीर प्रसाद द्विवेदी के किसी साहित्यिक लेख से नहीं बल्कि 1908 ई. में प्रकाशित अर्थशास्त्र से जुड़ी उनकी पुस्तक 'सम्पत्ति शास्त्र' की भूमिका से होता है। डॉ. शर्मा अपनी इस पुस्तक में भी मूल सामग्री का भरपूर संदर्भ देते हैं। इस किताब को पढ़ने से यह पता चलता है कि 'सरस्वती' पत्रिका की पूरी फाइल डॉ. शर्मा ने एक तरह से ज़ज़्ब कर ली थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखों, टिप्पणियों, संपादकीय अग्रलेखों और 'सरस्वती' में प्रकाशित दूसरे लेखकों के लेखों का प्रमाण दे कर डॉ. शर्मा ने यह स्पष्ट किया है कि द्विवेदी युग के लेखकों की चिंता परंपरा, आधुनिक विज्ञान एवं अंग्रेजी राज के शोषण से जुड़ी हुई थी। डॉ. शर्मा ने यह ध्यान दिलाया है कि 1905 ई. में द्विवेदी जी ने जॉन स्टुअर्ट मिल की किताब 'लिबर्टी' का अनुवाद 'स्वाधीनता' नाम से किया था। इतना ही नहीं 'सरस्वती' पत्रिका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध कर एशियाई सामूहिकता की ज़रूरत पर बल देने वाले लेख भी छपे थे। आधुनिक विज्ञान और भारतीय परंपरा का मूल्यांकन भी 'सरस्वती' के लेखों की विशेषता है। इन सब के साथ किसानों और मजदूरों के संगठन बनाने पर भी बल है। डॉ. शर्मा

ने जून 1914 ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित जनार्दन भट्ट के लेख 'हमारे ग़रीब किसान और मज़दूर' की विस्तार से चर्चा की है। जनार्दन भट्ट ने लिखा था कि 'एक तरफ़ झोपड़े में रहने वाला एक किसान मय अपने बाल-बच्चों के, दो रोज़ से फ़ाके कर रहा है और दूसरी ओर एक अमीर ऐय्याश अपने महलों में शराब के प्याले उड़ा रहा है। एक मनुष्य माघ-पूस के जाड़ों में ठिठुरा हुआ राम-राम करके रात काट देता है, और दूसरा मखमली गद्दे पर सोया हुआ स्वर्ग का सुख भोग रहा है।' डॉ. शर्मा ने बिलकुल ठीक लक्ष्य किया है कि 'हिंदी में श्रमिक जनता की वर्ग-चेतना के अभ्युदय का यह प्राथमिक रूप था। 1936 के बाद प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के दौर में ऐसी बातें अक्सर कही गयीं। प्रगति-विरोधियों ने रूस की नकल, भारतीय संस्कृति के नाश का हल्ला मचाया। पर 1914 में अभी रूसी क्रांति न हुई थी। और यह सब 'सरस्वती' में छपा था।' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण - वही, पृ.-84)

'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' किताब का दूसरा अध्याय 'भारतीय विवेक-परंपरा और आधुनिक विज्ञान' है। यह एक ऐसा विषय है जिससे भारत की पहचान, अस्तित्व और गरिमा का मामला जुड़ा हुआ है। किसी भी नवजागरण की दो प्रवृत्तियाँ हमें दिखाई पड़ती हैं। पहली तो यह कि नवजागरण के कारण हमारे भीतर अपने प्रति विश्वास उपजता है और दूसरी यह कि हम अपना आलोचनात्मक मूल्यांकन करने को प्रवृत्त होते हैं। यानी स्वाभिमान और आत्मालोचन नवजागरण की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में तो हैं ही, इनकी प्रबल अभिव्यक्ति आगे चलकर जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद के साहित्य में होती है। जयशंकर प्रसाद के साहित्य में भारत के स्वाभिमान और प्रेमचंद के साहित्य में भारतीय समाज की आलोचना स्पष्ट नज़र आती है। डॉ. शर्मा ने इस अध्याय में वैज्ञानिक चेतना के प्रसार में द्विवेदी युग के लेखकों के योगदान को सप्रमाण स्पष्ट किया है। भारतीय परंपरा के प्रति द्विवेदी जी की दृष्टि को स्पष्ट करते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा है कि 'द्विवेदी जी का दृष्टिकोण प्राचीन संस्कृति के प्रति नकारात्मक नहीं है। वह उसके पुनर्मूल्यांकन, बुद्धिसंगत ज्ञान के पक्ष में है। वह जानते थे कि प्राचीन संस्कृति पर गर्व राष्ट्रीय आत्मसम्मान का अभिन्न अंग है और स्वाधीनता-आंदोलन के लिए यह आत्मसम्मान की भावना अत्यंत मूल्यवान है।' (वही - पृ.-120) इसी तर्ज़ पर डॉ. शर्मा के हिंदी नवजागरण संबंधी कार्यों के बारे

में कहा जा सकता है उनका लेखन हिंदी नवजागरण का पुनर्मूल्यांकन बुद्धिसंगत तरीक़े से करता है, हिंदी क्षेत्र के लोगों में राष्ट्रीयता और आत्मसम्मान भरता है।

ऐसा नहीं है कि हिंदी संसार में हिंदी नवजागरण से जुड़े डॉ. रामविलास शर्मा के कार्यों को हू-ब-हू मान लिया गया। हिंदी नवजागरण की जो छवि डॉ. शर्मा ने प्रस्तुत की उस से काफ़ी अलग राय हिंदी के दूसरे विद्वानों ने रखी है। डॉ. नामवर सिंह का प्रसिद्ध लेख 'हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' 'आलोचना' पत्रिका में 1986 ई. में छपा था। इस में डॉ. नामवर सिंह ने डॉ. रामविलास शर्मा की उस मान्यता का खंडन किया कि 1857 ई. की क्रांति उसका बीज है। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि 'बंगाल नवजागरण से हिंदी नवजागरण को अलगाते समय यह न भूलना चाहिए कि भारतेंदु का सीधा संपर्क ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, बंकिमचंद्र, राजेंद्र लाल मित्र और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी से था। भारतेंदु ने बँगला नवजागरण की मनपसंद रचनाओं से छाया ग्रहण तो की ही, अपने नाटकों में जहाँ उन्हें क्रांतिकारी विचारों को व्यक्त करना होता था, प्राय: बंगाली चरित्रों की अवतारणा करते थे और उन्हीं को प्रवक्ता भी बनाते थे। इन तथ्यों को देखते हुए हिंदी नवजागरण की विशिष्टता बतलाने के लिए सन् सत्तावन की राजक्रांति को उसका बीज मानना कठिन है। भारतेंदु तथा उनके मंडल के लेखक सन् सत्तावन की राजक्रांति की अपेक्षा बंगाल के उस नवजागरण से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे जो उससे पहले ही शुरू हो चुका था। कारण यह कि भारतेंदु और उनके मंडल के लेखकों की दृष्टि में अंग्रेजी राज की चुनौती राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक थी और इस सांस्कृतिक संघर्ष में बंगाल नवजागरण से अस्त्र-शस्त्र मिलने की संभावना अधिक थी। सन् सत्तावन की राजक्रांति को हिंदी नवजागरण का गोमुख मानने में एक कठिनाई यह भी है कि राजक्रांति के नितांत असांप्रदायिक पक्ष का संदेश हिंदी नवजागरण तक पूरा-पूरा नहीं पहुँच सका। हिंदी प्रदेश के नवजागरण के सम्मुख यह बहुत गंभीर प्रश्न है कि यहाँ का नवजागरण हिंदू और मुस्लिम दो धाराओं में क्यों विभक्त हो गया?' (रामविलास शर्मा - नामवर सिंह, सं. ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2018 ई., पृ.-65)

डॉ. नामवर सिंह के इस उद्धरण से यह पता चलता है कि जहाँ डॉ. रामविलास शर्मा का ध्यान हिंदी नवजागरण की प्रक्रिया पर है वहीं डॉ. नामवर सिंह का ध्यान हिंदी नवजागरण के परिणाम पर है। परिणाम पर ध्यान रहने के कारण ही

डॉ. शर्मा की मृत्यु के बाद 'आलोचना' पत्रिका के उन पर केंद्रित अंक में डॉ. नामवर सिंह ने बहुत ही पीड़ा, खीज और तड़प से यह लिखा कि 'रामविलास जी के अनुसार वैदिक आर्यों ने ही भारत से निकलकर ईरान और यूनान होते संपूर्ण यूरोप में सभ्यता का प्रसार किया-यहाँ तक कि यह प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के रोमांटिक पुनर्जागरण तक अबाध गति से चलती रही है। 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' तथा 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' जैसे ग्रंथों की मुख्य स्थापना यही है। तात्पर्य यह कि भारतीय नवजागरण में यूरोप का कोई योग नहीं है; बल्कि यूरोप के नवजागरण में भारत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कहना न होगा कि यह एक प्रकार से यूरोपीय विद्वानों के कुख्यात 'ओरिएंटलिज्म' के जवाब में दूसरा 'अंधराष्ट्रवादी प्राच्यवाद' है! भारतीय प्राच्यवाद की यह प्रतिक्रिया उतनी विकृत है जितनी पाश्चात्य प्राच्यवाद की आक्रामक क्रिया दूषित थी। रामविलास जी का यह आक्रामक प्राच्यवाद दयानंद के आर्यवाद से ज्यादा खतरनाक है क्योंकि यह आज संघ परिवार के फासिस्ट इरादों को एक हथियार प्रदान कर रहा है - बन्दर के हाथ उस्तरा देने से भी खतरनाक।' (वही - पृ.-156, 157) डॉ. नामवर सिंह से भी तीखे सवाल वीरभारत तलवार ने उठाए हैं। इसे विडंबना कहा जाए या ज्ञान की दुनिया की अनिवार्य परिणति कि जिस 'हिंदी नवजागरण' की अवधारणा और उसकी प्रवृत्तियों के विश्लेषण में डॉ. रामविलास शर्मा ने अपना पूरा जीवन लगा दिया वही वीरभारत तलवार को भ्रामक लगता है। अपनी किताब 'रस्साकशी' में उन्होंने लिखा है कि 'हिंदी नवजागरण एक भ्रामक नाम है क्योंकि यह अपनी ऐतिहासिक अंतर्वस्तु को प्रकट नहीं करता। इससे गलतफहमी होती है कि यह भारतीय नवजागरण जैसी ही कोई धारा थी। ... हिंदी नवजागरण का मुख्य आंदोलन किसी धार्मिक या सामाजिक सुधार के लिए नहीं था। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बनारस - इलाहाबाद को केंद्र बनाकर जो तीन बड़े आंदोलन चले, वे नागरीलिपि, हिंदीभाषा और गोरक्षा के सवाल पर थे। बंगाल या महाराष्ट्र के नवजागरण से हिंदी नवजागरण का यह बुनियादी फर्क था जिसकी वजह पश्चिमोत्तर प्रांत की खास ऐतिहासिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। बंगाल और महाराष्ट्र में यूरोपीय धर्म, सभ्यता, और संस्कृति से भारतीय परंपरा की टकराहट मुख्य अंतर्विरोध था जिसने वहाँ धार्मिक- सामाजिक सुधारों को जन्म दिया। यह अंतर्विरोध 19वीं सदी के पश्चिमोत्तर प्रांत में इतना विकसित और व्यापक नहीं था। इसलिए यहाँ धार्मिक-

सामाजिक सुधारोंवाली धारा गौण रही। मुख्य लड़ाई हिंदू-मुस्लिम भद्रवर्ग के बीच विशेषाधिकारों पर कब्जा करने और अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता कायम करने की रही। हिंदी नवजागरण के तहत हुए तीनों बड़े आंदोलन इसी संघर्ष को प्रतिबिंबित करते हैं। इसलिए आर्यसमाज और जाति सभाओं के धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलन से अलग जो आंदोलन भारतेंदु मंडली और दूसरे हिंदी लेखकों की भागीदारी से हुआ, उसका सही नाम हिंदी आंदोलन होना चाहिए क्योंकि हिंदी भाषा और लिपि का सवाल ही उसका सबसे केंद्रीय मुद्दा था, धार्मिक या सामाजिक सुधार नहीं।' (रस्साकशी-वीरभारत तलवार, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2006 ई., पृ.-135, 137)

हिंदी नवजागरण के संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह और वीरभारत तलवार की असहमतियों पर गहराई से विचार प्रो. कर्मेन्दु शिशिर ने किया है। उन्होंने लिखा है कि 'हिन्दी नवजागरण आगे दो सांप्रदायिक धाराओं में बँटा तो इसका अपराध भारतेंदु या उनके साथियों पर क्यों मढ़ा जाए-यह बात समझ में नहीं आती। भारतेंदु युगीन लेखकों ने हमेशा हिंदू-मुसलमान को 'भारतमाता की दो आँखें' कहा और अंग्रेज हमें आपस में लड़ा रहे हैं-इससे सावधान किया। अंग्रेजों ने सन् 1857 की राजक्रांति के समय दिल्ली और बरेली में दंगे कराए, बावजूद वे हिंदू-मुसलमान एकता तोड़ नहीं पाए। भारतेंदु ने पैगम्बर साहब की जीवनी लिखी, इस्लाम पर लेख लिखा।' (डॉ. रामविलास शर्मा नवजागरण एवं इतिहास लेखन-कर्मेन्दु शिशिर, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2015 ई., पृ.-135) वीरभारत तलवार की स्थापनाओं की विवेचना करते हुए प्रो. कर्मेन्दु शिशिर ने लिखा है कि 'तलवार जी ने शिक्षा का सवाल, गो-वध को लेकर हिंदू कट्टरता के सवाल उठाये हैं। हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान और दूसरा उन्होंने कहा है कि यह नवजागरण है ही नहीं। यह तो हिंदू नवजागरण है। हिंदी-उर्दू के सवाल को बहुत विस्तार से वीरभारत तलवार ने उठाया है। लेकिन उनके लंबे विचार-विश्लेषण से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि उनकी भारतेंदु से अपेक्षा क्या थी?' (वही - पृ.-37, 38) कर्मेन्दु शिशिर ने इन प्रश्नों के आलोक में हिंदी नवजागरण का वस्तुपरक मूल्यांकन करने की कोशिश करते हुए लिखा है कि 'तलवार जी ने जिस तरह भारतेंदु की सामाजिक चेतना की एकायामी तस्वीर पेश की है, वह गलत है। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेंदु की जो एकायामी तस्वीर पेश की है, वह भी गलत है। हम इन ध्रुवांतों से उस युग के

अंतर्विरोधों को, उस युग के यथार्थ को नहीं समझ सकते।'(वही - पृ.-42)

उपर्युक्त विवेचन से हमारे सामने यह स्पष्ट होता है कि डा. रामविलास शर्मा की 'हिंदी नवजागरण' की अवधारणा को ले कर कई तरह की दृष्टियाँ प्रचलित हो गई हैं। जहाँ वीरभारत तलवार इस के अस्तित्व को ही नकारते हैं वहीं कर्मेन्दु शिशिर इसे स्वीकार तो करते हैं परन्तु डॉ. रामविलास शर्मा से पर्याप्त सहमति-असहमति के साथ। ठीक इसी प्रकार डॉ. नामवर सिंह 'हिंदी नवजागरण' के संदर्भ का विस्तार करते हुए डॉ. शर्मा की मान्यताओं से असहमत होते हैं। इन सब बातों से स्पष्ट है कि डॉ. रामविलास शर्मा की 'हिंदी नवजागरण' की अवधारणा आज भी प्रासंगिक है। ज्ञान के क्षेत्र में असहमति से ही विकास होता है। डॉ. नामवर सिंह का ही एक लेख 'प्रासंगिकता का प्रमाद' है। इस में उन्होंने प्रासंगिकता पर विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रासंगिक क्या वही है जो हमारे विचारों का अनुमोदन करता है और आज के अनुकूल है? जो आज से भिन्न है और हमें चुनौती देता है, वह प्रासंगिक क्यों नहीं? ... इस प्रकार कोई प्राचीन कृति हमारे आज के सभी प्रश्नों का सही उत्तर देकर अथवा देने के कारण प्रासंगिक नहीं होती, बल्कि एक सर्वथा भिन्न परिप्रेक्ष्य से हमारी आज की नियति को आलोकित करने के कारण हमें नए सिरे से सोचने के लिए मजबूर करने के कारण और हमारी आत्मतुष्टि को तोड़ने के कारण प्रासंगिक होती है।' (वाद विवाद संवाद-नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003 ई., पृ.-59, 65) इसमें कोई संदेह नहीं कि डॉ. रामविलास शर्मा की 'हिंदी नवजागरण' की अवधारणा हमें आज भी नए परिप्रेक्ष्य में सोचने को मजबूर करती है। 'हिंदी क्षेत्र' की परिस्थितियों पर विचार करने को प्रेरित करती है। जातीयता और राष्ट्रीयता के सवाल पर फिर-फिर विचारने को आमंत्रित करती है। 1857 ई. के गदर से ले कर स्वाधीनता आंदोलन के दौरान भारत एक राष्ट्र के रूप में कैसे आकार ले रहा था, इस की राष्ट्रीयता की क्या विशेषताएँ थीं, हिंदी क्षेत्र में साहित्य और ज्ञान की क्या स्थिति थी यह सब डॉ. रामविलास शर्मा के हिंदी नवजागरण संबंधी कार्यों में दर्ज़ है। अब इसे महज संयोग माना जाए या काव्यात्मक न्याय कि प्रासंगिकता संबंधी जो उद्धरण डॉ. नामवर सिंह का ऊपर आया है वह उनकी किताब 'वाद-विवाद-संवाद' का है और इस पुस्तक का समर्पण यों है कि 'डॉ. रामविलास शर्मा को सादर जिन्हें वाद-विवाद-संवाद में अपना गुरु मानता हूँ'।

डॉ. रामविलास शर्मा के प्रति

विश्वनाथ त्रिपाठी

कहाँ घड़ियालों और जोंकों से
भरा,
अपने को महासागर समझने वाला
यह गंदा तालाब
और कहाँ तुम...
अपनी गुलाबी ऊष्मा को दबाये,
दाँत भींचे, मुट्ठी बाँधे
शक्ति और आवेग को थामे कम्पमान
टुच्ची सुविधाओं को रौंदते हुए तुम!

ये टुच्ची सुविधायें लोहे के काँटे भी हैं
जो शरीर से ज़्यादा दिल और दिमाग़ को
लहूलुहान करते हैं।
तद्भव शब्दों से कसे
छोटे-छोटे जुमले हैं कि
जोकों और घड़ियालों की पीठ पर
बरसने वाले बिजली के कोड़े हैं।

मैं कितनी बेख़बर ज़िंदगी जीता हूँ
कोई महान उद्देश्य भी
किसी पेड़ या पर्वत या समुद्र की तरह

साक्षात् नहीं है
फिर भी कितना बिंध जाता हूँ
कुचले फन वाले साँप की तरह
कातर हो उठता हूँ।
आँखों में सिर्फ घृणा का विष
लहराता रहता होगा

तब मैं संगीत पीने की अपनी क्षमता को
तुम्हें मौन समर्पित करता रहता हूँ
और सोचता हूँ
तुम भी ना होते तो क्या होता
मन रात होने पर
किस पेड़ की डाल से लटकता
किस पर्वत की गुफा में कुंडली मार बैठता
किस सागर में तैरता!

डॉ. रामविलास शर्मा के 'तुलसीदास'

अमन कुमार

हिंदी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास सूर्य की भाँति स्थापित हैं। विश्व के सभी प्रमुख भाषाओं के विद्वानों ने उन पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा एवं विचार किया और हिंदी आलोचना में स्थिति यह है कि अगर कोई बड़ा आलोचक (जनता का आलोचक) होने की लालसा रखता है तो गोस्वामी तुलसीदास पर आलोचना लिखे बिना उसकी यह लालसा लालसा ही रह जाती है; वह विश्वविद्यालयी खेमे का आलोचक बनकर रह जाता है।

हिन्दी आलोचना के सभी बड़े आलोचकों ने प्राय: तुलसीदास पर अपनी महत्त्वपूर्ण आलोचनाएँ लिखी हैं। जैसे-आचार्य रामचन्द्र शुक्लकृत 'गोस्वामीतुलसीदास'। डॉ.रामविलास शर्मा ने तुलसीदास सम्बन्धी तीन महत्त्वपूर्ण लेख अपनी शुरुआती पुस्तक 'परम्परा का मूल्यांकन' में लिखें हैं। जो इस प्रकार हैं- 'तुलसी की भक्ति' 'तुलसी साहित्य के सामन्त विरोधी मूल्य' और 'भक्ति आंदोलन और तुलसीदास' इसके बाद 'भारतीय सौन्दर्यबोध और तुलसीदास' में 'तुलसी का सौन्दर्य-बोध' एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है,जो तुलसीदास पर भारतीय सौन्दर्यबोध सम्बन्धी प्रभाव को स्पष्ट करता है। रामविलास शर्मा ने तुलसी सम्बन्धी जो तीन महत्त्वपूर्ण लेख लिखे हैं 'परम्परा के मूल्यांकन' में। उन्हें भी 'भारतीय सौन्दर्य-बोध और तुलसीदास' के परिशिष्ट में शामिल कर दिया गया है।

रामविलास शर्मा के बाद तुलसीदास पर एक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखी- 'लोकवादी तुलसीदास'।

तुलसीदास रामविलास शर्मा के सबसे प्रिय साहित्यकार हैं। रामविलास शर्मा अपने जीवन के अंतिम समय में तुलसीदास पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखना चाहते थे। परन्तु उनकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। 'भारतीय सौन्दर्य-बोध और

तुलसीदास' की प्रस्तुति में रणजीत साहा ने इस प्रसंग का उल्लेख किया है-

''अपनी कुछ अंतिम मुलाकातों में जब वे मृत्युशैया पर पड़े थे, अपने हाथों में मेरा हाथ लिए काफी रुक-रुककर और धीमे-धीमे जो कुछ कहते, उनमें तुलसीदास को केन्द्र में रखकर एक बड़ी पुस्तक तैयार करने की चाह उन्होंने जताई थी। इन दिनों उनके परिवार के लोग देर-सवेर डॉ. साहब के कहने पर मानस से उनके इच्छित प्रसंगों को पढ़कर सुनाते थे। संभवत: इसीलिए उन्होंने मुझसे यह कहा था कि मुझे तुलसीदास पर एक किताब अलग से लिखनी है। उन्होंने बताया था- ''मैं उन्हें कभी-कभी राम से बड़ा पाता हूँ। तुलसीदास को राम से भी बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी थी।''

तुलसीदास से ऐसी सहृदयता और आत्मीयता हिन्दी आलोचना में आचार्य शुक्ल के बाद रामविलास शर्मा में ही दिखाई देती है। तुलसीदास के बारे में हिन्दी जगत में एक आम धारणा है कि वे भक्त कवि हैं। रामचरितमानस का लेखक होने के नाते उनके बारे में यह धारणा बनाना ठीक भी है,क्योंकि रामचरितमानस में भक्ति भाव प्रधान है। परन्तु उसी लेखक की अन्य रचनाएँ भी है। जिनमें श्रृंगार और सौन्दर्य का स्थान प्रमुख और भक्ति का स्थान गौण है। जिनमें- 'रामलला नहछू' और 'पार्वती मंगल' प्रमुख हैं। सौन्दर्य और श्रृंगार 'रामचरितमानस' में भी है लेकिन उस पर भक्ति-भाव का पर्दा तुलसीदास ने चढ़ा रखा है।

रामविलास शर्मा ने तुलसीदास द्वारा चढ़ाये गये भक्ति रूपी पर्दे को उठाकर उनकी रचनाओं में वर्णित सूक्ष्म सौन्दर्य को हमारे सामने रख दिया है। 'तुलसी का सौन्दर्य-बोध' नामक अध्याय में उन्होंने सर्वप्रथम उनके श्रृंगार और भक्ति विषयक रचनाओं का उल्लेखकर दोनों में अंतर स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने लिखा- ''रामलला नहछू' जिस कवि की रचना है, उसी की रचना रामचरितमानस भी है। दोनों में अन्तर यह है कि रामलला नहछू में श्रृंगार का स्थान प्रधान है, भक्ति का स्थान गौण है। रामचरितमानस में इसके विपरीत भक्ति का स्थान है, श्रृंगार उसके अधीन गौण स्थान पर है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दोनों ही एक ही कवि की रचनाएँ हैं।''

रामलला नहछू में राम का विवाह होना है। इसलिए राजा दशरथ का सारा महल सजाया गया है। आँगन में मण्डप बना है। मण्डप की शोभा वर्णन इस प्रकार है। 'उसमें मोतियों की झालरें लटक रही हैं। आँगन के आस-पास सोने के खम्भे हैं

और उसके बीच में सिंहासन है, जिस पर राम बैठे हैं। गंगा जल से उन्हें स्नान कराया जाएगा। विशेष बात यह है कि युवतियाँ मंगल गीत गाते हुए उन्हें स्नान करायेंगी।'

राम को स्नान कराने के लिए आँगन में जिनकी भीड़ है वे कामकाजी महिलाएँ हैं। यहाँ तुलसीदास थोड़े से शब्दों में प्रत्येक सुन्दर स्त्री का सौन्दर्य वर्णन कर देते हैं। कुछ उदाहरण देखें-

''लुहारिन हँसते हुए आती है, उसके हाथ में बरायन है। अहिरिन दूध की हाँडी लिए आती है। उसका यौवन उभर रहा है। दशरथ भी उसे देख कर प्रसन्न होते हैं- 'उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो'। तंबोलिन हाथ में पान का बीड़ा लेकर आती है। उसे रूप सलोनी कहा गया है। जिसकी ओर भी वह देखती है, उसके मन को वह अच्छी लगती है। हाथ में जोड़ा लिये गोरे गात की दर्जिन आती है। वह शरीर में केसर लगाये है, जिससे चारों ओर सुगन्ध फैल रही है। आँगन में पनही लिये मोचिन खड़ी है। वह बदन संकोचिन है। अवश्य ही उभरते हुए यौवन के कारण। मोर हाथ में लिये सुन्दर गात वाली मुस्कुराती हुई मालिन आती है। हाथ में छाता लिये कटि की क्षीण बारिन आती है। उसके सम्मान में एक पूरी पंक्ति है-

चन्द्रबदनि मृगलोचनि सब रसखानिहि हो।'

डॉ.रामविलास शर्मा ने इस पूरे प्रसंग का उल्लेख करते हुए, तुलसीदास द्वारा नारी के रूप-रंग इत्यादि का वर्णन करते समय उनके सौन्दर्य बोध की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर ध्यान दिलाया है, वह यह कि तुलसीदास जब स्त्रियों के रंग-रूप का वर्णन करते हैं तब उनका ध्यान नेत्रों पर विशेष रूप से रहता है।

इस संदर्भ में रामविलास शर्मा ने लिखा-

''स्त्रियों के रंग-रूपका वर्णन करते हुए तुलसीदास उनके नेत्रों पर विशेष ध्यान देते हैं। बारिन मृगलोचनी है। उसके साथ विशाल नेत्रों वाली नाउन है, जो भौंहें चमकाती है।'

नेत्रों के बाद तुलसीदास स्त्रियों के वस्त्र पर विशेष ध्यान देते हैं। वस्त्रों के अलावा उनके चलने की चाल, उनके कंगनों और नुपुरों की ध्वनि पर भी उनका ध्यान जाता है। इन बातों के अलावा नारी के बदन की सुगन्ध को भी वे महसूस (नोटिस) करते हैं। इन सभी से तुलसीदास के सौन्दर्य बोध सम्बन्धी सूक्ष्मता का अंदाजा लगाया जा सकता है। इन सभी बातों को डॉ. रामविलास शर्मा ने रेखांकित

किया है। तुलसीदास की एक एक रचना के प्रसंग से दूसरी रचनाओं के प्रसंग का उल्लेख कर तथा दोनों प्रसंगों की तुलना कर तुलसीदास के सौन्दर्य बोध सम्बन्धी विकास को वे दर्शाते हैं।

रामलला नहछू में राम अपनी माता कौशल्या के गोद में बैठे हैं और नाइन ''शृंगार करके बहुत से अलंकार धारण किये हुए हाथ में नाहनी लिए नाइन आती है। रानी की दी हुई साड़ी पहने हुए वह और भी सुन्दर लगती है–

रानि कै दीन्हीं सारी अधिक विरजइ हो।''

रामविलास शर्मा ने इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए तुलसीदास (रामचरितमानस से) की अन्य पंक्ति 'बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी' को उद्धृत किया है। इस पंक्ति को उद्धृत करते ही उन्होंने तुलसीदास के नारी सौन्दर्यबोध की एक अन्य विशेषता पर ध्यान खींचा है। वह यह कि 'कविता की चर्चा करते हुए तुलसीदास सुन्दर वस्त्र पहने स्त्री को याद किया है।'

तुलसीदास स्त्रियों के कंगन और नूपुरों की ध्वनियों पर विशेष ध्यान देते हैं। रामविलास शर्मा ने इस बात को रेखांकित किया और लिखा–

''रानी की दी हुई साड़ी के वर्णन से पहले तुलसीदास ने नाइन के कँगना और नूपुरों की ध्वनि सुनी। लिखा–

कर कंकन, काटि किंकिनि, नूपुर बाजइ हो।

रामचरितमानस में इसी का उदात्त रूप तुलसीदास ने प्रस्तुत किया–

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही॥ मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥

रामलला नहछू के बाद शृंगार की दृष्टि से तुलसीदास की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना पार्वती मंगल है। रामलला नहछू में राम के विवाह की तैयारी है और पार्वती मंगल में शिव–पार्वती का विवाह हो जाता है। रामलला नहछू में राम दूल्हा हैं, पार्वती–मंगल में शिव दूल्हा है। रामलला नहछू में राम का सौन्दर्य केन्द्र में था यहाँ पार्वती का सौन्दर्य कथा की केंद्रीय वस्तु है।

रामविलास शर्मा पार्वती मंगल और रामलला नहछू के आधार पर तुलसीदास को घोर यथार्थवादी कवि घोषित करते हैं। वे कालिदास और अन्य संस्कृत कवियों के अतिरिक्त तुलसी से पूर्व हुए कवियों में भी ऐसा सामाजिक यथार्थ नहीं पाते, जैसा तुलसीदास के यहाँ है। रामविलास शर्मा का ऐसा मानना है कि तुलसीदास

ने शिव भक्ति की प्रेरणा और सौन्दर्यबोध की प्रेरणा कालिदास से ग्रहण की है। वे मानते हैं कि पार्वती मंगल में भी तुलसी के व्यक्तित्व का अंश कथा पात्रों में दिखाई देता है। उनकी अन्य रचनाओं की तरह। इस संम्बध में उनकी टिप्पणी है–

''पार्वती मंगल में शिव दूल्हा हैं। इस परिवर्तन से सामाजिक यथार्थ के चित्रण में विशेष परिवर्तन नहीं होता। देवों के नाम आलम्बन मात्र हैं। तुलसीदास अपने सामाजिक परिवेश का वर्णन कर रहे हैं। यहाँ ऐसा यथार्थवाद है, जो कालिदास तथा अन्य संस्कृत कवियों में नहीं है। तुलसीदास के पूर्ववर्ती कवियों– जायसी, कबीर, सूरदास आदि में भी ऐसा वर्णन नहीं है। ये नये यथार्थवाद के विकास की सूचना देता है। यहाँ भी श्रृंगारभाव की प्रधानता है। भक्ति का रचना गौण है। परन्तु यहाँ राम की भक्ति नहीं, शिव की भक्ति है। तुलसीदास पर कालिदास का गहरा असर था। यह सम्भव है कि उन्होंने शिव भक्ति के साथ सौन्दर्यबोध की प्रेरणा भी कालिदास से प्राप्त की हो। नहछू की तरह यहाँ की शब्द–योजना की प्रतिध्विनियाँ रामचरितमानस में है। उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ, नीतिवाक्य कालिदास की याद दिलाते हैं। मानस की तरह यहाँ भी तुलसीदास अपने व्यक्तित्व का कोई अंश कथा के पात्रों में ढाल देते हैं। इस दृष्टि से तुलसीदास को समझने के लिए उनकी पौराणिक रचनाओं में पार्वती मंगल का महत्त्व अन्यतम हैं।''

पार्वती मंगल में तुलसीदास ने पार्वती के सौन्दर्य को केन्द्र में रखा है। यहाँ श्रृंगार भाव की प्रधानता और भक्ति का स्थान गौण है। रामचरितमानस में भक्ति का स्थान प्रधान है। लेकिन रामविलास शर्मा ने बताया है कि रामचरितमानस में श्रृंगार से कवि का संबंध टूटा नहीं है। उन्हीं के शब्द हैं– ''रामचरितमानस में भक्ति का भावप्रधान है। श्रृंगार भाव का स्थान गौण है, परन्तु श्रृंगार से संबंध टूटा नहीं है।'' रामचरितमानस के अंत में तुलसीदास ने लिखा–

'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।' (सप्तम सोपान, उ. का.)

पार्वती मंगल में तुलसीदास पार्वती के रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं–

'कुँअरि लागि पितु कांध ठाढ़ि भर सोहई।
रूप न जाइ बखानि, जानु जोइ जोहई।'

यहाँ तुलसीदास ने कल्पना द्वारा पार्वती का सौन्दर्य वर्णन किया है इस कल्पनाबोध पर रामविलास जी की टिप्पणी है–

''तुलसीदास की कल्पना में पार्वती पिता के काँधे तक पहुँचती हैं। साथ खड़ी हुई वे बहुत सुन्दर प्रतीत होती हैं। जो देखता है, वही उनके सौन्दर्य को परख सकता है। यह काम कल्पना द्वारा तुलसीदास सम्पन्न करते हैं।''

पार्वती मंगल में भक्ति और प्रेम तथा सौन्दर्य का अद्भुत सामंजस्य है। इस सामंजस्य पर डॉ.रामविलास शर्मा लिखते हैं-

''पार्वती शिव की सेवा करती हैं। उनके अनुराग के साथ भक्ति का मिश्रण है। भक्ति के साथ प्रेम है और प्रेम के साथ सौन्दर्य है।''

पार्वती मंगल में शिव बारात लेकर निकले हैं। उनके बारात को देख सभी हँसते हैं। जब बारात हिमवान के घर पहुँचती है। तो शिव अपना रूप बदल लेते हैं। अब वे करोड़ों कामदेव को लजा रहे हैं-

'लखि लौकिक गति संभु-जानि बड़ सोहर।
भये सुन्दर सत कोटि मनोज मनोहर।।'

इस पंक्ति को उद्धृत करते ही रामविलास शर्मा को रामचरितमानस के राम का सौन्दर्य याद आता है। क्योंकि तुलसीदास ने कुछ ऐसे ही शब्दों में राम का सौन्दर्य वर्णन किया था। रामविलास शर्मा तुरन्त अपनी टिप्पणी करते हैं-

''रामचरितमानस में राम कोटि मनोजों को लजाते हैं, यहाँ सत कोटि मनोजों को लजाने वाले शिव हैं।''

पार्वती मंगल में जब शिव पार्वती की परीक्षा लेने बटु के वेश में गये थे और अपने मुख से खुद की निन्दा कर रहे थे। तब पार्वती ने गुस्से से कहा था-

'बौरेहि कैं अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि।'

परन्तु जब शिव ने अपना रूप- 'सतकोटि मनोज मनोहर' के समान कर लिया तब शिव शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा हो गये हैं और देवता लोग नक्षत्र के समान और उन्हें देखने वाले सभी नगरवासी चकोर के समान हो गये हैं।

'संभु सरद राकेस नखत गन सुर गन।
जनु चकोर चहुँ ओर बिराजहिं पुर जन।।'

इस पंक्ति को देख कर रामविलास शर्मा को फिर से रामचरितमानस का प्रसंग याद आता है। वे लिखते हैं- 'मानस में भी नगर और वन के रहने वाले राम का रूप देखकर मुग्ध होते हैं। परन्तु चन्द्रमा और चकोर वाली उपमा तुलसीदास ने सीता राम प्रथम दर्शन के लिए सुरक्षित बना ली है।'

यहाँ एक और तथ्य की ओर डॉ. रामविलास शर्मा का ध्यान गया है वह यह कि 'कालिदास के प्रभाव से पुरुष के रूप का वर्णन करते हुए तुलसीदास कामदेव का स्मरण करते हैं और नारी रूप का वर्णन करते हुए रति को याद करते हैं।' पार्वती मंगल में पार्वती के सौन्दर्य का उदात्तवर्णन तुलसीदास ने किया है। पार्वती को जब विवाह के लिए लाने का आदेश हुआ- 'आनहु दुलहिनि बेगि समय अब आयउ' तो उस समय तुलसीदास जो वर्णन कर रहे हैं वह इस प्रकार है-

'सखी सुआसिनि संग गौरि सुठि सोहति।
प्रगट रूपमय मूरति जनु जग मोहति।।'

यानी पार्वती जी ऐसी सुशोभित हो रही हैं सौन्दर्य मूर्ति प्रकट होकर वह जगत को मोह रही हों। पार्वती की सुन्दरता का आगे वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि 'समय के अनुकूल वस्त्र और आभूषणों की खूब शोभा ही रही है, मानो शोभा की नवीन लतिका रूपमय फलों से फली हुई है।' आगे तुलसीदास को उनके वर्णन के लिए उपमा नहीं मिलती वे कहते हैं- 'कहो पार्वती जी के गुणों एवं रूप की तुलना किससे की जाये! समुद्र को किस प्रकार तालाब और कुएँ के बराबर बतलाया जाये-

भूषन बसन समय सम सोभा सो भली।
सुषमा बेलि नवल जनु रूप फलनि फली।।
कहहु काहि पटतरिय गौरि गुन रूपहिं।
सिंधु कहिय केहि भाँति सरिस सर कूपहिं।।'

उपमाओं की ऐसी समस्या रामचरितमानस में भी तुलसीदास जी के साथ दिखाई देती है। जब पुष्प वाटिका में राम सीता का मुख देखकर लौटे हैं तो कहते हैं कि चन्द्रमा भी सीता के मुख के समान नहीं हो सकता-

'बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥' (प्रथम सोपान, बा. का.)

चन्द्रमा तो क्या! तुलसीदास ने राम से यह घोषित करवा दिया कि संसार की किसी स्त्री से सीता की तुलना नहीं की जा सकती-

'सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई॥
जौ पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥' (प्रथम सोपान, बा. का.)

तुलसीदास ने रति और सरस्वती और लक्ष्मी तीनों को अयोग्य ठहरा दिया कि सीता जैसी कोई नहीं है–

'गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमासम किमि बैदेही॥' (प्रथम सोपान, बा.का.)

तुलसीदास यह महसूस करते हैं कि–

'सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी॥' (प्रथम सोपान, बा. का.)

यानी कवियों ने सभी उपमा को 'जूठा' कर दिया है। अब मैं जनकनन्दिनी सीता जी की किससे उपमा दूँ।

तुलसीदास के यहाँ उपमाओं की ऐसी समस्या देख डॉ. रामविलास शर्मा को फिर से कालिदास याद आते हैं। वे इस समस्या को कालिदास से आया हुआ मानते हैं। इस संदर्भ में वे टिप्पणी करते हैं–

''ऐसी ही समस्या तुलसीदास से पहले कालिदास के सामने आई थी। कहते हैं पर्वती की उन दोनों मोटी जाँघों की तुलना दो ही वस्तुओं से दी जा सकती थी– एक हाथी की सूँड़ से और दूसरे केले के खम्भे से, पर हाथी की सूँड़ कड़ी होती है और केले का खम्भा बड़ा ठंडा होता है। इसलिए पार्वती जी की जाँघों के जोड़ की कोई भी ठीक वस्तु न मिल सकी।''

तुलसीदास की रचनाओं में खास कर विवाह प्रसंगों में डॉ. रामविलास शर्मा ने लोक–संस्कृति और अवध में प्रचलित रीति–रिवाज के चित्रण पर अपनी टिप्पणी की– ''तुलसीदास ने अवध में प्रचलित रीति–रिवाज का पूरा ध्यान रखा है।'' इस टिप्पणी के बाद वे तुलसीदास की रचनाओं में से अवध में प्रचलित उन रीति–रिवाजों की खोज की। जैसे 'ब्याह के पहले वधुपक्ष के लोग वरपक्ष की अगुवानी करने आते हैं– बारातियों को जनवासे में ठहराया जाता है। बारातियों को तैयार होने में समय लगता है। कन्यापक्ष को चिन्ता रहती है कि लगन का समय बीत न जाए। लोग समधियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं– बड़े लायक है। ब्याह में मण्डप बनाया जाता है। कुछ खिलाने–पिलाने के बाद बारातियों के हाथ धुलाये जाते हैं। उसके लिए तुलसीदास ने अवधी के ठेठ शब्द अचवा चवका प्रयोग किया है। ठीक लगन के समय दुल्हन लायी जाती है।'

इन सब के अलावा 'कन्यादान, संकल्प, गाँठ बाँधने की रस्म, कुलगुरु पूजा, कलश और सिल की पूजा, भाँवरों की रस्म इन सबका' भी वर्णन तुलसीदास ने किया है।

तथाकथित विवाह में दहेज देना लोक संस्कृति का एक अंग है। लेकिन शिव तो देवता हैं। उन्हें दहेज क्यों दिया जा रहा है। इस पर डॉ.रामविलास शर्मा व्यंग्य करते हैं कि- ''यद्यपि यह देवों का विवाह है। परन्तु दायज इन्हें भी चाहिए।''

अवध में यह रीति है कि सारी रस्में रात में पूरी करके, सवेरे-सवेरे दुल्हन को विदा किया जाता है। बाजे-बजाये जाते हैं। 'बरातियों को वस्त्र आदि दिये जाते हैं। विनय सहित उनकी प्रशंसा की जाती है।'

अब समय आता है करुण रस के चित्रण का। पार्वती को विदा करते समय मैना शिव से कहती हैं 'हमारी एक विनीत प्रार्थना मानिये-पार्वती मेरे जीवन की मूल है ऐसा जानियेगा-

गहि सिव पद कह सासु बिनय मृदु मानबि।
गौरि सजीवन मूरि मोरि जियँ जानबि।।'

पार्वती को विदा करने के बाद मैना की मनोदशा का वर्णन करते हुए तुलसीदास लिखते हैं कि मैना 'एक बार मिलकर विदाकर देती हैं और फिर मिल कर पहुँचाने जाती हैं, मानो हाल की बियाई हुई गाय हुँकार भर-भरकर दौड़ती हो-

भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहिं।
हुँकरि हुँकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहिं।।'

पार्वती की सखियाँ पार्वती और मैना के दु:ख को देख कर इतनी दु:खी हैं कि कह देती हैं- 'संसार में स्त्री का जन्म ही वृथा है-

'उमा मातु मुख निरखि नैन जल मोचहिं
नारि जनमु जग जाय सखी कहि सोचहिं।'

'संसार में स्त्री का जन्म वृथा है' इस दर्द का उदात्त रूप रामचरितमानस में है- ऐसे दो प्रसंग मानस में जहाँ स्त्री की करुण गाथा पर तुलसीदास की तीव्र संवेदना प्रकट हुई है। पहला प्रसंग शिव-पार्वती विवाह का है। जब पार्वती विदा हो रही है, तब उनकी माँ मैना अपनी बेटी को सीख दे रही है कि 'हे पर्वती! तू सदा शिव जी के चरण की पूजा करना, नारियों का यही धर्म है। उनके लिये पति ही

देवता है और कोई देवता नहीं हैं–

'करेहु सदा संकर पद पूजा। नारिधरमु पति देउ न दूजा।' (प्रथम सोपान, बा. का.)

उसके बाद यह तीव्र संवेदना–

'कत बिधि सृजीं नारि जगमाहीं। पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।।' (प्रथम सोपान, बा. का.)

दूसरा प्रसंग सीता–राम के विवाह के बाद का है। जनक जी दशरथ से कहते हैं– हे राजन् आपके साथ सम्बन्ध होने से अब हम सब प्रकार से बड़े हो गये। इस राज–पाट सहित हम दोनों को आप बिना दाम के लिये हुए सेवक ही समझियेगा–

'संबंध राजन रावरें हम बड़े अब सब बिधि भए।

एहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लए।।' (प्रथम सोपान, बा. का.)

अब सीता के बारे में सुन लीजिये। विवाह के बाद स्त्री क्या हो जाती है यह तुलसीदास ने जनक से कहलवा दिया है–

'ए दारिका परिचारिका करि पालिबीं करुना नई।

अपराधु छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीट्यो कई॥' (प्रथम सोपान, बा. का.)

इस पंक्ति को उद्धृत करके डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा– ''जहाँ तक सीता का संबंध है, वह भी दासी के समान थी।''

अब तुलसीदास के इस वेदना पर बात करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं– ''रूप यौवन के द्वार के नीचे नारी की दासता से उत्पन्न वेदना की यह अन्तरधारा भी तुलसीदास की प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर रामचरितमानस तक विद्यमान है। तुलसी की मूलवृत्ति हास–परिहास और विनोद की है। मानव सहानुभूति के व्यापक अर्थ में वह करुण रस के कवि भी हैं और यह रस उनकी रचनाओं में निरन्तर निखरता गया है।''

रामविलास शर्मा ने तुलसी की भक्ति को उनके ज्ञान से जोड़ कर देखा। वे मानते हैं कि तुलसीदास ने जिस भक्ति का प्रतिपादन किया वह जनता के लिए सुलभ थी। तुलसीदास ने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से भक्ति को जीवन से जोड़ा और ज्ञान के साथ उसका तादात्म्य स्थापित किया। बिना ज्ञान पाये यह भक्ति नहीं

हो सकती रामचरितमानस के शुरुआत में ही उन्होंने कहा 'उघरहिं बिमल बिलोच नहीं के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।' (प्रथम सोपान, बा. का.)

डॉ. रामविलास शर्मा ने इस संदर्भ में लिखा है-

'तुलसीदास की भक्ति का दृढ़ आधार है, उनका ज्ञान।' तुलसीदास का ज्ञान उनके जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ था। वे ऐसे भक्त कवि नहीं हैं जो अपने ईश्वर को सिर्फ लोकोत्तर मानते हों। बल्कि वे प्रत्यक्ष जीवन-जगत और प्रत्येक जीव में अपने राम को पाते हैं। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पहले ही बता दिया था कि उनकी भक्ति ''केवल व्यक्तिगत एकांत साधना के रूप में नहीं है। व्यवहार क्षेत्र के भीतर लोकमंगल की प्रेरणा करने वाली है।'' डॉ. रामविलास शर्मा ने शुक्ल जी के लोकमंगल के सिद्धांत का समर्थन करते हुए, तुलसी के दर्शन को लोक और जीवन से जोड़ते हैं। वे लिखते हैं-

''तुलसीदास के दार्शनिक दृष्टिकोण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह जीवन से विमुख नहीं है, वह लोकोन्मुख है, वह जीवन को सुखी और सार्थक बनाने के लिए है। तुलसी का दर्शन इसी जीवन में, इसी संसार में रहते हुए ही संसार के बन्धनों से मुक्त होने की बात करता है।''

तुलसीदास ने रामचरितमानस में राम को ब्रह्म के रूप में चित्रित किया है- 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा' (द्वितीय सोपान, अयोध्या कांड)

डॉ. रामविलास शर्मा का मानना है कि 'तुलसीदास जिस राम या ब्रह्म के उपासक हैं, वह परोक्ष सत्ता नहीं है। वह उनके लिए प्रकट सत्य है। साथ ही उनका ब्रह्म प्रत्यक्ष सत्ता मात्र नहीं है। वह परोक्ष भी है और प्रत्यक्ष भी। इसीलिए तुलसीदास न विशुद्ध निर्गुणवादी हैं न विशुद्ध सगुणवादी। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है-

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाघ अनादि अनूपा।' (प्रथम सोपान, बा. का.)

ब्रह्म और जगत् के संदर्भ में तुलसीदास के दृष्टिकोण के बारे में डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा कि उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों की सत्ता स्वीकार की है। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने एक पंक्ति उद्धृत की- 'एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।।'(प्रथम सोपान, बा. का.)और अपनी टिप्पणी की कि 'अग्नि दिखाई भी देती है और काष्ठ के अन्दर अव्यक्त भी रहती

है यही हाल ब्रह्म का है।'

तुलसी ने 'सिया राममय सब जग जानी।' करहु प्रनाम जोरि जुग पानी।।' कह कर संपूर्ण जगत को राममय जान कर प्रणाम किया है। तुलसीदास के लिए सारा जगत सत्य है। इसलिए उन्होंने सबको राममय जाना और प्रणाम किया।

इस संदर्भ में डॉ.रामविलास शर्मा लिखते हैं कि ''संसार को राममय जानकर सत्य मानना तथा स्वार्थ और अहंकार से मुक्त होना- यह एक प्रकार का दृष्टिकोण है।'' तुलसी का दृष्टिकोण लोकोन्मुख है। यही बात रामविलास शर्मा प्रमाणित करते हैं। जीव के सम्बन्ध में तुलसीदास ने कहा है-

'ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी'

इस पंक्ति पर डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं- ''ब्रह्म, जगत् और जीव- तीनों के प्रति तुलसी के विचारों में तारतम्य है। जो दार्शनिक ब्रह्म को व्यक्त और अव्यक्त, सगुण और निर्गुण दोनों मानता है, वह जगत् को भी ब्रह्ममय स्वीकार करता है और जीव को ब्रह्म का अंश मानकर चेतन और अविनाशी मानता है। यह है तुलसी का ज्ञान, जो जीवन की स्वीकृति का दर्शन है, जीव के जीवत्व का विनाश करके मोक्षलाभ करने का दर्शन नहीं है।'' इस संसार में मनुष्य के कष्ट सहने के अनेक कारण हैं, जिसमें संतों ने काम, क्रोध मद और लोभ आदि विकारों को प्रमुख माना है।

तुलसीदास ने दरिद्रता को मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा दु:ख बताया है- उन्होंने लिखा- 'नहिं द्ररिद्र सम दुख जग माहीं'। इस बात पर डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी टिप्पणी की 'शायद दरिद्रता पर जितना अकेले तुलसीदास ने लिखा है, उतना हिन्दी के समस्त नये-पुराने कवियों ने मिलकर न लिखा होगा।' आगे डॉ. रामविलास शर्मा तुलसीदास द्वारा दरिद्रता के वर्णनपर अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं-

'दरिद्रता का दु:ख ऐसा है, जिसे संसार को माया कहकर मिटाया नहीं जा सकता। रामचरितमानस विनय पत्रिका और सबसे अधिक कवितावली में भूख और दरिद्रता का वर्णन किया गया है। कहीं कलिकाल का वर्णन करते हुए इनका उल्लेख किया गया है, कहीं तुलसी ने स्वयं को इससे पीड़ित दिखाया है। समुद्र के भीतर जिस भयानक अग्नि की कल्पना कवियों ने की थी, उससे भी भयानक पेट की आग है, ऐसा तुलसीदास का विचार था (आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट

की)'

कवितावली में तुलसीदास अपने देश के हालात पर लिखते हैं-

'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरि।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी।'
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै, राम! रावरेंकृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु।
दुरित-दहन देखि तुलसी हहाकरी।।'

इस संदर्भ में डॉ.रामविलास शर्मा ने बड़ी सटीक टिप्पणी की है- 'उन्होंने एक कवित्त में देश की आर्थिक दशा का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। किसानों की खेती चौपट है, व्यापारियों का वाणिज्य तबाह हो गया है, नौकरी-पेशा लोग बेकार हो गये हैं। इस कवित्त में उन्होंने दरिद्रता को रावण कहा है, जिसने सारे संसार को दबा रखा है। उस दारिद-दसानन से वे अपनी और संसार की मुक्ति चाहते हैं।'

तुलसीदास ने अपने राम को 'गरीब नेवाज' कहा है। कई बार 'दीनबन्धु' कहा है। तुलसीदास कहते हैं- 'राजाओं से याचना कौन करे। और देश-विदेश घूमने का कष्ट कौन भोगे। जो प्रसन्न होकर बहुत बढ़ाकर देंगे तो एक दमड़ी से अधिक न देंगे, कृपा के समुद्र लोकपालों के स्वामी सीतानाथ श्री रामचंद्र जी को छोड़कर और किसके आगे हाथ फैलाया जाए -

जाचै को नरेस, देस-देसको कलेसु करै
दे हैं तौ प्रसन्न हैं, बड़ी बड़ाई बौड़िए।
कृपा-पाथनाथ लोकनाथ-नाथ सीता नाथ
तजि रघुनाथु हाथ और काहि ओड़िये।'

तुलसी के इस बात को डॉ.रामविलास ने गरीबों के आत्मसम्मान का भाव जाग्रत करने के उद्देश्य से जोड़ा और लिखा-

'तुलसी के राम दीनबन्धु हैं। इन दीनों में गरीब हैं, समाज के दलित प्राणी हैं, स्त्रियाँ हैं, नीच समझे जानेवाले लोग हैं। तुलसी की भक्ति का सामाजिक उत्पीड़न से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह राजाओं, सामन्तों, धनी लोगों के सामने हाथ

पसारनेवालों में आत्मसम्मान का भाव जाग्रत करते हैं। उनसे कहते हैं, राम से माँगो, वह सब कुछ देगा, मनुष्य के आगे हाथ मत फैलाओ।'

तुलसीदास ने अपने बारे में इतना लिखा है जितना उस युग के किसी कवि ने अपने बारे में नहीं लिखा। डॉ.रामविलास शर्मा ने तुलसीदास की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व का प्रकटीकरण पाया। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा–

'तुलसीदास हिन्दी के पहले कवि हैं, जिनकी रचनाओं में कवि का व्यक्तित्व इतना उभर कर आया है।' रामविलास शर्मा ने तुलसीदास के व्यक्तित्व में उनका दैन्य, उनकी विनम्रता, आत्मसम्मान की भावना, तथा अपने साहित्य रचना के सौन्दर्यबोध के प्रति अभिमान इत्यादि विशेषताओं का उल्लेख किया। इस संदर्भ में उनकी टिप्पणी है–

'तुलसीदास के व्यक्तित्व का एक पक्ष है–उनका दैन्य। उन्होंने अतिशय विनम्रता से अपने को तीनों लोकों में महाअधम कहा। उनके व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष है उनका गर्व, उनकी आत्मसम्मान की भावना। इस आत्मसम्मान के कारण वह किसी को भी सर झुकाने को तैयार नहीं होते, वैसे साधारण रूप से सियाराम कहकर समस्त संसार को प्रणाम कर लें यह बात अलग है। तुलसी को अपनी भक्ति पर ही गर्व नहीं था, उन्हें अपनी साहित्य–रचना के सौन्दर्य का भी ज्ञान था और उस पर सहज अभिमान भी था।'

रामविलास शर्मा ने भक्ति आंदोलन के संदर्भ में तुलसीदास के क्रांतिकारी महत्त्व को समझा और उसका बहुत ठीक मूल्यांकन किया। डॉ.शर्मा भक्ति–आंदोलन का एक पक्ष संस्कृत और लोक भाषाओं के द्वन्द्व के रूप में भी देखते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने तुलसीदास द्वारा लोकभाषा हिन्दी को संस्कृत के समकक्ष खड़ा कर उनके महत्त्व को प्रतिपादन किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा–

'भक्ति आंदोलन का सर्वत्र सम्बन्ध लोक–भाषाओं से रहा है। तुलसीदास का युगान्तकारी महत्त्व इस बात से प्रकट होता है कि वह हिन्दी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में विख्यात हैं। अपने रामचरितमानस द्वारा उन्होंने हिन्दी भाषा को संस्कृत के समकक्ष महत्त्व प्रदान किया।'

रामचरितमानस ने हिन्दी भाषी क्षेत्र में जो क्रांतिकारी योगदान दिया। उस पर डॉ. रामविलास शर्मा की बहुत ही महत्त्वपूर्ण टिप्पणी इस प्रकार है–

'रामचरितमानस ने पिछली अनेक शताब्दियों में जिन करोड़ों हिन्दी–

अहिन्दी भाषाओं के हृदय को स्पर्श करके उन्हें मानसिक शक्ति प्रदान की है और उनके जीवन को उन्नत बनाया है, उसकी तुलना मेरी दृष्टि में संसार की किसी भाषा के किसी भी ग्रन्थ से नहीं की जा सकती। हिन्दी भाषा की सेवा-तुलसी भक्ति का यह मधुर फल था।'

रामविलास शर्मा के अनुसार भारत में 'भक्ति आंदोलन सामन्ती समाज की भीषण परिस्थितियों' के गर्भ से उत्पन्न आंदोलन था। 'जिसमें जनता की वास्तविक दशा का चित्रण मिलता है, भक्ति-कवियों की करुण पुकार तत्कालीन जनता की ही करुण पुकार है।' डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसीदास के काव्य में इन्हीं जनता की आर्त पुकार को महसूस किया और लिखा-

'तुलसी की भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं में हृदय को विगलत करने वाली करुणा के स्रोत फूट पड़े हैं। कोई भी भक्त-कवि अपने इष्टदेव से इतना खुलकर, इतनी स्पष्टता से, अपने दु:ख-सुख की हर छोटी-बड़ी बात इतने कवित्वपूर्ण ढंग से नहीं कह सका, जितना तुलसीदास। ऐसी गेयता, ऐसी आत्मविभोर तल्लीनता, ऐसा मार्मिक आत्मनिवेदन जैसा विनय पत्रिका और कवितावली में है, अन्यत्र दुर्लभ है। सैकड़ों वर्षों तक भारतीय जनता ने जो कुछ सहा था, जो कुछ सोचा था, जो कुछ कामना की थी, वह सब सिमटकर विनय पत्रिका और कवितावली के छन्दों में समा गया है। यहाँ करुणा और वेदना का ऐसा विशाल और अगाध सागर लहराता है कि उसके आगे और सब करुण-संगीत हेय मालूम होता है।'

तुलसी की विनय पत्रिका और कवितावली में जो आत्मग्लानि और आत्मनिवेदन के पद हैं उनसे अक्सर यह भ्रम होता है कि तुलसीदास सिर्फ अपने दु:ख का रोना लेकर बैठे हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने ऐसे मतों का प्रतिवाद किया और लिखा-

'तुलसी आत्मकेन्द्रित व्यक्ति न थे। उन्हें जितना अपने दु:ख का ज्ञान था, उतना ही दूसरे के दु:ख का भी। उन्होंने राम में जितनी करुणा की कल्पना की थी, वह सब उनके हृदय में विद्यमान थी। तुलसी की यह विराट् मानवीय सहानुभूति उनकी भक्ति का अभिन्न अंग है।'

रामविलास शर्मा भक्ति आंदोलन का जन्म सामंती-व्यवस्था के कमजोर हो जाने के कारण मानते हैं। वे लिखते हैं-

''16वीं सदी के लगभग शेरशाह और अकबर के शासन काल में उत्तर

भारत में सामन्ती व्यवस्था काफी कमजोर हुई।''

गोस्वामी तुलसीदास किस सीमा तक इस भक्ति-आंदोलन का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इस बात का मूल्यांकन डॉ. रामविलास शर्मा ने किया था। तुलसीदास के साहित्य में वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थन में कई पंक्तियाँ मिल जाती हैं जिससे यह आम धारणा बनी हुई थी कि तुलसीदास नवीनता या सामन्त विरोधी गतिविधियों के विरोध में थे और वे पुरानी व्यवस्था बनाये रखने के पक्षधर थे। हिन्दी आलोचना के कुछ शुरुआती मार्क्सवादी साहित्यकारों ने तुलसीदास के बारे में ऐसी धारणा बना रखी थी। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने 'तुलसी के सामन्त-विरोधी मूल्य' नामक लेख में लिखा-

'यहाँ मेरा उद्देश्य तुलसी के सभी विचारों का मूल्यांकन करना या उनकी कला का विवेचन करना नहीं है। मेरा उद्देश्य वर्णाश्रम, नारी समस्या, राजा-प्रजा सम्बन्ध को लेकर कुछ वामपंथी लेखकों में फैली हुई गुमराहियों का निराकरण करना है।'

तुलसी को सामन्त-विरोधी सिद्ध करने के लिए डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्हें स्वयं वर्णाश्रम व्यवस्था का पीड़ित बताया। इस संदर्भ में उन्होंने कई पंक्तियाँ उद्धृत कीं। एक उदहारण कवितावली से है-

'जायो कुलमंगन, बधावनो बजायो, सुनि
भयो परितापु पापु जननी-जनक को।
बारेतें ललात-बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि चनक को।।''

इस पंक्ति पर डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है- 'यथार्थ यह है कि वर्णाश्रम धर्म के समर्थक पुरोहितों ने तुलसीदास को काफी सताया था और तुलसीदास ने भी उनका उचित उत्तर देने में आगा-पीछा न किया।'

काशी के पंडितों ने तुलसीदास से उनकी जाति-पाँति पूछ कर उन्हें काफी प्रताड़ित किया था। उन पंडितों को जवाब देने के लिए तुलसीदास ने लिखा-

'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूतु कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों, बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।।
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को, जाको, रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि के खैबो मसीत को सोइबो, लैबो को एकु न दैबे को दोऊ।।'

इस छन्द पर डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा- ''इस एक छन्द में तुलसीदास के समूचे जीवन का संघर्ष चित्रित हो गया है। नि:संदेह उनके कार्यों से पुरोहित वर्ग आतंकित हो उठा था। वह उन्हें तरह-तरह के नाम देने लगा था और तुलसीदास को कहना पड़ा, तुम अपनी जाति लेकर खुश रहो, हमें तुमसे लेना एक है न देना दो।'' आगे वे लिखते हैं- 'जो लोग समझते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास शूद्रों पर ब्राह्मणों के प्रभुत्व का समर्थन करते थे, वे भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं इस प्रभुत्व का कटु अनुभव किया था। कवितावली के इन छन्दों में महाकवि का एक निडर व्यक्तित्व हमारे सामने उभर कर आता है जो रामभक्ति करता हुआ वर्णवादियों के विरोध की जरा भी परवाह नहीं करता। समूचा तुलसी-साहित्य इस चित्र की सत्यता प्रमाणित करता है।'

नारी के प्रति तुलसीदास में तीव्र संवेदना थी। सामन्ती समाज में स्त्री दासी की तरह थी। इस दर्द को तुलसीदास ने महसूस किया। पार्वती के विदा होने पर उन्होंने यह दर्द उनकी माता के मुख से व्यक्त किया-

'जननीं उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही।
करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरमु पति देउ न दूजा।।
बचन कहत भरे लोचन बारी। बहुरि लाइ लीन्हि कुमारी।
कत बिधि सृजीं नारी जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।'

तुलसीदास की नारी के प्रतिसंवदेना और उसकी पराधीनता पर क्षोभ को रेखाकिंत करते हुए, डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा- ''एक तरफ पति-सेवा का उपदेश, दूसरी तरफ पराधीन नारी के लिए स्वप्न में भी सुख न मिलने पर क्षोभ यह कला तुलसीदास को छोड़कर और कहीं नहीं है।''

ऐसा नहीं है कि तुलसीदास ने नारी के लिए तो लिख दिया 'नारि धरम पति देव न दूजा' और पुरुषों द्वारा सामन्तों की तरह तीन-चार रानी रखने का समर्थन किया हो। उन्होंने दोनों के लिए एक ही व्यवस्था का स्वप्न देखा- अपने रामराज में। रामराज स्थापित हो जाने पर वहाँ के नर-नारी एक ही व्रत का पालन करते हैं-

'एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।।'

तुलसीदास के रामराज में इस नियमबद्धता को डॉ. रामविलास शर्मा ने वर्तमान समय के नारी-विमर्श से जोड़कर बड़ी मार्मिक बात कही है-

'सामन्ती व्यवस्था में स्त्रियों के लिए एक धर्म है तो पुरुषों के लिए दूसरा है। तुलसी के रामराज में दोनों के लिए एक ही नियम है। इस तरह पुरुष के विशेषाधिकारों को न मानकर तुलसीदास ने दोनों को समानरूप से एक ही व्रत पालन का आदेश दिया था। वर्तमान समाज में भी नारी अधिकार-वंचित है। पराधीनता में उसे सुख नहीं है। तरह-तरह की मीठी बातों से उसे भुलावा दिया जाता है लेकिन उसकी दासता ढँकी नहीं जा सकती। तुलसीदास के समय में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थीं कि पराधीनता के पाश तोड़े जा सकें। वह केवल इस पराधीनता पर क्षोभ प्रकट कर सकते थे और एक ऐसे समाज का स्वप्न देख सकते थे जिसमें पुरुष भी एक-नारी व्रतधारी हो। राम के चरित्र में उन्होंने यही दिखाया। यह दूसरी बात है कि हिन्दी आलोचना में जितनी चर्चा सीता के पतिव्रत की है, उतनी राम के पत्नीव्रत की नहीं। आज हम इस परिस्थिति में हैं कि तुलसी के स्वप्न को सत्य कर दिखायें।'

रामविलास शर्मा ने तुलसी के साहित्य का अध्ययन कर पाया कि ''राजा और प्रजा के संघर्ष में तुलसी प्रजा के साथ हैं। रामचरितमानस में वह प्रजा को सताने वाले राजाओं के लिए कहते हैं-

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। ते नृप अवसि नरक अधिकारी।

और भी, दोहावली में वह उन राजाओं के पतन की भविष्यवाणी करते हैं जो प्रजा को सताते हैं-

राज करत बिनु काज ही, करैं कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज।''

डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसी के साहित्य को आज के समाज में मौजूद विभिन्न प्रकार की चुनौतियों से लड़ने और उनसे संघर्ष करने की प्रेरणा देनेवाला साहित्य माना है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा- 'तुलसी हमारे जातीय जन-जागरण के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी कविता की आधारशिला जनता की एकता है। मिथिला से लेकर अवध और ब्रज तक चार सौ साल से तुलसी की सरस वाणी नगरों और गाँवों में गूँजती रही है। हमारी जातीय ऐकता और उसके पुनर्जीवन का काम अभी अधूरा है। साम्राज्यवादी सामन्ती अवशेष और बड़े पूँजीपतियों के शोषण से हिन्दी भाषी जनता को मुक्त करके उसकी जातीय संस्कृति को विकसित करना है। हमारे जातीय संगठन के मार्ग में साम्प्रदायिकता, ऊँच-नीच के भेद-भाव, नारी के प्रति

सामन्ती शासक का रुख आदि अनेक बाधायें हैं। तुलसी का साहित्य हमें इनसे संघर्ष करना सिखाता है। तुलसी का मूल संदेश है, मानव-प्रेम। मानव-प्रेम को सक्रिय रूप देना, सहानुभूति के व्यवहार में परिणत करके जनता के मुक्ति-संघर्ष में योग देना हमारा कर्तव्य है।'

आगे वे तुलसी के साहित्य को 'साहित्य कला की शिक्षा देने वाला अक्षय निधि मानते हैं। इस संदर्भ में उनकी टिप्पणी हैं- ''तुलसी का साहित्य कला की शिक्षा देने के लिए अक्षय निधि है। उनसे हमें बार-बार सीखना चाहिए, कैसे उनकी वाणी जनता को इतनी गहराई से आन्दोलित कर सकी। उनसे हमें गम्भीर मानव-सहानुभूति और उच्च विचारों की शिक्षा लेनी चाहिए जिनसे साहित्य महान होता है।''

अक्सर हम तुलसीदास की ऐतिहासिक सीमाओं का उल्लेख कर माफी माँगने लगते हैं। रामविलास शर्मा इस बात का प्रतिवाद करते हैं। वे लिखते हैं-

''तुलसी की ऐतिहासिक सीमाओं की बात करके माफी माँगने की जरूरत नहीं है। जरूरत है तुलसी पर गर्व करने की, इस बात पर दृढ़ विश्वास करने की कि जिस जाति ने तुलसी को जन्म दिया है वह अजेय है, इस बात पर रोष करने की कि तुलसी की संतान आज संसार की सबसे पिछड़ी हुई, बिखरी हुई, निर्धन और दलित जातियों में से है। जिस सामन्ती व्यवस्था ने तुलसी जैसे सहृदय कवि को अपार कष्ट दिये थे, उसकी तरफ कभी तटस्थ न रहना चाहिए। जनता की एकता हमारा अस्त्र हो, संघर्ष हमारा मार्ग और ऐसा समाज हमारा लक्ष्य हो जिसमें पीड़ित और अपमानित मनुष्य को हताश होकर रहस्यमय दैव की तरफ फिर हाथ न उठाना पड़े। इस कार्य में एक चिरन्तन प्रेरणा की तरह तुलसीदास हमेशा हमारे साथ रहेंगे।''

संदर्भ ग्रंथ-

1. भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास-रामविलास शर्मा, साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण-2001

2. रामचरितमानस-तुलसीदास, (मंझला साइज) गीता प्रेस

3. पार्वती मंगल-तुलसीदास, गीता प्रेस

4. गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा

5. कवितावली : तुलसीदास, गीता प्रेस

6. परम्परा का मूल्यांकन : रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पाँचवी आवृत्ति-2011

शक्ति और सौन्दर्य की अजेय कविता

विजय गुप्त

डॉ. रामविलास शर्मा शक्ति और सौन्दर्य की अजेय कविता हैं। शैली के शब्दों में कहूँ तो - 'The Lost Angel of ruined paradise विनष्ट स्वर्ग का भूला देवदूत' अपनी धरती पर नया स्वर्ग रचने में तल्लीन, जिसकी आत्मा संसार के सभी नेक दिल, वीर और स्वतन्त्र आत्माओं से जुड़ी है। जिसका हृदय हर उस हृदय के साथ धड़कता है जो मानव विरोधी नीच शक्तियों के विरुद्ध युद्धरत है। वह राम का अनथका मन है-अपराजित, विश्व अंग से आबद्ध और दुर्धर्ष।

यही कारण है कि उनका मन वहीं रमता है जहाँ संकीर्णता की हर दीवार टूट जाती है। क्लान्त वर्जनाओं से मानव मन मुक्त होता है। परतन्त्रता और गुलाम मानसिकता उन्हें जरा भी सहा नहीं। जुल्म, परपीड़न, शोषण देख कर ये कीट्स, शेली, बायरन, मार्क्स - एंगेल्स और निराला की तरह बेचैन होते हैं। आह्वान करते हैं -

हलवाहों और अछूतों को हम फिर आजादी लाएँगे,
जो आज गुलामी करते हैं उनकी बेड़ी तड़काएँगे।
और फिर
गुलामी की आखिर कड़ी टूटती है
घने बादलों से किरन फूटती है

इसी 'किरन की तलाश है उनका संपूर्ण जीवन और कृतित्व। यह तलाश आसान, सहज उपलब्ध नहीं है। थका देने वाली है, विकलता से भरी, वेदना से चूर लेकिन अत्यंत जरूरी और गर्वीली। जरूरी इसलिये कि यह विश्व-जन हिताय है और गर्वीली इसलिये कि मनुष्य जाति की अब तक अर्जित ज्ञान संपदा को आगे बढ़ाने वाली, उसमें नया जोड़ने वाली है।

वे पुराने का तिरस्कार नहीं करते बल्कि अतीत में गहरे उतर कर उसके सार तत्व से अपने को और नवीन, और सुन्दर बनाता है। निराला तुलसीदास की ओर लौटते हैं, मार्क्स-एंगेल्स एपिकुरुस की ओर, कीट्स फ्रांसीसी राज्य क्रांति की ओर, शेली मिल्टन की ओर, और डॉ. रामविलास शर्मा भवभूति, कालिदास और 1857 की क्रांति की ओर लौटते हैं।

उन्हें अपने जातीय इतिहास पर अभिमान है इसीलिये उसकी रक्षा के लिये वे सदैव तत्पर रहते हैं। 1857 की क्रांति का जैसा विशद और वैज्ञानिक विवेचन उन्होंने किया है, वह आँखें खोल देने वाला है। हाँ, यह बात अलग है कि आँख वाले कुछ अंधे सर्वांग अंधे होते हैं। उन्हें कुछ दिखाई नहीं देता। नहीं अमरीका की गुंडागिरी, न दैन्य, न गरीबी, न जनता की तकलीफ, न अपना इतिहास-दर्शन। ऐसे ही लोग क्रांतिकारी जनवादी दर्शन के अंत की घोषणा कर रहे हैं। उस सर्वात्मवादी-भौतिकवादी दर्शन के अंत की जो उपनिषदों से लेकर शेली, मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन के हाथों होता हुआ हमारी रक्तरंजित सदी के हृदय में धड़क रहा है।

मार्क्स-एंगेल्स की तरह शेली भी स्वाधीनता-विश्व स्वाधीनता-के सबसे बड़े हिमायती थे। तीनों विभूतियों ने भारत की स्वाधीनता का दृढ़ समर्थन किया था। साम्राज्यवादो हितों की रक्षा में जुटे, अपनी जनता से विश्वासघात करने वाले लेखक-इतिहासकार उपयुक्त सत्य पर परदा डालते हैं। एशिया, विशेषत: भारत, के संदर्भ में वे मार्क्स-एंगेल्स की प्राथमिक स्थापनाओं-पश्चिम के हस्तक्षेप द्वारा ही एशिया को प्रगति की राह पर आगे बढ़ाया जा सकता है... आदि-बार-बार सामने लाते हैं, लेकिन उनको परवर्ती स्थापनाओं - An English act of pure vandalism which has caused the people of the area to go back, not forward -अंग्रेजों की नृशंस कार्रवाइयों ने यहाँ के लोगों को आगे बढ़ने की बजाय पीछे धकेल दिया....'' आदि पर मौन साध लेते हैं। उनके परवर्ती दृष्टिकोण को प्रकट करने का अर्थ है साम्राज्यवाद की जघन्यता को बेनकाब करना, नौकरशाही पर आघात करना। और ऐसा करना अभिजन समाज को बालकनी से सीधे गली में गिरना होगा, मान-सम्मान-पुरस्कार से जै राम जो करना होगा। आफत कौन मोल ले, बेहतर है अंधे बने रहना, जगत् गति से विच्छिन्न रहना, 'प्रभु' के गुण गाना और चाकरी के कीच में आकंठ धँसे रहना। जनद्रोहियों को मुबारक हो यह अंधत्व। ऐसे ही लोगों के लिये बायरन ने लिखा था :

Give me republic.

The king's times are fast finishing.

There will be bloodshed like waters and tears like mist,

but the people will conquer in the end- -

बादशाह नहीं, मुझे प्रजातंत्र चाहिये। बादशाहों के दिन लद गये। खून पानी की तरह बहेगा और आँसू कुहासे की तरह भरेंगे। लेकिन जनता अंत में विजयी होगी। ''

जनता की इस अंतिम विजय में डॉ. शर्मा का भी अटूट विश्वास है और इस विश्वास का आधार है जीवन की शक्ति और सौन्दर्य की साधना में उनकी अजेय आस्था। अपने निबंध 'ए डिफेंस ऑफ पोएट्री'' में शेली ने लिखा था : ''यूरोप निद्रा में डूबा हुआ था, उसे सबसे पहले जगाने वाले दाते थे।''

जागरण का जो कार्य यूरोप में महाकवि दाँते ने किया था, स्वातंत्र्योत्तर भारत में वही कार्य डॉ. रामविलास शर्मा ने भारत में किया है-सभी वारों को झेलते, लड़ते, जूझते-अक्षत, अडिग और अचूक चेतना के साथ।

हिन्दी की आत्मकथा परम्परा और रामविलास शर्मा

कौशल तिवारी

आत्मकथा विधा साहित्य की एक लोकप्रिय विधा है। आत्मकथा के लिये अंग्रेजी में 'आटोबायोग्राफी' शब्द प्रचलित है। कहीं-कहीं इसे आत्मवृत्तकथन या आत्मचरित शब्द से भी कहा जाता है, किन्तु सर्वाधिक प्रचलित व स्वीकृत शब्द आत्मकथा ही है। डॉ. अमरनाथ के अनुसार आत्मकथा में लेखक आत्मान्वेषण और आत्मालोचन करता है, अत: उसका जीवन-दर्शन भी प्रत्यक्ष हो उठता है। इसमें लेखक अपने अन्तर्जगत् को बहिर्जगत् के समक्ष प्रस्तुत करता है। आत्मकथा लेखक निर्मम होकर अपने दोषों को भी उद्घाटित करता है और इसीलिए उसका लेखन सत्याधारित होता है। (हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ संख्या-53) हिन्दी में आत्मकथा अपेक्षाकृत नवीन विधा है, जो अपने स्वरूप में पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है। बनारसीदास लिखित 'अर्द्धकथानक' (1641) हिन्दी की प्रथम आत्मकथा मानी जाती है। हिन्दी साहित्य कोश के सम्पादक मण्डल ने इसे आधुनिक आर्यभाषा साहित्य में सबसे पहली आत्मकथा के रूप में स्वीकृत किया है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' नाम से आत्मकथा लिखना शुरू किया था। इसका आरम्भिक अंश 'प्रथम खेल' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी 1875 में पूना व्याख्यानों के अन्तर्गत अपने जीवन से सम्बन्धित वर्णन प्रस्तुत किये। 1901 में पं. अम्बिकादत्त व्यास ने 'निजवृत्तान्त' नाम से आत्मकथा लिखी। स्वामी श्रद्धानंद द्वारा लिखी 'कल्याणमार्ग का पथिक' आत्मकथा हिन्दी की प्रारम्भिक आत्मकथाओं में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। श्यामसुन्दर दास लिखित आत्मकथा 'मेरी आत्मकहानी' और राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' के सभी खण्ड विविध दृष्टियों से अत्यन्त उपादेय है। स्वतन्त्रता

प्राप्ति के बाद के युग में वियोगी हरि की आत्मकथा 'मेरे जीवन प्रवाह', यशपाल कृत 'सिंहावलोकन', देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'चाँद-सूरज के बीरन', पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की 'अपनी खबर', हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा के चार भाग, डॉ. रामविलास शर्मा की 'अपनी धरती अपने लोग' आदि हिन्दी की प्रसिद्ध आत्मकथाएँ हैं। लेखिकाओं द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं में पद्मा सचदेव की 'बूँद बावड़ी' और मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसे' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दलितविमर्श की आत्मकथाओं में मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' तथा ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' बेजोड़ हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा का लेखन बहुआयामी रहा है। डॉ. शर्मा एक उच्च कोटि के चिन्तक भी थे। हिन्दी साहित्य की नैक विधाओं में डॉ. शर्मा ने लेखन किया। हिन्दी साहित्य की आत्मकथा परम्परा में डॉ. शर्मा की आत्मकथा का अन्यतम स्थान है। उनकी आत्मकथा केवल लेखक की कथा नहीं है अपितु यह उनके अपने लोगों की भी कथा भी है, यही कारण है कि इसका शीर्षक रखा गया है- अपनी धरती अपने लोग। आत्मकथा के लेखक का सम्पूर्ण जीवन सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में लगा रहा। इस आत्मकथा के तीन खण्ड या यूँ कहे कि तीन सोपान हैं-

1. मुँडेर पर सूरज
2. देर-सवेर
3. आपस की बातें

प्रथम खण्ड में लेखक ने अपनी जन्मस्थली ऊँच गाँव सानी का वर्णन सजीव तरीके से किया है। आरम्भ में उनका छात्र-जीवन हमारे समक्ष आता है जो धीरे-धीरे उनके उभरते अध्यापक रूप में बदलता चला जाता है। उनके गाँव के दृश्य साथ में चलते रहते हैं। वे स्मृतियों को मथते हैं और फिर उससे निकले नवनीत को प्रस्तुत करते हैं- ''बाबा जहाँ-जहाँ जाते थे, मुझे साथ ले जाते थे। कभी पीठ पर घोड़इयाँ, कभी कमर पर कनियाँ, कभी और ऊँचे काँधे पर बिठा लेते। वे खेतों के बीच से चले जा रहे हैं, चारों तरफ हरियाली है, मैं ऊँचाई से देख रहा हूँ।'' (अपनी धरती अपने लोग, पृ.सं.-13) द्वितीय खण्ड में लेखक ने अपने साहित्यिक यात्रा, अपनी रचना प्रक्रिया और समकालीन मित्रों का वर्णन किया है। तृतीय खण्ड में मुख्य रूप से लेखक के पत्रों का संकलन है, जो उन्होंने प्रायः

अपने पारिवारिक सदस्यों को लिखे थे। अधिकांश उनके बड़े भाई भगवानदीन शर्मा को लिखे गये पत्रों का है। ये पत्र अपना साहित्यिक महत्त्व भी रखते हैं। ये पत्र अपने समय के दस्तावेज कहे जा सकते हैं। सन् 1932 से सन् 1986 के मध्य इन पत्रों के लेखन का सिलसिला चलता है। वे अपने इन पत्रों के विषय में स्वयं लिखते हैं-''शुरू के बहुत से पत्र नष्ट हो गए, कुछ अधूरे हैं, फिर भी भैया ने बहुतों की रक्षा की थी। ऐसे पत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं, इसका कुछ-कुछ अनुमान मुझे बहुत पहले छात्र जीवन में हो गया था। अपने पत्रों का महत्त्व नहीं, भैया के पत्रों का महत्त्व, उनके और मेरे जीवन के लिए आगे हो सकता है, यह मैंने उन्हें लिखा था। मैंने कहा था- तुम्हारे सारे पत्र मैं सँभाल कर रखता हूँ। वे बहुत ही पठनीय हैं। प्रेम और हास्य विनोद से भरे हुए स्वस्थ, स्वच्छंद शैली में लिखे गए हैं और तुम्हारे व्यक्तित्व के विकास को समझने के लिए यह बहुत अच्छे दस्तावेज हैं और यदि मैं कभी लेखक बना तो मैं उन्हें प्रकाशित कराऊँगा। अपने पत्रों के लिए मैं ये दावा नहीं कर सकता। वे अधिक भावुकतापूर्ण हैं और कभी-कभी मूर्खतापूर्ण हैं। लेकिन उनसे भी मेरे चरित्र के विकास को समझने में सहायता मिलेगी, इस कारण मैं चाहता हूँ कि तुम उन्हें सँभाल कर रखो।'' (वही, पृ.सं.-06) वस्तुतः इन पत्रों से हमें लेखक के चारित्रिक विकास की यात्रा को समझने में बहुत सहायता मिलती है। वे अपने बड़े भैया से उन मुद्दों पर भी खुलकर बात कर लेते थे, जिन मुद्दों पर हमारे ठेठ ग्रामीण समाज में भाईयों में आपस में बात नहीं की जाती। जैसे प्रेम पर वे बेबाकी से अपने विचार रखते हैं। वे ये भी बताते हैं कि शुरू में उन्हें गृहस्थी से कितनी चिढ़ थी किन्तु बाद में वे इस संबंध में अपनी नकारात्मक सोच से भी बाहर आते हैं। जैसे-जैसे पाठक इन सोपानों पर जाता है उसे लेखक के जीवन के उत्तरोत्तर पक्षों का बोध होता चलता है। यह बोध निरा बोध नहीं है अपितु बड़े रोचक तरीके से सरसता के साथ पाठक के समक्ष एक-एक तथ्य उद्घाटित होता है। आत्मकथा को पढ़ते हुए पाठक को लगता है मानो गाँव की किसी चौपाल पर बैठकर किसी सयाने से कुछ सुना जा रहा हो। एक अच्छी आत्मकथा में जो-जो विशेषताएँ होनी चाहिए, वे सारी विशेषताएँ यहाँ मिलती हैं।

ग्रामीण संस्कृति के दर्शन-डॉ. शर्मा की वर्णन शैली अनूठी है। वहाँ गाँव-द्वार के शब्द अपनी सम्पूर्ण अर्थवत्ता में दिखाई देते हैं, ग्रामीण सांस्कृतिक

चेतना के दर्शन बहुधा होते हैं। ये डॉ. शर्मा के लेखन की विशेषता है कि वे अपनी आत्मकथा के बयान में जिस प्रसंग को छूते हैं, वह समूचा प्रसंग अपने परिवेश के साथ पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाता है। जहाँ वे प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभविक जीवन्त वर्णन करते हैं वहीं ग्रामीण संस्कृति भी यहाँ अपने पूर्ण स्वभाव में दिखाई देती है। अवध-बैसवाड़े क्षेत्र की संस्कृति में रचे-बसे डॉ. रामविलास शर्मा किसानी अनुभवों से जुड़े रहे। यही कारण है कि खेतों का मनोरम वर्णन उनकी आत्मकथा में उपलब्ध होता है। इस वर्णन में कहीं-कहीं उनकी दार्शनिकता भी प्रतिबिम्बित होती है-''खेत में सिंचाई के लिए बिगही बना दिए जाते थे। सूखी मिट्टी में अंकुर फूटे, पौधे बड़े हुए और सिंचाई शुरू हुई। मैं छुलहरे से बरहे में पानी का बाहर आना देखा करता था। पहले वह तेज पड़ता था, फिर उसकी चाल धीमी हो जाती थी। पानी के नीचे सफेद गीली मिट्टी दिखाई देती थी। पानी पीकर पौधे और हरे हो उठते थे।'' (वही, पृ.सं.-16) महुओं के वर्णन में लेखक का मन रमता है। अम्मा के साथ महुआ बीनना, चाँदनी रातों में महुए का टपकना, सुबह की धूप तलक हवाओं में महुए की गंध का वे भावमुग्ध होकर स्मरण करते हैं। गाँव के तीज-त्यौहारों का वर्णन करते हुए लेखक अपने पुराने दिनों की ओर चले जाते हैं। वे स्मृतियों की जुगाली करते हैं। उत्तर भारत में विशेष रूप से मनाये जाने वाला गुड़ियों का त्यौहार हो, ग्रामीण स्त्रियों द्वारा वट वृक्ष का विधि-विधान से पूजन हो, अलोपा देवी के थानक के पास लगने वाले मेले हों, विशेष मांगलिक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा ढोलक की थाप पर गाए जाने वाले गीत हों, इन सबका वर्णन सहज ही पाठक को विस्मृत कर दी गई ग्रामीण संस्कृति के अथाह सागर में अवगाहन करा देता है। त्यौहार के समय बनाए जाने वाले पकवानों का डॉ. रामविलास शर्मा सूक्ष्मता व सरसता के साथ वर्णन करते हैं- ''संक्रान्ति के दिन दउवा मँगोड़े बनाते थे। दाल पहले से भिगो दी जाती थी, भैया बड़ी सिल पर दाल पीसते थे। उसमें हरी मिर्च, लहसुन काटकर डाला जाता था। कड़ाही पर दउवा बैठते थे, उसमें बड़े-बड़े मँगोड़े डाल कर सेंकते थे। हम लोगों को तो भूख लगी होती थी। कड़ाही में पकते हुए मँगोड़ों की गंध से भूख और तेज हो जाती थी। लेकिन वे कहते थे, सब बन जाए तब एक साथ खाएँगे। धैर्य छूटने को होता था। सब्र करके बैठे रहते थे। सब मँगोड़े बन जाते थे तब एक साथ सब लोग खाने बैठते थे। बीच-बीच में दउवा मँगोड़ों की तारीफ करते जाते थे। मिर्च आ गई,

बीच में लहसुन का टुकड़ा आ गया, हर मँगोड़े का स्वाद अलग।'' (वही, पृ.सं.-34) डॉ. शर्मा ग्रामीण परिवेश में शकुन-अपशकुन के विचारों का, मन्नते माँगने का, लोक परम्पराओं व विश्वासों का भी वर्णन करते हैं। लोक संस्कृति के स्वर तो यहाँ बिखरे पड़े हैं। झाँसी में देखी गई रामलीला को वे उम्र भर भूल नहीं पाए। उनके अनुसार वैसी रामलीला उन्होंने फिर कहीं नहीं देखी। किस्सागोई का वर्णन भी डॉ. शर्मा की आत्मकथा का विशेष अंश है। अपने बाबा के मुँह से सुनी गई लोखर सियारिन की कथा हो या कि मेझुकरी की कथा, वे इन्हें हमेशा याद करते रहे। डॉ. शर्मा के वर्णनों से पता चलता है कि किस प्रकार स्त्रियाँ भी अनायास ही लोक कविताएँ रच देती थीं। दिन भर के काम से थक कर जब कोई स्त्री आराम करना चाहती होगी लेकिन किसी के यहाँ आल्हा के कारण रतजगा हो रहा होगा तो उस स्त्री ने यह व्यंग्योक्ति रच दी, जिसका उल्लेख करते हुए कहते हैं-

''आल्हा गवैया का जूड़ी आवै औ बजवैया का आवै ताप।
जेहिके दुआरे ढोलक बाजै, वहिका वंश नासि होई जाय।।

बहुत तगड़ा शाप था। वहिका जूड़ी आवै, यह खास गाली स्त्रियों की थी। लोक कविता रचने में उनका भी हिस्सा था।'' (वही, पृ.सं.-23) दरअसल यह आत्मकथा तात्कालीन ग्रामीण परिवेश एवं सस्कृति का अनूठा दस्तावेज बन जाती है।

ऐतिहासिक प्रसंग (स्वतन्त्रता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में) -

एक अच्छी आत्मकथा में अपने समय का सच तो दिखाई देता ही है, साथ ही तात्कालीन घटनाओं की भी जानकारी भी निष्पक्षता के साथ मिलती है। डॉ. रामविलास शर्मा की आत्मकथा से हमें स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बन्धित अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। वे जिस समय अध्ययन के लिये झाँसी में निवास कर रहे थे, उस समय झाँसी क्रान्तिकारियों के लिए गढ़ था। उस समय जनमानस में राष्ट्र के प्रति चेतना के भाव प्रस्फुटित होने लगे थे। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध योजनाएँ बनाई जाने लगी थीं। इस प्रसंग में सरस्वती पाठशाला का वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण है। सरस्वती पाठशाला के शिक्षक मात्र शिक्षा देने तक ही सीमित नहीं थे। वे राष्ट्रीय आंदोलनों में भी सक्रिय भाग लेते थे। अध्यापक छात्रों के साथ मित्रवत व्यवहार करते थे। डॉ. शर्मा के द्वारा किये गये वर्णनों से हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार शिक्षा का स्थान अपने राष्ट्रीय कर्तव्यों का भी निर्वाह कर रहा था।

यह भी गौरतलब है कि डॉ. रामविलास शर्मा को महात्मा गाँधी के प्रथम दर्शन इसी पाठशाला में हुए थे। उस घटना का वर्णन करते हुए कहते हैं- ''सरस्वती पाठशाला के बच्चे वहाँ गए और उनको एक लाइन लगाकर गाँधी जी के सामने से निकाला गया कि बच्चे गाँधी जी के दर्शन कर लें। मैंने भी वहाँ गाँधी जी के दर्शन किए। जमीन पर दरी-चादर बिछी थी, वहाँ वह बैठे थे। उसके बाद हमारी सरस्वती पाठशाला जो पहले सरकारी थी, राष्ट्रीय पाठशाला बन गई। मैं पाँचवे दर्जे में था तब वहाँ का वातावरण बिल्कुल बदल गया। नए अध्यापक सब राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाले लोग थे।'' (वही, पृ.सं.-32) इस पाठशाला ने उनके व्यक्तित्व निर्माण मे महती भूमिका निभाई। वे ता-उम्र वहाँ के शिक्षकों को याद करते रहे। उनके वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार क्रांतिकारियों के तरीकों में भी बदलाव हो रहा था। क्रांतिकारी अपनी योजनाओं में मजदूरों को सम्मिलित कर रहे थे-''सन् 1929 में मेरठ षड्यंत्र केस चला था। उसमें झाँसी के कई लोग थे। बम बनाना, सशस्त्र क्रांति का प्रयास करना, यह पुराने ढंग का क्रांतिवाद था। अब नए ढंग के क्रांतिकारी आ गए थे जो कहते थे मजदूरों का संगठन होना चाहिए।'' (वही, पृ.सं.-56) बाँग्लादेश के मुक्ति युद्ध को स्मरण करते हुए डॉ. शर्मा शेख मुजीब द्वारा ढाका में बाँग्ला भाषा में दिए गए भाषण का उल्लेख करते हैं। शेख मुजीब द्वारा धाराप्रवाह बांगला का प्रयोग, रवीन्द्रनाथ टैगोर की पंक्तियों को उद्धृत करना तथा उस भाषण में बाँग्ला जातीयता का भाव डॉ. रामविलास शर्मा को गहरे प्रभावित कर गया था।

मार्क्सवाद और डॉ. रामविलास शर्मा - डॉ. रामविलास शर्मा का मार्क्सवाद बहुचर्चित रहा है। वे मार्क्सवादी मूल्यों के आधार पर साहित्य की आलोचना करते थे। किन्तु उनका मार्क्सवाद व्यापक परिप्रेक्ष्य में था। वे अपने समय की मार्क्सवादी विचारधारा के सिद्धान्तों और उसकी तात्कालीन स्थिति का विश्लेषण अपनी आत्मकथा में करते हैं। इस वर्णन से हमें उनकी समय के साथ परिपक्व होती गई मार्क्सवादी विचारधारा के भी संकेत मिलते हैं। वे मार्क्सवाद की तात्कालीन स्थिति एवं पार्टीगत नीतियों का उल्लेख तो करते ही हैं, साथ ही उस समय की कांग्रेस की नीति को भी स्पष्ट करते हैं। उस कम्युनिस्टों के विरोध का भी वे वर्णन करते हैं। वे बताते हैं कि किस तरह उस दुकान को विरोधियों द्वारा जला दिया गया था, जिस पर पार्टी का साहित्य बिकता था। वे पार्टी के विषय में

स्पष्टता से बात करते हैं। वे न केवल पार्टी विरोध गतिविधियों की ही जानकारी देते हैं अपितु पार्टी में चल रहे आन्तरिक संघर्ष का भी वे खुल कर उल्लेख करते हैं। वे पार्टी की भूलों पर भी बेबाकी से लिखते हैं - ''सन् 478 से पहले पार्टी ने कैसी सुधारवादी भूल की, कैसे उसने कांग्रेस की पिछलगुवा बनकर क्रांतिकारी आंदोलन को हानि पहुँचाई, मुस्लिमलीग और कांग्रेस की एकता का नारा दिया।'' (वही, पृ.सं.-131) वे पार्टी की कमियों को दूर करना तो चाहते ही थे, साथ ही वे यह भी चाहते थे कि देश की परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्सवाद को समझने की आवश्यकता है-''इससे मैंने नतीजा यह निकाला कि पार्टी-शिक्षा की तरफ जितना ध्यान देना चाहिए, उतना ध्यान नेता लोग नहीं देते। 1948-49 के बाद बहुत से साथी विभिन्न दिशाओं में चले गये या भटक गए। अनेक की विचारधाराओं में परिवर्तन हुए। इसका कारण देशभक्ति की कमी नहीं, इसका मुख्य कारण मार्क्सवाद के अध्ययन में कमी थी। जब तक आदमी को मार्क्सवाद का यथेष्ट ज्ञान न हो, जब तक वह देश की परिस्थितियों को समझता न हो तब तक वह प्रतिकूल परिस्थितियों में अडिग बना रहेगा, इसकी सम्भावना कम थी।''(वही, पृ.सं.-38) डॉ. शर्मा मार्क्सवादी विचारधारा के वैश्विक परिप्रेक्ष्य पर भी पैनी नजर रखते थे। विदेशों में किस तरह कम्युनिस्ट विचारधारा में बदलाव हो रहा था, इसका उन्होंने वर्णन किया है। वे यह भी उल्लेख करते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े होने के कारण किस तरह सी.आई.डी के लोग उन्हें परेशान करते थे।

मजदूरों से सद्भावना- डॉ. रामविलास शर्मा ने एक किसान परिवार में जन्म लिया था, वे किसानों और मजदूरों के दु:खों बहुत अच्छे से समझते थे। उनका मजदूरों से काफी लगाव था। मजदूरों की दयनीय स्थिति, उनकी शिक्षा, उनको मिलने वाली सुविधाओं में कमी आदि पर वे गहन चिन्तन करते थे। वे उनके जीवन को और करीब से देखने के लिए कुछ दिन के लिए मजदूरों की बस्ती में भी रहे। उन्होंने मजदूरों के हक के लिए आवाज उठाई और उनको संगठित करने के लिए भी प्रयास किया। प्रसिद्ध क्रांतिकारी शचीन्द्रनाथ सान्याल से मिलने के बाद डॉ. शर्मा ने मजदूरों के संगठन पर बहुत काम किया। गोर्की के 'माँ' उपन्यास को पढ़ने के बाद उनका ध्यान रूस के मजदूरों की स्थिति पर गया। उन्होंने रूस के मजदूरों और भारतीय मजदूरों की स्थिति की तुलना की। उनका ध्यान इस बात पर गया कि रूस के मजदूर तो क्रांतिकारी थे किन्तु भारतीय

मजदूरों में क्रांति की कोई जागरूकता दिखाई नहीं देती-''मैं सोचा करता था, रूस के मजदूर क्यों क्रांतिकारी थे। वे क्रांति की बातें कैसे करने लगे और यहाँ क्रांतिकारी चेतना क्यों नहीं है। हमारे मजदूर उनसे अलग क्यों दिखाई देते हैं।'' (वही, पृ.सं.-65) उन्होंने मजदूरों को क्रांति के लिए प्रेरित किया। मार्क्सवाद मजदूरों, किसानों की आंदोलनों में भागीदार चाहता था। पार्टी के सांस्कृतिक आयोजनों में मजदूरों को प्रेरित करने के लिए कुछ दृश्य रखे जाते थे और गीत-संगीत का भी प्रयोग किया जाता था-उठ्ठा शिपाही क्रांतीचा कामगार जवान। टूंडला में रेल मजदूरों के संगठन एवं उस संगठन के प्रयासों से होने वाले परिवर्तनों का वे बड़ी प्रसन्नता से वर्णन करते हैं-''टूंडला में रेल मजदूरों का बड़ा केन्द्र था। वहाँ कुछ ऐसे मजदूर साथियों से परिचय हुआ जो समाज के बिल्कुल निम्न वर्ग से उठकर ऊपर आये थे। पार्टी में आने पर उन्हें जैसे नया जीवन प्राप्त हुआ और वे बड़े आत्मविश्वास से मजदूरों में काम करते थे, सिर ऊँचा करके मध्यमवर्ग के बुद्धिजीवियों से बात करते थे।'' (वही, पृ.सं.-37)

साहित्यिक यात्रा- डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी आत्मकथा में जिक्र किया है कि उनके बाबा उन्हें बचपन में सवैया, कुण्डलियाँ, लोककथाएँ आदि सुनाते थे। सम्भवत: यहीं से उनकी साहित्यिक यात्रा के बीज अंकुरित हुए। सन् 1920 के आसपास झाँसी में रहते हुए उन्होंने क्रांतिकारी साहित्य पढ़ा। झाँसी में रहते हुए उन्होंने कविता लिखना शुरू कर दिया था, जिन्हें वे अपनी मित्र-मण्डली में सुनाते थे। उस समय उनमें एक बहुआयामी साहित्य सर्जक के व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा था। वहाँ उनके मित्र पेंढरकर, जो कविता प्रेमी थे, उनकी कापी में कविताएँ लिख कर दिया करते थे। पेंढरकर ने ही उन्हें बाँग्ला कविताएँ पढ़ने के लिए प्रेरित किया। कॉलेज के पुस्तकालय का उन्होंने खूब उपयोग किया। वहाँ उनका परिचय अंग्रेजी साहित्य के विशाल संसार से हुआ। मिल्टन की पैराडाइज लास्ट ने उन्हें प्रभावित किया। वे मानने लग गए थे कि मिल्टन के जोड़ का कोई कवि नहीं है। किन्तु जब निराला की रचनाओं का उन्होंने आस्वादन किया तो हिन्दी कवियों की प्रतिभा का अनुभव हुआ और उन्हें लगा कि मिल्टन की टक्कर का कोई कवि है तो वे निराला हैं। डॉ. रामविलास शर्मा की मुलाकात निराला जी के साथ उनके शोध कार्य के दौरान हुई थी। एक दुकान पर डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा किये गये स्वामी विवेकानन्द के अनुवाद को देखकर स्वयं निराला जी ने

दुकानदार से अनुवादक के विषय में पूछा। फिर जो मुलाकात हुई वह आजीवन बनी रही। निराला जी से मुलाकात के बाद डॉ. शर्मा के साहित्यिक दायरे का विस्तार हुआ। निराला जी के ही घर पर अमृतलाल नागर के साथ मुलाकात हुई। अमृतलाल नागर उस समय 'चकल्लस' नामक हास्य-व्यंग्य की पत्रिका निकालते थे। डॉ. शर्मा की आत्मकथा से इस पत्रिका के विषय में कई अनछुए तथ्य ज्ञात होते हैं। जैसे कि निराला जी कई बार चकल्लस के लिये दूसरों को बोलकर लिखवा देते थे। स्वयं रामविलास शर्मा उसमें चतुरानन चौबे नाम से लिखा करते थे। डॉ. शर्मा के अपने समकालीन लेखकों के साथ घनिष्ठ और मृदुल संबंध रहे। अमृतलाल नागर के साथ केदारनाथ अग्रवाल ऐसे लेखक रहे, जिनके साथ डॉ. शर्मा व्यक्तिगत रूप से जुड़े हुए थे। वे नागार्जुन को हिन्दी के साथ-साथ मैथिली का कवि भी कहते थे और उन्हें जनता का कवि मानते थे।

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी यात्राओं का भी रोचक वर्णन किया है। बचपन से ही की गई उनकी यात्राएँ उनके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालती हैं। काश्मीर यात्रा का तो उन्होंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। काश्मीर की वेशभूषा, खान-पान, संस्कृति, आर्थिक स्थिति आदि का वह सूक्ष्मता से वर्णन करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा की आत्मकथा गाँव की मिट्टी, खेत, पगडंडियों में विचरण कराती हुई हमें स्वतन्त्रता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत करती है और फिर साहित्य के विशाल रत्नाकर में गोते लगवाती है। यह हम पर है कि हम अपनी क्षमता के अनुसार कितने-कितने मौक्तिक वहाँ से चुन सकते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा की यह आत्मकथा महज एक लेखक की आत्मकथा नहीं हैं अपितु अपने समय का एक ऐसा दस्तावेज हैं, जिसके माध्यम से हम तात्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक घटनाओं को, उनके परिवेश को गहनता के साथ परख सकते हैं। साथ ही यह आत्मकथा उन लोगों के लिए भी प्रेरणास्रोत है, जो अपने जीवन में संघर्ष करते हुए अपनी राह स्वयं बनाते हैं। स्वयं डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं-''अपनी धरती की उर्वरता बनी रहे, अपने लोग गरीबी की रेखा के ऊपर आएँ, यह बहुतों का प्रयास है, मेरा भी है।''(वही, पृ.सं.-11)

डॉ. रामविलास शर्मा के सृजनात्मक व्यक्तित्व में भारतीयता

अजित कुमार राय

आज की विज्ञापन गंधी संस्कृति में डॉ. रामविलास शर्मा और कुबेर नाथ राय अपने आयतन में सीमित रहकर ठोस साधना करने वाले ऐसे सभ्यता समीक्षक हैं जो कि अंग्रेजी के प्रोफेसर और हिंदी के लेखक हैं। अकेले हिन्दी के दस आलोचकों के बराबर काम करने वाले युग-चिन्तक रामविलास जी का कद महज आलोचक की तुलना में कहीं अधिक ऊँचा है। ऊँचगाँव तो उनकी जन्मभूमि है। बड़े-बड़े नामवर आलोचकों के रंग बदलते अवसरवादी भाषणों के बरक्स उनका अड़ियल आलोचक अधिक आकर्षित करता है। एक दौर में जब वे प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव थे तो अमृतलाल नागर के शब्दों में कहें तो वे मारधाड़ वाली आलोचना करते रहे। उन्होंने शर्मा जी को सलाह दी कि जो कुत्ता तुम्हारी ओर देखकर भूँके, उसे क्या लाठी लेकर दौड़ाते रहोगे? कुछ ठोस काम क्यों नहीं करते? रामविलास जी निराला की तरह ही कई मोर्चों पर लड़ते रहे। वे निराला से पंजा भी लड़ाते थे। वे मार्क्सवाद का भारतीय संस्करण रचते रहे। तीन खंडों में प्रकाशित 'निराला की साहित्य साधना' आज भी आलोचकों के लिए एक चुनौती है। इसी पुस्तक पर उन्हें 1970 में साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। किसी कवि के समूचे सृजन को उसके जीवन-संघर्ष और युगीन परिवेश के साथ जोड़कर कैसे देखा जाना चाहिए, यह कृति इस तथ्य का मानक है। निराला के नायक गोस्वामी तुलसीदास जी को सम्बोधित अपने आलोचना-ग्रंथ 'भारतीय सौन्दर्य बोध और तुलसीदास' में वे कहते हैं कि कलाओं के पारस्परिक संबन्ध और विकास के अध्ययन के लिए भारतीय दर्शन जितना ठोस आधार प्रदान करता है, उतना यूरोपीय दर्शन नहीं। मैं तुलसी के कला पक्ष के अनुशीलन में प्रवृत्त हुआ तो यह मेरे लिए एक चकित कर देने वाला अनुभव था कि तुलसीदास के समय

तक जो भारतीय स्थापत्य तथा चित्रकला या भित्ति चित्रों का विकास हुआ था, तुलसी को न सिर्फ इन सबका ज्ञान था, बल्कि इनका बहुत अच्छा प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में किया। इस लिहाज से वे हिन्दी के बहुत बड़े कवि, बहुत सचेत और मेधा-संपन्न कवि ठहरते हैं। ज्ञातव्य हो कि वर्णाश्रम व्यवस्था को पुरस्कृत करने वाले तुलसी को नामवर सिंह खारिज कर चुके थे। उनके इस प्रस्ताव को जनमानस खारिज कर देता है तो बाद में नामवर ने भूल-सुधार किया कि तुलसी को निकाल दें तो हिन्दी में बचेगा क्या? रामविलास जी स्वीकार करते हैं कि तुलसी को संस्कृत और हिन्दी की समूची काव्य-परंपरा की बहुत अच्छी जानकारी थी। जिससे उनकी कविता में एक विशेष प्रकार की परिपक्वता लक्षित होती है।

रामविलास शर्मा ने ऋग्वेद का पुरातत्व, वास्तुकला, नृतत्व शास्त्र, भाषा विज्ञान और समाजशास्त्रीय अध्ययन किया। साम्राज्यवादी दुष्प्रचार के प्रभाव में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव और दिनकर ने भी 'संस्कृति के चार अध्याय' में गलत निष्कर्ष निकाला कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं हैं। वे बाहर से आए और उन्होंने सिन्धु घाटी सभ्यता को नष्ट किया तथा द्रविड़ों का नाश किया। रामविलास जी ने इसकी तीखी आलोचना की और सिद्ध किया कि आर्य संस्कृति भारत की मौलिक चिन्तन शैली है। 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद' में ऐतिहासिक स्थापनाएँ हैं तो 'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश' में ऋग्वेद का दार्शनिक पक्ष विश्लेषित हुआ है। यह अनूठी पुस्तक है। उनकी पाँच-छः पुस्तकों में ऋग्वेद पर एक अध्याय मौजूद है। उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से भारतीय संस्कृति और दर्शन की गम्भीर अंतर्यात्रा की है। साहित्य से जुड़े हुए सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय प्रश्नों से उलझना एक जोखिम भरा काम है। वे मानते हैं कि संस्कृति और दर्शन के क्षेत्र को रूढ़िवादियों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए परंपरा की पहचान के लिए भारतीय संस्कृति, दर्शन और भाषा की जड़ों तक जाने का गम्भीर काम करने वाले डॉ. शर्मा ने साठ से अधिक पुस्तकें लिखी हैं जो राजेन्द्र यादव के मन में एक आतंक पैदा करती हैं। हंस के संपादकीय में श्री यादव ने लिखा था कि डॉ. रामविलास शर्मा की शारीरिक उम्र नब्बे साल, मानसिक उम्र डेढ़ सौ साल और बौद्धिक आयु हजार साल की थी।

डॉ. रामविलास शर्मा मानते हैं कि सिर्फ समकालीन साहित्य का अध्ययन ही काफी नहीं है, भारतीय दर्शन से भी अभिज्ञ होना चाहिए। धर्म और संस्कृति दो

अलग-अलग चीजें हैं। संस्कृतिविहीन मनुष्य, मनुष्य ही नहीं है। कर्मकाण्ड से पृथक धर्म का वैचारिक पक्ष वरेण्य है जो नैतिक चेतना, उदारता और मानवीय करुणा से परिस्फूर्त है। मार्क्स ने यह कभी नहीं कहा कि हम केवल नास्तिक मजदूरों का ही संगठन करेंगे। उसमें अनेक पूजा-पद्धतियों और मत-मतान्तरों के लोग भी हो सकते हैं। स्वयं रामविलास जी ने स्वामी विवेकानंद की दो पुस्तकों कर्मयोग और राजयोग का हिन्दी में अनुवाद किया था और महाराणा प्रताप पर एक नाटक भी लिखा था। राणाप्रताप पर एक बहुत शानदार निबन्ध तो प्रेमचंद ने भी लिखा है जो कथित प्रगतिशील लेखकों के लिए सुपाच्य नहीं है। वे तो किसी खंडित कबीर को ही पूजते हैं। वे अपने जीवन से ही नहीं, कबीर के जीवन से भी आध्यात्मिकता को काट देते हैं। रामविलास जी कहते हैं कि प्रेमचंद एक उपन्यासकार के रूप में परिवार के भीतर घुसकर उस संघर्ष के अन्तर्बाह्य सभी रूपों को दर्शाते हैं। कहना नहीं होगा कि परिवार नामक संस्था भारतीयता की अवधारणा का एक मजबूत घटक है। रामविलास जी जातीय अस्मिता को वृहत्तर आशयों में ग्रहण करते हैं लेकिन आज उस पर ग्रहण लगा हुआ है। अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति उनमें गौरव-बोध कूट-कूट कर भरा हुआ है। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में उनके अवदान का तो अभी मूल्यांकन होना बाकी है। अपने आलोचना-कर्म के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि तुलसी की रघुनाथगाथा की तरह ही मुझे स्वान्तःसुखाय आलोचना लिखने में आनन्द आता है। शर्मा जी का मानस खाँटी भारतीय, बल्कि ऋषिकल्पी संरचना का है। विश्व हिन्दी सम्मेलन, लंदन में रामविलास जी को सम्मानित किया गया किन्तु वे वहाँ सम्मान ग्रहण करने नहीं गए। इसलिए नहीं कि यह विदेश में आयोजित था। बल्कि पुरस्कारों से पराङ्मुख और निस्पृह उनकी चेतना ने व्यास सम्मान और हिन्दी अकादमी के शलाका सम्मान की प्रभूत धनराशि को साक्षरता के प्रसार के लिए खर्च करने के विनम्र आग्रह के साथ लौटा दिया। यह उत्सर्गमूलकता का प्रतिमान है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने जब सागर विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विभागाध्यक्ष के पद पर रामविलास जी को आमंत्रित किया तो शर्मा जी ने कहा कि वाजपेयी जी! दिल्ली में रहकर कुछ गम्भीर काम करने दीजिए। जब उन्हें सोवियत लैंड पुरस्कार दिया गया तब उनकी पत्नी बीमार चल रही थीं तो उन्होंने सोवियत रूस की यात्रा के आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया। लेखन को जीने वाला और पारिवारिक दायित्व का निष्ठा से निर्वहण करने वाला यह फकीर आपादमस्तक भारतीय है।

कुछ प्रगतिशील आलोचकों ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर ब्राह्मणवाद का आरोप लगाया तो उसके उत्तर में शर्मा जी ने 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' नामक पुस्तक लिखी। प्रलेस के भीतर रहकर प्रतिवाद की ऐसी प्रखर चेतना कितनी काम्य है! जहाँ इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ के संयोजक धर्मवीर भारती को उनके पद से सिर्फ इसलिए हटा दिया गया था कि प्रयाग में एक काव्य गोष्ठी में उन्होंने सुभाषचंद्र बोस पर एक कविता पढ़ दी थी लेकिन रामविलास जी इसके लिए पूरे संगठन को दोषी ठहराने के पक्ष में नहीं हैं। धर्मवीर भारती ने भाषा-समस्या पर लिखे गए रामविलास शर्मा के अधिकांश लेख धर्मयुग में छापे थे। शर्मा जी का कहना है कि भारत में सही भाषा-नीति होनी चाहिए और अंग्रेजी के बजाय भारतीय भाषाओं को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। अलग अलग राज्यों में बँटे हिन्दी भाषियों का एक वृहद हिन्दी प्रदेश बनाया जाना चाहिए। कोई भी देश या समाज अपनी भाषा को छोड़कर समृद्ध नहीं हो सकता हिंदी भाषी राजनीतिक रूप से बँटे हुए हैं। गाँधी जी सोचते थे कि गुजराती बोलने वाले चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, वे एक जाति के हैं। इसी तरह बंगाली एक जाति है। लेकिन आज जबकि हर बड़े प्रदेश का विभाजन हो गया तो वृहत्तर हिंदी प्रदेश की परिकल्पना अव्यावहारिक लगती है और फिर इससे क्षेत्रवाद और भाषावाद की समस्या अनसुलझी ही रह जाती है। किन्तु उनके मौलिक और व्यापक सोच को सत्यापित तो करता ही है यह तथ्य। वैसे रामविलास जी का कहना है कि मनुस्मृति में वर्णित वर्ण व्यवस्था समाज में उस रूप में कहीं भी प्रचलित नहीं थी। और शूद्रों को भी पगार दी जाती थी। भारत का वस्त्र उद्योग इतना अधिक विकसित था कि पूरी दुनिया में कहीं और इतना अच्छा कपड़ा नहीं बनता था। गाँधी जी ने भी लोगों में यह भावना पैदा की थी कि हम अपनी जरूरतों के लिए उत्पादन स्वयं करें। उनका स्वदेशी आंदोलन साम्राज्यवाद के विरोध का सबसे कारगर उपाय था। विदेशी पूँजी की हमारे देश में खतरनाक भूमिका है। इसे गाँधी जी ने अच्छी तरह समझ लिया था और स्वदेशी आंदोलन के जरिए उन्होंने आजादी की लड़ाई को गाँव-गाँव में पहुँचा दिया था और इस देशव्यापी स्वाधीनता आंदोलन की सफलता में सम्पर्क भाषा हिन्दी का अन्यतम अवदान था। जबकि आज स्वतंत्र भारत में अंग्रेजी भाषा नहीं, माध्यम बनने का सपना देख रही है। कम से कम उसने हिन्दी को गाँवों में धकिया दिया है तो क्या इसे मानसिक और सांस्कृतिक पराधीनता का दूसरा

चरण माना जाए?

डॉ. रामविलास शर्मा सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन की चेतना को प्रगतिशील मानते हैं और 1857 के प्रथम स्वाधीनता आंदोलन को राज्य-क्रान्ति। जो सामंतों के नेतृत्व में नहीं, फौज के सिपाहियों द्वारा प्रवर्तित था और एक वर्ग से दूसरे वर्ग को हस्तांतरित होता रहा। कुछ इतिहासकार इसे स्वाधीनता संग्राम नहीं मानते थे, किन्तु स्वयं मार्क्स ने 1857 के आसपास भारत के बारे में अपनी धारणाएँ बदली थीं। एक अख़बार में मार्क्स और एंगेल्स प्रतिसप्ताह भारत की घटनाओं पर लिखते थे। जिनका संकलन 1959 में मास्को से 'इंडियाज़ फर्स्ट वॉर ऑफ़ इंडिपेंडेंस' नाम से छपा है। यूरोप और भारत के इतिहास को कैसे समझना चाहिए और वर्ग तथा वर्ण में क्या अन्तर है, यह जानने के लिए रामविलास जी की पुस्तक 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' का अनुशीलन करना चाहिए।

कुबेरनाथ राय ने अपने लेखन में मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर के त्रिक का संयोजन किया है और रामकथा को सूर्यकाव्य माना है। कृष्ण गीता में कहते हैं- 'समासों में मैं द्वन्द्व समास हूँ।' द्वन्द्व समास अर्थात् संयोजक भूमिका-मनुष्य और मनुष्य के बीच, मनुष्य और ईश्वर के बीच, मनुष्य और पृथ्वी के बीच। वास्तव में ईश्वर के बिना मनुष्य का जीवन अधूरा है बल्कि असंभव है। ईश्वर तो हमारी अंतश्चेतना है, सर्वभूतान्तरात्मा है, विश्व-प्रज्ञा है। ईश्वर तो हमारा नैतिक अधिष्ठान है। ईश्वर से जुड़कर ही मनुष्य की चेतना अपने अहंकार को 'अन्तर्यामी' का रूप दे सकती है। और इस अंतर्यामी को उस 'अक्षर' के साथ जोड़ सकती है जिसके प्रशासन में सारे सूर्य, चन्द्र, तारा और ग्रह चलते हैं, ऋतुएँ अपना चक्र पूरा करती हैं। श्रोत्रिय जी ठीक ही कहते हैं-वस्तु जगत को ही यथार्थ मानने के तीखे बोध ने ईश्वर को मार दिया। लेकिन क्या इससे धर्म के नाम पर होने वाले झगड़ों का अन्त हुआ? उल्टे इसने झगड़ने का ऐसा निर्भय समरांगण दे दिया जहाँ कोई आन्तरिक मूल्यपरक बाधा ही नहीं रही। अगर ईश्वर के मरने से साम्प्रदायिकता मर जाती तो ईश्वर की मौत का भी जश्न मनाया जा सकता था। मनुष्य से मनुष्य को जोड़ने में यदि ईश्वर बाधक बने तो उसकी बलि चढ़ाई जा सकती है किन्तु वह तो प्राणों की ऊर्जा है, जीवन का रस है- वह 'अमृता दृष्टि' है जिसे पाकर जीवन-विष से सारी शिकायतें दूर हो जाती हैं। भारतीय मनुष्य सारे अभावों, गरीबी और पीड़ाओं के बावजूद पर्वों का उल्लास मना सकता है बल्कि अभावों का उत्सव मना सकता है।

भूख को 'उपवास' का अर्थ देना ही मेरी दृष्टि में भारतीय संस्कृति का विश्व को अवदान है जिसे न समझ पाने के कारण ही वी.एस. नॉयपाल भारत को 'घायल सभ्यता' और 'अन्धकार क्षेत्र' के रूप में देखते हैं। उन्हें भारत 'फंतासियों और खंडहरों' का देश नजर आता है। यद्यपि उनकी इस स्थूल दृष्टि या अवधारणा को हमारे सांस्कृतिक पाखंड ने ही बल प्रदान किया और वे हमारी सभ्यता की विकृतियों को ही संस्कृति समझ बैठे – ''गाँधी की संवेदनशील कर्मठता यहाँ के भावशून्य ध्यान और निर्विचारता में बदल गयी। भारत की असफलता के केन्द्र में यही पूजा भाव है जो हर यथार्थ को उदात्त प्रतीकों में रूपान्तरित कर उसे पूज्य बना डालता है और यथार्थ यथावत घिनौना बना रहता है।'' किसी दूसरे ग्रह से देखी गई धरती की तरह यह भारत का जमीनी यथार्थ तो है परन्तु जिन्होंने ध्यान के एक भी प्रयोग नहीं किए, ध्यान के संबंध में उनकी 'वैज्ञानिक' टिप्पणी पर तरस आता है। जिस प्रकार मैक्समूलर ने स्थापना दी कि आर्य भारत में बाहर से आए–संभवत: वे जर्मन, ग्रीक, फारसी आदि जाति समूह का हिस्सा थे। उसी प्रकार नॉयपाल को भी लगता है कि भारतीय नेताओं में दधीचि की हड्डियाँ गलाने वाले गाँधी सबसे कम भारतीय थे। गोया हिन्दुस्तान में तो राक्षसों को रहना चाहिए अथवा असभ्य आदिवासियों को। यहाँ सभ्याचरण से सम्पन्न मनीषी कैसे हो सकते हैं? गोया बुद्ध और विवेकानन्द को पश्चिम ने ही पैदा किया और सूर्य का उदय शायद पश्चिम में ही होता है। पूरे विश्व को उपनिवेश बनाकर लूटने और संकीर्ण स्वार्थों के लिए देशों को बर्बाद करने वाली पश्चिमी सभ्यता के प्रति नायपाल का आलोचनात्मक विवेक मर जाता है। पश्चिम उन्हें प्रकाश का उद्गम नजर आता है। नोम चॉम्स्की उनसे कहीं अधिक ईमानदार, साहसी और प्रबुद्ध हैं जिन्होंने एकेडमिक जगत को आत्मालोचना और सत्य के निर्वाचन का दायित्व बोध दिया–बहती रोशनियों में ठहरे अँधेरे का अनावरण किया। दुर्भाग्यवश आचार्य द्विवेदी और दिनकर भी मैक्समूलर के प्रभाव में बह गए और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति (फूट डालो और राज्य करो) को समझ नहीं पाए। उनकी कूट बुद्धि आर्यों और द्रविणों को आपस में लड़ाती ही नहीं, अंग्रेजों के आक्रमण और उपनिवेश को वैधता भी प्रदान करती है। अब आर्य बाहर से आकर यहाँ कब्जा कर सकते हैं तो अंग्रेज क्यों नहीं। वह तो डॉ. रामविलास शर्मा ने इतिहास, समाजशास्त्र, पुरातत्व, भाषा विज्ञान, साहित्य, दर्शन, मिथक, देवतन्त्र आदि अनेक स्रोतों से प्रमाणित कर दिया कि आर्य भारत के मूल

निवासी थे। अंग्रेजी के प्रोफेसर होने के नाते वे अंग्रेजों की चाल को बखूबी समझते थे। उनका लक्ष्य अतीत की पुनर्व्याख्या या पुनरुत्थान नहीं, बल्कि अतीत के विरूपण से विभाजित भारत को किसी नए विभाजन की आशंका से सावधान करना है। आचार्य द्विवेदी यदि सांस्कृतिक इतिहास के सर्जक हैं तो डॉ. शर्मा ने संस्कृति का नया इतिहास लिखा और विदेशी साम्राज्यशाहों के चमकदार 'इतिहासवाद' का पात्र उलट दिया जिसके नीचे सत्य छिपा था। बड़ा विचित्र विभ्रम है कि भौगोलिक विविधताओं और 'विरुद्धों के सामंजस्य' वाले दर्शन के देश में आर्य और द्रविण जैसी भिन्न प्रकृति के लोगों का साहचर्य क्यों नहीं संभव है। और मेरा एक सवाल है कि यदि आर्य जर्मनी आदि देशों से आए तो सभी तो यहाँ आ नहीं गए होंगे। क्या वेदांत दर्शन के समरूप (सर्वांगसम नहीं) संस्कृत भाषा और सोच का वह ढाँचा तत्कालीन विश्वमंच के किसी और भूभाग के साहित्य में मौजूद है? अगणित महापुरुषों को जन्म देने वाली उर्वर धरती तब तक बंजर थी जब तक बाहर से आर्य आ नहीं गए। अपनी जन्मभूमि को स्वर्ग से अधिक श्रेयस्कर मानने और सोने की लंका को छोड़कर अयोध्या लौटने वाला 'कूटस्थ' चिंतन 'स्याद्वादी' मुद्रा में भी अपने मूल उद्गम को कभी याद क्यों नहीं करता? हो सकता है आत्महंता जन-बादी इतिहासकार इसका उत्तर ढूँढ़ें अथवा वेद के रचनाकाल को खींचकर ईसा बाद सिद्ध करने का प्रोजेक्ट हाथ में लें। यद्यपि नोबेल लॉरिएट टी.एस. इलियट 'द वेस्ट लैण्ड' शीर्षक अपनी जटिल प्रलंबित कविता में द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से उपजे संत्रास का समाधान भारतीय दर्शन की जमीन पर ही देखते हैं। आर्य-द्रविड़ के पार्थक्य और अभिन्नता या 'द्वैताद्वैत' संबंध को मानस के एक प्रसंग द्वारा समझा जा सकता है। रावण जब हनुमान से पूछता है कि तुम कौन हो -

कह लंकेस कवन तैं कीसा। केहि के बल घालेहि बन खीसा।।...
तो हनुमान उत्तर देते हैं -
सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल विरचति माया।।
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा।।...
जाके बल लवलेस तें, जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जाकरि हरि आनेहु प्रिय नारि।।
अर्थात् रावण में भी राम की ही ऊर्जा प्रवाहित हो रही है।

एडवर्ड सईद भी अंग्रेज विचारकों के बौद्धिक षड्यंत्र का पर्दाफाश करते हुए उनके बहुप्रचारित सिद्धांत 'सभ्यताओं के संघर्ष' की खूब खबर लेते हैं। पश्चिमी दुनिया ने 'इस्लामिक आतंकवाद' को सरलीकृत करके पूरी दुनिया के मुसलमानों पर चस्पा कर दिया है। वे इस बात से बहुत क्षुब्ध हैं कि ''पूरब' पश्चिम द्वारा रची गई एक फैंटेसी है जिसके माध्यम से पश्चिम इसे अपने से अलग करता है। इसे 'अदर' के रूप में विवेचित करता है। निश्चित रूप से इसके पीछे उसका वह सभ्यतागत अहं-बोध है जिसके तहत उसने अपने उपनिवेशों को लूटा।'' सच तो यह है कि अहं-बोध ही असभ्यता का लक्षण है। कम से कम सुसंस्कृत होने की पहचान तो नहीं ही है। जातीय अस्मिता या आत्मगौरव भी आत्महीनता से उबरने या आत्म-परिष्कार के संदर्भ में ही सही है, परपीड़न के संदर्भ में नहीं। वैसे यह सच है कि पश्चिम अधिक सभ्य है किन्तु भारत अधिक सुसंस्कृत।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मनुष्य के सर्वोत्तम चिंतन और सर्जनात्मक आचरण-पद्धति को ही संस्कृति की संज्ञा देते हैं। संस्कृति और परंपरा दोनों पार्श्ववर्ती शब्द हैं। परंपरा संस्कृति का संवाहक रथ है। संस्कृति द्विवेदी जी के लिए आन्तरिक भावात्मक सत्ता है। वे संस्कृति को लोकोपकार की उस उदात्त भूमिका में देखते हैं। जिसका सर्वोपरि लक्ष्य पूर्ण सभ्यता की रचना है। उसकी प्राथमिकता मनुष्य को उच्चतम नैतिक गुणों से लैस करना है। इसीलिए 'चारुता' की साधना-प्रक्रिया में कलाकार 'ज्यों का त्यों' के सत्य का अन्यथाकरण करता है। कला या रचना में वस्तुनिष्ठ यथार्थ से अधिक कलाकार की अन्तर्वेदना शामिल है। वे इतिहास और संस्कृति को जीवन के ठोस संदर्भों में देखना चाहते थे। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में भी उन्होंने सांस्कृतिक परिवेश का ही निर्माण किया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में इतिहास का अतिक्रमण कर बाण को आधुनिक बनाने और उनकी संवेदना को अपनी संवेदना में अन्तरित करने का महत् कार्य सांस्कृतिक अनुष्ठान को वर्तमान के लिए उपादेय बनाता है। उनका सांस्कृतिक अनुशीलन सम्राटों को नहीं, सामान्य जनता को सम्बोधित है। इतिहास की भव्य तरलताओं से अधिक वे लोक जीवन की बहुरंगी छवियों से आकृष्ट हैं। इस संस्कृति के निर्माण में आर्येतर सभ्यता (द्रविण, यक्ष, गंधर्व, नाग, असुर, वानर आदि) का यथेष्ट योगदान है। 'अशोक के फूल' में खिलती हुई सांस्कृतिक संचेतना हमें मानवीय सभ्यता की निरंतरता और सौंदर्य-बोध का साक्षात्कार

कराती है- ''धरती से मिले बिना स्वर्ग की वस्तुएँ मनोहर नहीं होतीं।''

स्वर्ग एक वैकल्पिक संसार है, जहाँ सारी चीजें अपने श्रेष्ठतम और उदात्ततम रूप में मौजूद और अक्षुण्ण हैं। तथा जहाँ जीवन का केवल शुक्ल पक्ष ही अस्तित्वमान और स्थिर है। यूरोपीय शोक गीतों की तरह निराला को अपनी अभिव्यंजना को अलंकृत करने के लिए वनदेवियों के अवतरण की जरूरत नहीं पड़ती। 'सरोज स्मृति' पुत्री के निधन पर कवि पिता द्वारा लिखा गया शोक गीत है जो यूरोपीय साहित्य में सुदुर्लभ है। प्रेमी नहीं, पिता पुत्री का शब्द-तर्पण कर रहा है।

निराला की कल्पना इस धरती से दूर कोई मनोरम अपार्थिव लोक नहीं रचती। वह पृथ्वी की दृढ़ आकर्षण शक्ति से बँधी हुई है। निराला के लिए स्वर्ग इसी धरती पर नर्गिस के सौन्दर्य में है, जूही की कली में है, वनबेला में है। पृथ्वी का गुण है गंध। निराला की कल्पना धरती के भीतर पैठकर वनबेला की सुगंध के साथ ऊपर उठती है। ...

मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल बास।

इस धरती की सम्पूर्ण गंध निराला की रचनाओं में व्याप्त है। सन् उन्नीस सौ तेईस में निराला ने जब 'मतवाला' निकाला तो उसके मुखपृष्ठ पर निम्न पंक्तियाँ अंकित थीं-

अमिय गरल, शशि शीकर रविकर,/राग-विराग भरा प्याला।
पीते हैं जो साधक, उनका/प्यारा है यह मतवाला।

जीवन और मृत्यु, अमृत और विष, राग और विराग सृष्टि के इस सनातन द्वंद्व पर एक सृजन शील प्रस्थान। 'जयशंकर प्रसाद' शीर्षक अपनी आलोचना-कृति में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने कहा है कि कामायनी में वह शैव दर्शन है जहाँ अमृत और हलाहल की सत्ताएँ एकरस हो गई हैं। जीवन में निहित सत् और असत् की समरसता को उत्कीर्ण करने के बजाय आज यथार्थ वाद के नाम पर कवियों ने खोज-खोज कर नरक की सृष्टि कर डाला।

'राम की शक्ति पूजा' में राम-रावण का अपराजेय समर लिखा तो गया है ज्योति के पत्र पर, किन्तु अक्षर सब अमावस के अँधेरे के हैं। विविध चित्रों की पृष्ठभूमि में इतना गहन अन्धकार है कि फलक की ज्योति सब ढँक गई है। तुलसी दास जी का मुख्य संघर्ष आन्तरिक है। उन्हें अपने संस्कारों से मुक्ति पानी है,

रत्नावली के प्रति अपनी आसक्ति से लड़ना है। उन्हीं की तरह महावीर पुरानी संस्कृति पर ज्ञानोद्धत प्रहार करते हैं। यहाँ निराला की आँखें भीतर एक नये लोक में खुल गई हैं, जहाँ संसार के छायाचित्र दिखाई देते हैं। यहाँ तक आते-आते निराला का संघर्ष और तीव्र हो गया है और उन्होंने अपने दूसरे मन को पहचान लिया है -

वह रहा एक मन और राम का जो न थका।

सविकल्प समाधि नहीं, जहाँ चेतना मन से तादात्म्य तोड़ कर विक्षेप के नाटक देख रही हो, बल्कि वेदना की किरणों ने वज्र कठोर अन्तर को बीच से तोड़ कर उसके दो हिस्से कर दिए हैं। एक पराजित मन और दूसरा अपराजित। बैसवाड़े के विप्र वर्ग से लेकर संपादकों-प्रकाशकों तक निराला के क्लेश के लिए जहाँ यह परिवेश उत्तरदायी है, वहाँ कोई अदृश्य नियति भी मानो उनकी विजय को पराजय में बदल देती है। इसके लिए महाप्राण निराला आजीवन शक्ति साधना करते रहे लेकिन अब वीणा वादिनि वाणी-वन्दना या शक्ति साधना जैसे प्रत्यय कथित प्रगतिशील लेखक के मन में उबकाई पैदा करते हैं।

स्वाधीनचेता लेखकों की दो प्रकार की सामाजिक भूमिका होती है। तात्कालिक और दूरगामी प्रभाव वाली। सामाजिक-राजनैतिक विसंगतियों के प्रतिवाद में आम जनता को जाग्रत और आंदोलित करना बुद्धिजीवी वर्ग का दायित्व है। शर्मा जी कहते हैं कि और कुछ नहीं तो पीठ पर पोस्टर बाँधकर ही निकल जाइए। साथ ही एक सर्जक को क्लासिकल महत्त्व की रचनाएँ भी देनी चाहिए जो आगे चलकर पूरे युग को प्रभावित करें। कविता और कहानी का मनुष्य के हृदय पर संवेदनात्मक प्रभाव पड़ता है। आज तो यह संवेदना भी संकुचित, खंडित और द्वैतवादी हो गई है। 'कविता के नये प्रतिमान' में नामवर सिंह ने डॉ. नगेन्द्र के समग्र काव्य-बोध पर व्यंग्य करते हुए कहा है कि जहाँ अज्ञेय और नीरज एक साथ जगह पा सकते हों, वह हृदय निस्संदेह बहुत विशाल कहा जाएगा। औरों के लिए जो असंगति है, उसी को रसात्मक बोध में विरोधों का सामंजस्य कहा जाता है। निश्चय ही नवगीत को उपेक्षित कर कविता को नीरस बौद्धिक व्यापार बनाने में नामवर सिंह का बड़ा योगदान है। इससे कविता लोक मानस से दूर होती चली गई और अकादमिक बहसों में सिमट गई। कविता भावों का निवेश है, विचारों का उपनिवेश नहीं। पता नहीं प्रगतिवादियों को रस से इतनी एलर्जी क्यों है? जबकि द्राक्षा रस तो काफी महिमा-मंडित है। गोस्वामी तुलसीदास जी समन्वय

चेतना के प्रतिमान हैं। रामविलास जी की भारतीय आत्मा इस बात से व्यथित है कि नई पीढ़ी में पारंपरिक कलाओं के प्रति ज्यादा आकर्षण नहीं रहा। ले-देकर भरतनाट्यम् और कत्थक तथा ओडिसी जैसे कुछ शास्त्रीय नृत्य ही हैं, जिनकी ओर लोगों का थोड़ा सा आकर्षण बचा है। वह भी इस लिए कि इन्हें विदेशों से मान्यता मिल जाती है। विदेशी पूँजी और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रभाव से देश को मुक्त कराने के लिए वे बेचैन दिखते हैं। क्योंकि वे भूमंडलीकरण के नकारात्मक प्रभाव से अवगत हैं। हमें उन बहुराष्ट्रीय निगमों की अनुचित शर्तें भी माननी पड़ती हैं। इस परिघटना से राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता की अक्षुण्णता प्रश्नांकित होती है। प्रकाश मनु को दिए गए एक साक्षात्कार में वे गाँधी जी को अपने महादेश के विभाजन के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं। सन् 1946 में जब नाविक-विद्रोह और क्रांतिकारी आंदोलन का उभार था, तब गाँधी जी ने जयप्रकाश नारायण और अरुणा आसफ अली के विरोध के बावजूद आंदोलन को स्थगित करने और अंग्रेजों के द्वारा गठित संविधान सभा में सहयोग करने का आह्वान करके भारी भूल की। अंग्रेजों ने ऐसी चाल चली कि देश दो टुकड़ों में विभक्त हो गया। यहाँ सवाल हिंसा और अहिंसा का नहीं था। सवाल अंग्रेजों का साथ देने और न देने का था और यहाँ गाँधी जी चूक गए। गौरतलब है कि रामविलास जी गाँधी जी के प्रति बहुत आस्थावान हैं लेकिन भारतीय हितों पर आघात पहुँचाने वाले कारकों की शिनाख्त बहुत शिद्दत से करते हैं। इस प्रकार एक गम्भीर आलोचक और युग-चिन्तक के रूप में रामविलास शर्मा का ऐतिहासिक अवदान अविस्मरणीय है। वे समग्र जीवन बोध के महान् अध्वर्यु हैं।

भारतीयता, राष्ट्रीय अस्मिता तथा भाषा

रामविलास शर्मा

भारतीय साहित्य का इतिहास, इतना कहते ही अनेक समस्याएँ सामने प्रस्तुत हो जाती हैं।

क्यों न ऐसा माना जाये कि भारतीय साहित्य नाम की कोई वस्तु नहीं है? किसी समय भारत का बहुत सा साहित्य संस्कृत में रचा गया था। चाहें तो उसे भारतीय साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं। उसके रचने वाले अनेक प्रदेशों के लोग थे। कहा जा सकता है कि संस्कृत के विपरीत पाली लोक-भाषा थी। उसमें लिखा हुआ साहित्य राष्ट्रीय साहित्य कहलायेगा। किन्तु इस भाषा में जो कुछ लिखा गया है, वह अधिकतर बौद्ध धर्म से सम्बद्ध है। एक धर्म विशेष से सम्बद्ध साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य कैसे कह सकते हैं? प्राकृतों में बहुत सा साहित्य रचा गया है पर इसके रचने वाले भी अधिकतर जैन विद्वान् हैं। इसके सिवा प्राकृत वास्तव में लोक-भाषाएँ थीं, यह धारणा संदिग्ध है। इन प्राकृतों में सैकड़ों शब्द णकार से आरम्भ होते हैं। भारत की नदियों, पर्वतों, नगरों, ग्रामों, जनपदों, देवियों, देवताओं, मुनियों, मनुष्यों में किसी का नाम भी णकार से आरम्भ नहीं होता।

इस तरह भारत का प्राचीन साहित्य भारतीय कहलाने का अधिकारी नहीं ठहरता। अपभ्रंशों की बात ही करना बेकार है क्योंकि उनका क्षेत्र बहुत सीमित है। ये लोक भाषाएँ थीं, यह धारणा भी प्रमाण-सिद्ध नहीं है। विद्यापति लोकभाषा मैथिली में लिख रहे थे, इसके साथ उनकी कीर्तिलता अपभ्रंश में है। इनमें कौन-सी लोक-भाषा है, कौन-सी कृत्रिम साहित्यिक भाषा है, यह निर्णय करना कठिन नहीं है।

जो साहित्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिखा गया है, उसे भारतीय कहना और भी कठिन है। जिस युग में इस देश के विभिन्न भागों के पण्डितजन

संस्कृत का व्यवहार करते थे, उस युग में भारत राष्ट्र की कल्पना की भी जा सकती है किन्तु जब आधुनिक भाषाओं का अभ्युदय हुआ, और वे साहित्य का माध्यम बनीं, तब जो राष्ट्रीय एकता थी भी, वह छिन्न-भिन्न हो गई। अनेक इतिहासकार मानते हैं कि अंग्रेजों के आने से पहले यहाँ राष्ट्रीय एकता की भावना का अभाव था। अंग्रेजी राज कायम होने के बाद ही राष्ट्रीय एकता का जन्म हुआ और स्वाधीनता प्राप्ति के लिए यह एकता किसी सीमा तक दृढ़ की गई। इस एकता का वाहन अंग्रेजी भाषा थी। भारतीय भाषाओं में राष्ट्रवादी भावनाएँ भले ही व्यक्त हुई हों, वे राष्ट्रभाषा नहीं थीं, प्रादेशिक भाषाएँ थीं। इनमें हिन्दी को कुछ लोग राष्ट्रभाषा कहते हैं पर वह किसी प्रदेश की भाषा है, इसमें भी सन्देह है। फिर स्वाधीनता प्राप्ति से पहले और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से अब तक हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न ही किया जाता रहा है, अभी तक वह राष्ट्रभाषा बनी तो नहीं है। बहुत से दूरन्देश लोग अंग्रेज़ी को बनाये रखने के पक्ष में इसीलिए हैं कि इस भाषा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता का जन्म हुआ और वह एक सीमा तक संवर्धित हुई। उसके न रहने से राष्ट्रीय एकता खंडित हो जायेगी और भारतीय साहित्य क्या, भारत देश की बात करना भी कठिन हो जायेगा।

इस स्थिति का एक पक्ष यह भी है कि अंग्रेजी राज से मुक्ति पाने के लिए जो एकता कायम की गई, वह नकारात्मक थी। अंग्रेजों का विरोध करना था, इसलिए विभिन्न प्रदेशों के लोग एकता की बातें करने लगे। जब वह विरोध समाप्त हो गया, तब एकता की बातें भी समाप्त हो गईं। राष्ट्रीय एकता को प्रेरित करने वाली कोई ऐसी सकारात्मक भावना यहाँ नहीं थी जिसका अंग्रेज़ों के आने-जाने से कोई सम्बन्ध न होता।

राष्ट्र की पहचान क्या है? शायद यह अंग्रेज़ी के नेशन शब्द का हिन्दी पर्याय है। ब्रिटेन एक राष्ट्र है। वहाँ के रहने वाले एक नेशन हैं, उनकी नेशनल लैंग्वेज या राष्ट्रभाषा अंग्रेज़ी है। भारत में बहुत सी भाषाएँ बोली जाती हैं। यही नहीं, ये ऐसे परिवारों की भाषाएँ हैं जो एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। इनमें एक आर्य भाषा परिवार है जो एक और बड़े इंडो-यूरोपियन परिवार की शाखा है। यह शाखा पहले भारत-ईरानी रूप में संयुक्त थी। आगे चलकर भारतीय आर्य और ईरानी प्रशाखाएँ विभक्त हो गईं। क्या यह सत्य नहीं है कि संस्कृत, तमिल की अपेक्षा, ईरानी भाषा (अथवा भाषाओं) के अधिक निकट है? दूसरा प्रसिद्ध द्रविड़ भाषा-

परिवार है। 19वीं सदी में काल्डवेल ने इसका सम्बन्ध शक भाषा परिवार से जोड़ा था। 20वीं सदी में द्रविड़-भाषा-विशेषज्ञ बरो ने इस शक परिवार को सीमित करके फिनोउग्रियन परिवार से द्रविड़-समुदाय का सम्बन्ध जोड़ा है। प्रायः सभी भाषा वैज्ञानिक सम्प्रदायों के विद्वान् मानते हैं कि आर्यों ने भारत में उत्तर पश्चिम की ओर से प्रवेश करके द्रविड़ों को परास्त किया, उनकी भूमि पर अधिकार किया, उन्हें दास बनाया और विन्ध्याचल के दक्षिण में उन्हें खदेड़ दिया। इससे पहले तो यह सिद्ध हुआ कि आर्यों के आगमन से पहले यहाँ द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती थीं। द्रविड़ लोग दक्षिण भारत में भले खदेड़ दिये गये हों, उनकी भाषाओं का नाश नहीं हुआ। आर्यों के आने से पहले से लेकर अंग्रेजों के जाने के बाद तक ये भाषाएँ जीवित रही हैं। अनेक भाषाओं का व्यवहार भारत में अनादि काल से अब तक होता रहा है। ऐसे देश को राष्ट्र की संज्ञा कैसे दी जा सकती है? फिर विजेता आर्यों के साहित्य के साथ विजित द्रविड़ों के साहित्य को गिनना, दोनों को एक ही राष्ट्र के साहित्य के अन्तर्गत मानना, क्या जले पर नमक छिड़कना नहीं है? क्या यह उन्हीं आर्यों की प्रभुत्वभावना नहीं है जो भारतीयता, राष्ट्रीयता आदि-आदि के नाम पर आर्येतर जनों को दास बनाते रहे हैं, जिन्होंने द्रविड़ों को विन्ध्याचल के दक्षिण में खदेड़ने के बाद भी उनका पीछा नहीं छोड़ा, वहाँ भी ब्राह्मणों का आधिपत्य कायम किया, संस्कृत भाषा और साहित्य के केन्द्र कायम किये, और इस प्रकार आर्य उत्तर भारत द्वारा आर्येतर दक्षिण भारत को गुलाम बनाते रहने का प्रयत्न निरन्तर चालू रहा? भारतीय साहित्य के इतिहास लिखने का प्रयत्न क्या उसी शृंखला की ओर एक कड़ी नहीं है?

द्रविड़ों के अतिरिक्त यहाँ कोल अथवा मुण्डा परिवार की भाषाएँ भी बोली जाती हैं। भाषाविज्ञानी कहते हैं कि कोल भाषाएँ बोलने वाले लोग यहाँ द्रविड़ों से पहले रहते थे। द्रविड़ों ने उन्हें हटाया, आर्यों के आने पर द्रविड़ और कोल मिलकर आर्यों से लड़े पर जीत न पाये। जो भी हो, ये मुण्डा लोग भी भारत में बाहर से आये थे और इनका भाषा-समुदाय उस आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की शाखा माना जाता है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया से लेकर प्रशान्त महासागर के द्वीप समूह पार करता हुआ आस्ट्रेलिया तक चला गया है। इस परिवार की भाषाओं में बहुत कम साहित्य लिखा गया है, इसलिए भारतीय साहित्य का इतिहास लिखते समय किसी हद तक उसकी उपेक्षा की जा सकती है। किन्तु जब भारत राष्ट्र की

बात करें, तब उसकी उपेक्षा से काम न चलेगा और इस धारणा का सामना करना होगा कि आर्य-द्रविड़ परिवारों के साथ यहाँ यह तीसरा भाषा परिवार भी है जो राष्ट्र-सम्बन्धी कल्पना को खण्डित करता है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि किसी एक ही भाषा-परिवार की भाषाएँ बोलने वाले लोग कहीं भी एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं हैं; पूरा परिवार तो बड़ी बात है, उसकी एक शाखा मात्र की भाषाएँ बोलने वाले लोग भी एक राष्ट्र में संगठित नहीं हैं। जर्मनी, आस्ट्रिया, हालैंड, डेनमार्क, नौर्वे, स्वीडन आदि देशों में जर्मन शाखा की भाषाएँ बोली जाती हैं पर ये सब राष्ट्र अलग-अलग हैं। फ्रान्स, स्पेन, इटली, रूमानिया में लैटिन शाखा की भाषाएँ बोली जाती हैं, पर ये सब राष्ट्र अलग हैं। फिर अनेक भिन्न परिवारों की भाषाएँ जहाँ बोली जाती हों, वहाँ भारत जैसे देश में राष्ट्र की कल्पना कैसे की जा सकती है?

एक नाग (चीनी-तिब्बती) परिवार अभी और हैं। मणिपुर, नागालैण्ड, अरुणाचल, असम के कुछ क्षेत्रों आदि में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। यह चौथा नाग भाषा-परिवार काफी पुराना है। कुछ भाषा विज्ञानियों के अनुसार इस परिवार की भाषाएँ बोलने वाले लोग भारत में आज जहाँ दिखाई देते हैं, उसकी अपेक्षा पुराने जमाने में भारत के और अधिक विस्तृत प्रदेशों में बसे हुए थे। इनकी भाषाओं में भी साहित्य-रचना कम हुई है। इसलिए भारतीय-साहित्य का इतिहास लिखते समय फिलहाल इनकी उपेक्षा भी की जा सकती है पर कोलों की तरह ये नाग लोग भी राष्ट्र सम्बन्धी कल्पना के आड़े आते हैं।

राष्ट्र, नेशन, जाति : राष्ट्र वह तंत्र है जिसके भीतर और जिसके आधार पर साहित्य रचा जाता है। साहित्य कहीं कल्पना के आकाश से राष्ट्रीयता लाकर जनमानस पर आरोपित नहीं करता। आर्थिक सम्बन्धों के साथ राष्ट्रीयता वह यथार्थ आधार है जिस पर साहित्य का निर्माण होता है। मान लीजिए, साहित्य में राष्ट्रीयता की भावना व्यक्त नहीं होती। इससे राष्ट्र का वस्तुगत अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसलिए साहित्य में इस बात का अनुसंधान करना चाहिए कि यह वस्तुगत इकाई राष्ट्र किस तरह प्रत्यक्ष रूप में, और किस तरह अप्रत्यक्ष रूप में, भाषा के माध्यम से व्यंजित होती है।

यह सम्भव है कि वर्तमान पूँजीवादी राष्ट्रों का वैभव जब समाप्त हो जायेगा और समाज वैज्ञानिक चिन्तन में अधिक स्पष्टता आ जायेगी, तब राष्ट्र शब्द का

अर्थ समझने और बहुजातीय राष्ट्रीयता के विकास का विश्लेषण करने के लिए ब्रिटेन या स्विट्जरलैंड को उदाहरण रूप में प्रस्तुत न किया जायेगा, उदाहरण रूप में सर्वप्रथम भारत को प्रस्तुत किया जायेगा, और यहाँ की सुदीर्घ राष्ट्रीयता के इतिहास का विश्लेषण जितना उपयोगी होगा, उतना उन देशों के इतिहास का विश्लेषण न होगा, जहाँ राष्ट्रीयता का जन्म अभी बीसवीं सदी में हुआ है या उससे दो-चार सौ साल पहले हुआ है।

यदि राष्ट्र नेशन का पर्याय है तो सबसे पहले इस नेशन की परिभाषा देखनी चाहिए। इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन मार्क्सवादी पुस्तकों में मिलता है। उसकी चर्चा करने से पहले एक बात और कह दें कि अंग्रेजी में नेशन के समानान्तर एक शब्द और है-नेशनेलिटी। इन दोनों में स्पष्ट भेद नहीं किया जाता। हिन्दी में कुछ लोग इनके पर्यायवाची के रूप में राष्ट्र के अलावा राष्ट्रीयता शब्द का व्यवहार करते हैं। जहाँ अंग्रेजी में बहुवचन नेशनेलिटीज होगा, वहाँ हिन्दी में राष्ट्रीयताएँ लिखेंगे। यथा भारत में अनेक राष्ट्रीयताएँ हैं।

मार्क्सवादी साहित्य में नेशन शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसके लिए हिन्दी-बँगला के परिचित पुराने शब्द 'जाति' का प्रयोग करना अधिक उचित है। राष्ट्र शब्द से भूमि का भी बोध होता है, जबकि नेशन शब्द से केवल किसी भूमि खण्ड के निवासियों का बोध होता है। दोनों शब्दों-जाति और राष्ट्र को-अलग रखने से हम उस उलझन से बच सकते हैं जो नेशन शब्द के व्यवहार से उत्पन्न होती है। इस उलझन पर हम आगे विचार करेंगे।

जाति के बारे में स्तालिन की एक प्रसिद्ध परिभाषा है जिसमें जाति के लक्षण बताये गये हैं। सामान्य आवास भूमि, सामान्य संस्कृति, सामान्य भाषा, सामान्य ऐतिहासिक परम्परा आदि के साथ मुख्य बात यह है कि जातियाँ आधुनिक पूँजीवादी विकास की देन हैं। पूँजीवाद के अभ्युदय से पहले जातियों की कल्पना नहीं की जा सकती। समाजवाद कायम होने के बाद सोवियत संघ एक बहुजातीय राष्ट्र बना। यह राष्ट्र स्वाधीन जातियों का स्वेच्छा से बनाया हुआ संघ है। राष्ट्रीयता की प्रेरक शक्ति समाजवादी अर्थतन्त्र है। दूसरे महायुद्ध से पहले, एक राष्ट्र के रूप में, सोवियत संघ की चर्चा कम-से-कम सैद्धान्तिक क्षेत्र में, कम होती थी। दूसरे महायुद्ध के दौरान और उसके बाद राष्ट्र-रूप में उसकी सत्ता की चर्चा काफी हुई। रूसी लोग अपने देश के संदर्भ में उस महायुद्ध को महान् राष्ट्रीय संग्राम कहते हैं।

राष्ट्र के लिए रूसी और अंग्रेजी में कोई उपयुक्त शब्द नहीं है। लैटिन में एक शब्द है पात्रिआ। इससे अंग्रेजी के पेट्रियट, पेट्रियोटिज्म, पेट्रिओटिक आदि शब्द बनते हैं। उसी से रूसी भाषा में पात्रिओतिचेस्किइ शब्द बनता है जो अंग्रेजी के पेट्रिओटिक का प्रतिरूप है।

सोवियत संघ एक राष्ट्र है, वहाँ रहने वाली जातियों की एक सामान्य मातृभूमि है, इस बारे में वहाँ के मार्क्सवादियों को कोई सन्देह नहीं है, भले ही राष्ट्र जैसा शब्द उनकी भाषा में न हो। किन्तु स्वेच्छित संघ बनाने की प्रेरणा यदि समाजवाद से मिलती है तो पोलैण्ड अलग राष्ट्र क्यों है? चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लाविया अलग राष्ट्र क्यों हैं? स्पष्ट है, समाजवादी प्रेरणा को, समाजवादी देशों में, स्वेच्छित संघ बनाने का एक मात्र आधार नहीं माना जा सकता। समाजवादी व्यवस्था में कहीं बहुत बड़े बहुजातीय राष्ट्री हैं जैसे सोवियत संघ, कहीं छोटे बहुजातीय राष्ट्र हैं जैसे यूगोस्लाविया, कहीं द्विजातीय राष्ट्र हैं जैसे चेकोस्लोवाकिया, कहीं एकजातीय राष्ट्र हैं जैसे पोलैण्ड या रूमानिया। विभिन्न प्रकार के राष्ट्रों के बनने और विकसित होने का एक ही कारण अथवा मूल कारण समाजवाद होता तो यह विभिन्नता न दिखाई देती। इस विभिन्नता का कारण इन देशों में रहने वाली जातियों के इतिहास की भिन्नता है। यह ऐतिहासिक भिन्नता किस प्रकार की है, किन ऐतिहासिक कारणों से एकजातीय, द्विजातीय, बहुजातीय राष्ट्रों का निर्माण होता है, इसका विवेचन मार्क्सवादी साहित्य में नहीं है। जहाँ तक समाजवाद से भिन्न व्यवस्था वाले किसी बहुजातीय राष्ट्र का प्रश्न है, उसके बारे में मार्क्सवाद या तो कुछ नहीं बताता या यह कहता है कि ये सामन्तों-पूँजीपतियों के कायम किये हुए राज्य हैं जिनमें एक शक्तिशाली जाति निर्बल जातियों का उत्पीड़न करती है, इसलिए आत्मनिर्णय का अधिकार देकर पीड़ित जातियों को अलग राज्य बनाने की छूट होनी चाहिए।

यूरोप में एक देश है स्विट्जरलैण्ड। यहाँ जर्मन, फ्रान्सीसी और इटालियन भाषाएँ बोलने वाली तीन प्रमुख जातियाँ रहती हैं। तेरहवीं शताब्दी से ये जातियाँ इस देश में एक साथ रहती आई हैं। अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए इन्होंने अनेक युद्ध किये हैं। इस देश में जातियों को समान अधिकार प्राप्त थे। लेनिन यूरोप के मार्क्सवादियों के सामने स्विटजइंग्लैड का उदाहरण दिया करते थे; रूस में जातीय उत्पीड़न ख़त्म करने, जातीय समानता कायम करने के लिए वह रूसी भाषा के

आधिपत्य का विरोध करते थे और कहते थे कि स्विट्जरलैंड में सभी भाषाओं के अधिकार समान हैं, वहाँ कोई अनिवार्य राजभाषा नहीं है, उसी तरह रूसी मार्क्सवादियों को अपने कार्यक्रम में अनिवार्य राजभाषा का विरोध शामिल करना चाहिए। प्रश्न है, स्विट्ज़रलैंड बहुजातीय राष्ट्र है या नहीं? वहाँ समाजवादी व्यवस्था नहीं है, पूँजीवादी व्यवस्था है, और ऐसी पुष्ट पूँजीवादी व्यवस्था है कि जिन राजनीतिज्ञों को शंका होती है कि शायद कभी अपना देश छोड़कर भागना पड़े, वे अपना रुपया-पैसा इस देश के बैंकों में जमा कर देते हैं। स्विट्ज़रलैंड में कई जातियों ने मिलकर जो संघ बनाया, उसकी शुरुआत तेरहवीं सदी से हुई। पूँजीवादी विकास में सबसे आगे चलने वाले देश इंग्लेण्ड में औद्योगिक क्रान्ति अठारहवीं सदी के अन्त में शुरू हुई। अठारहवीं सदी से पहले इंग्लेण्ड में औद्योगिक सर्वहारा वर्ग नहीं था। स्विट्ज़रलैंड में पूँजीवादी विकास इंग्लैण्ड के बाद हुआ, पहले नहीं। चौदहवीं, पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में स्विट्जरलैंड राष्ट्र था या नहीं?

मार्क्सवादी साहित्य में यह बात अक्सर कही गई है कि पूँजीवादी विकास का सामान्य नियम है, एकजातीय राज्य की स्थापना। इंग्लैण्ड पूँजीवादी देशों का अगुआ, एक जाति, एक भाषा वाले राज्य का मानो आदर्श रूप था। उसी तरह फ्रान्स, जर्मनी, इटली, एक भाषा, एक जाति, एक राज्य के विकास-सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए प्रतीत हुए। 'मार्क्सवाद और जातीय समस्या' नाम के अपने निबन्ध में स्तालिन ने पूँजीवादी विकास के दो रूपों का उल्लेख किया। एक रूप था पश्चिमी यूरोप में जहाँ एकजातीय राज्य कायम हुए। दूसरा रूप था पूर्वी यूरोप में जहाँ बहुजातीय राज्य कायम हुए। इस भेद का कारण उन्होंने यह बताया कि जहाँ सामन्तवाद को निर्मूल नहीं किया गया और पूँजीवाद का विकास अपेक्षाकृत कम हुआ, वहाँ ऐसे बहुजातीय राज्य कायम हए।

यहाँ पोलैण्ड का उदाहरण लेना चाहिए। इस देश में जब सामन्ती व्यवस्था बहुत सुदृढ़ थी, तब भी पोलैण्ड के निवासी अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ते रहे। जब वहाँ पूँजीवादी विकास हुआ, तब वहाँ के पूँजीपति ही नहीं मजदूर वर्ग का बहुसंख्यक भाग भी जारशाही रूस में रहने को तैयार न था। जब रूस में समाजवादी क्रान्ति हुई, तब भी पोलैण्ड समाजवादी रूस के साथ रहने को तैयार न हुआ। यूक्रेन में जब सामन्तवाद मजबूत था, तब वह रूसी राज्य में था। जब वहाँ समाजवादी क्रान्ति हुई, तब वह रूस के साथ सोवियत संघ में शामिल हुआ।

इसलिए पूर्वी यूरोप में बहुजातीय राज्य बनने का जो कारण बताया गया है, वह अपर्याप्त है।

पश्चिमी यूरोप में जिन राज्यों को एक जाति, एक भाषा का नमूना माना जाता रहा है, क्या वास्तव में वे वैसे हैं? सबसे पहले इंग्लैण्ड। इस देश के सामन्तों और पूँजीपतियों ने आयलैड पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और दोनों को एक ही राज्य यूनाइटेड किंगडम में गिनते थे। स्तालिन ने ठीक लिखा है कि आयलैंड की जाति ब्रिटिश जाति से भिन्न है। पर उन्होंने दोनों की भाषा अंग्रेज़ी मानी है जो सही नहीं है। आयलैंड को छोड़ दें तो देखना चाहिए कि ब्रिटेन नामक जो द्वीप बचता है, वह एकजातीय है या अनेकजातीय। भारत पर अंग्रेजों का राज था; उनका देश यहाँ के राजनीतिज्ञों के लिए राष्ट्रीयता का नमूना था। इसलिए इस देश की राष्ट्रीयता पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

इस देश के मूल निवासी केल्त थे। केल्त शाखा की भाषाएँ आयर्लैण्ड के अलावा वेल्स और स्कॉटलैण्ड में अभी बोली जाती हैं। ब्रिटेन में अन्यत्र वे नष्ट कर दी गई। जिस समय रोमन लोगों ने ब्रिटेन पर अधिकार किया और उसे सभ्यता के नये तत्त्व दिये, उस समय अंग्रेज़ नाम के लोग उस देश में न रहते थे। जिस समय भारत में अशोक ने अपना राज्य स्थापित किया, उस समय ब्रिटेन में अंग्रेजों या उनके पूर्वजों का पता न था। जिस समय भारत में गुप्त साम्राज्य का प्रसार हुआ, उस समय जर्मनी के कुछ कबीले रोमनों द्वारा खाली किये हुए ब्रिटेन में घुसने का प्रयत्न कर रहे थे। इनमें दो कबीले मुख्य थे, एक ऐंगल, दूसरा सैक्सन। इन्हीं ऐंगल नामक लोगों के नाम पर ब्रिटेन के एक हिस्से को नया नाम इंग्लैण्ड दिया गया। स्कॉटलैण्ड और वेल्स अब तक इंग्लैण्ड से भिन्न प्रदेश माने जाते हैं। जब सामन्ती व्यवस्था का विकास न हुआ था, गणव्यवस्था का युग था, तब जर्मन कबीलों ने ब्रिटेन के मूल निवासियों का विनाश करके, या उनकी जन्मभूमि से उन्हें भगाकर, इंग्लैण्ड नामक आवास-भूमि में रहना शुरू किया। सामन्ती युग में फ्रान्सीसियों की कृपा से, उनके द्वारा पराजित और शासित इंग्लैण्ड में, नई सामन्ती संस्कृति का जन्म हुआ। इसके बाद अंग्रेज़ सामन्तों ने ब्रिटेन के केल्त निवासियों से युद्ध करना आरम्भ किया। 1158 में वेल्स से पहला युद्ध हुआ, 1163 में वेल्स से दूसरा युद्ध हुआ। 1276 में वेल्स से तीसरा लम्बा युद्ध हुआ। 1284 में वेल्स को इंग्लैण्ड के राज्य में मिला लिया गया।

1294 में स्कॉटलैण्ड से युद्ध हुआ। 1314 में बैनकबर्न की प्रसिद्ध लड़ाई हुई जिसमें राबर्ट ब्रूस की स्कॉट सेना ने अंग्रेजों को पराजित किया। 1356 में अंग्रेजों की फौज ने स्कॉटलैण्ड में खूब तबाही और बर्बादी की किन्तु उसे जीत न सकी। 1480 में स्कॉटलैण्ड से फिर युद्ध हुआ और अंग्रेजों ने उस देश की भूमि का कुछ हिस्सा प्राप्त कर लिया। 1467 में अंग्रेजों ने स्कॉटलैण्ड से सन्धि की। 1542 में फिर युद्ध हुआ और स्कॉटलैण्ड का राजा पाँचवाँ जेम्स पराजित हुआ। अब इंग्लैण्ड के राजा आठवें हेनरी ने प्रस्ताव किया कि उसके बेटे एडवर्ड से स्कॉटलैण्ड की अल्पवयस्क राजकुमारी मेरी का ब्याह कर दिया जाये। स्कॉटलैण्ड ने यह प्रस्ताव अस्वीकार किया। 1544 में इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट ने यह फैसला किया कि यदि इंग्लैण्ड के राजकुमार एडवर्ड के कोई सन्तान न हई तो मेरी और एलीज़ाबेथ इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड की उत्तराधिकारी होंगी। 1564 में मेरी को अपने पुत्र छठे जेम्स के पक्ष में गद्दी छोड़कर भागना पडा और उसने इंग्लैण्ड में शरण ली। वहाँ उसे कैद कर लिया गया और 1587 में एक षड्यन्त्र में शामिल होने के नाम पर इंग्लैण्ड की रानी एलिजाबेथ ने उसका वध करा दिया। 1603 में अंग्रेजों ने स्कॉटलैण्ड के राजा प्रथम जेम्स को अपना राजा बना लिया और इस तरह स्कॉटलैण्ड और इंग्लैण्ड का संयुक्त राज्य बन गया। जेम्स के मरने के बाद प्रथम चार्ल्स राजा हुआ। 1648 में क्रॉमवेल ने स्कॉट सेना को पराजित किया। इस समय वेल्स में विद्रोह हुआ और क्रोमवेल ने उसका भी दमन किया। 1646 में स्कॉटवंशीय प्रथम चार्ल्स का वध किया गया और इंग्लैण्ड को प्रजातंत्र घोषित किया गया। उधर उसके पुत्र द्वितीय चार्ल्स ने स्कॉटलैण्ड पहुँचकर स्वयं को राजा घोषित किया। 1650 में क्रॉमवेल ने स्कौट सेना को पराजित किया। 1651 में द्वितीय चार्ल्स स्कोट सेना लेकर इंग्लैण्ड में घुस आया पर वह पराजित हुआ और फ्रान्स में उसने शरण ली। क्रॉमवेल की मृत्यु के बाद द्वितीय चार्ल्स इंग्लैण्ड का राजा बना। 1686 में विलियम और मेरी इंग्लैण्ड के साथ स्कॉटलैण्ड के भी राजा-रानी बने। 1707 में इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड का संयुक्त राज्य कायम हुआ जिसका नाम ग्रेट ब्रिटेन रखा गया। तभी से यूनियन जैक ब्रिटेन की राष्ट्रीय पताका बना।

इस तरह 400 साल तक युद्ध करने के बाद, और युद्धों में सफलता न मिलने पर विवाहादि सम्बन्धों के जरिये, अंग्रेजों ने स्कॉटलैण्ड को अपने राज्य में मिलाया। ये सारी लड़ाइयाँ और कूटनीतिक चालें सामन्ती युग में सम्पन्न हई। ऐसा

नहीं था कि इंग्लैण्ड में पूँजीवादी विकास हुआ और इस विकास-क्रम में पिछड़ा हुआ स्कॉटलैण्ड इंग्लैण्ड के पूँजीवादी क्षेत्र में सिमट आया। सामन्तों ने स्कॉट लोगों का दमन किया, पूँजीपतियों ने उस स्थिति से लाभ उठाया। यही स्थिति वेल्स और आयर्लैण्ड की थी। अंग्रेजों ने बारहवीं सदी में आयर्लैण्ड पर दाँत गड़ाने शुरू किये थे। तेरहवीं सदी में उस देश के कुछ भाग में थोड़े से अंग्रेज़ जाकर बस गये और पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक आयर्लैण्ड की स्वाधीनता समाप्त हो गई। यह सारा कार्य भी सामन्ती युग में सम्पन्न हुआ। अंग्रेज़ पूरे आयर्लैण्ड में आइरिश जाति की जगह अंग्रेज़ जाति को प्रतिष्ठित न कर सके जैसा कि उन्होंने ब्रिटेन के इंग्लैण्ड नामक भाग में किया था। किन्तु नीति कही थी। कुछ भाग पर अंग्रेज़ बस गये, बाकी भाग पराधीन बना लिया गया जैसे कि वेल्स और स्काटलैण्ड को पराधीन बनाया गया था। फिर अनेक बार विद्रोह हए और उनका दमन क्रूरतापूर्वक किया गया। इनमें एक विद्रोह क्रॉमवेल के ज़माने में हुआ था और प्रजातन्त्रवादी अंग्रेज़ी सेना ने उसका भी दमन किया था। 1801 में आयर्लैण्ड को कानून द्वारा यूनाइटेड किंगडम में शामिल किया गया।

सामन्ती युग में बहुजातीय राज्य का निर्माण दो तरह से होता दिखाई देता है। एक तरीका स्विट्ज़रलैण्ड का है जहाँ एक-दूसरे को गुलाम बनाये बिना भिन्न भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ मिलकर एक साथ रहने लगीं। दूसरा तरीका इंग्लैण्ड का है जहाँ अंग्रेजों ने, मूल निवासियों का नाश करके, उनकी भूमि से उन्हें खदेड़कर, वहाँ अपना प्रभुत्व कायम किया, और जिनका नाश न कर पाये या जिन्हें खदेड़ न पाये, उन्हें साम-दाम-दण्ड-भेद से, किसी-न-किसी प्रकार, अपने अधीन कर लिया। ऐसी परिस्थिति में आइरिश, वेल्श या स्कॉट जाति के लोग अंग्रेज़ों के राज्य को अपना राष्ट्र न समझ सकते थे। अंग्रेजों वाले भाग इंग्लैण्ड पर उनका कोई अधिकार न था लेकिन उनके अपने जातीय क्षेत्रों पर अंग्रेज हावी थे। इसके विपरीत स्विट्जरलैण्ड के निवासी चाहे जर्मन बोलें, चाहे फ्रेंच, चाहे इटालियन, वे सारे देश को अपना देश समझते थे। ऐसे ही देश को राष्ट्र की संज्ञा देना उचित है। यूनाइटेड किंगडम या ब्रिटेन एक राज्य अवश्य रहा, पर यह सारा राज्य पराधीन जातियों के लिए उनका अपना सामान्य राष्ट्र कभी नहीं था।

पूँजीवादी विकास के साथ ब्रिटेन का विकास एक भाषा वाले राष्ट्र के रूप में हुआ, वहाँ की पुरानी जातियाँ वेल्श और स्कॉट अंग्रेजों के साथ मिलकर

एक ही जाति का अंग बन गई, यह धारणा गलत है। मेरी पुस्तक 'भाषा और समाज' (1961) में ब्रिटिश जाति के निर्माण का उल्लेख इसी प्रकार है। भारत के राजनीतिज्ञ भी ब्रिटेन को एक भाषी, एक जाति वाला राष्ट्र इसी ढंग से मानते थे। पर इस संदर्भ में पहली बात ध्यान देने की यह है कि वेल्श, स्कॉट आदि केल्त जातियों को जीतकर एक राष्ट्र बनाने का क्रम सामन्ती युग हुआ। इस तथाकथित राष्ट्र का निर्माण किन्हीं नये आर्थिक सम्बन्धों के विकास का परिणाम 'न था। दूसरी बात यह कि ब्रिटेन में जब पूँजीवादी क्रान्ति हुई, जब पूँजीपतियों ने सामन्तों से राज्यसत्ता छीन कर अपने हाथ में ली, तब इस सामन्तविरोधी क्रान्ति में उन्होंने सामन्तों द्वारा गुलाम बनाई हुई जातियों को मुक्त नहीं किया, उनकी पराधीनता से बिकाऊ माल तैयार करने और बेचने में उन्होंने लाभ उठाया। (ब्रिटेन की और यूरोप की) पहली पूँजीवादी सशस्त्र क्रान्ति में ही क्रॉमवेल ने आइरिश, स्कॉट और वेल्श विद्रोहों का दमन करके सिद्ध कर दिया था कि सामन्ती राज्य-विस्तार पूँजीपतियों के लिए लाभकारी है, वे जातियों का सामन्तयुगीन उत्पीड़न कायम रखेंगे। तीसरी बात यह कि आइरिश जाति परतन्त्र हुई। मातृभूमि के एकीकरण के लिए वहाँ संघर्ष जारी है, साथ ही वेल्स और स्कॉटलैण्ड की जनता भी अब निरन्तर स्वायत्त शासन की माँग कर रही है। वहाँ के कूछ राष्ट्रवादी दल ब्रिटेन से अलगाव की माँग भी कर रहे हैं। सम्भव है, अलगाव की माँग पूरी न हो, पर स्वायत्तता की माँग को वेल्स और स्कॉटलैण्ड के बाहर भी ब्रिटेन के श्रमिक संघों और उनके नेताओं का व्यापक समर्थन मिल रहा है। यह समर्थन इस तथ्य की स्वीकृति है कि वेल्श और स्कॉट जातियाँ ब्रिटिश नामक जाति का अंग नहीं हैं। जातीय रूप में उनकी पृथक् सत्ता है, भले ही राजनीतिक रूप में वे अंग्रेजों के साथ मिलकर एक ही संघ में रहना स्वीकार करें।

सिद्ध हुआ कि ब्रिटेन एक भाषा, एक जाति वाला राष्ट्र नहीं है, जैसा लोग उसे समझते रहे हैं। वह बहुजातीय देश है, वहाँ अंग्रेजी के अलावा स्कॉटलैण्ड में मेलिक और वेल्स में वेल्श भाषाएँ बोली जाती हैं। पूँजीवाद के अभ्युदयकाल में, उद्योग धन्धों में मशीनों के चलन के समय, ऐसा लगता था कि पश्चिमी यूरोप में सामान्य प्रवृत्ति यह है कि एक जाति, एक भाषा वाले राज्य निर्मित हो रहे हैं। किन्तु पश्चिमी यूरोप में कोई भी ऐसा पूँजीवादी राष्ट्र नहीं है जो वास्तव में बहुजातीय न हो। सामन्तों द्वारा विजित और उत्पीड़ित जातियों के ऊपर अपना शिकंजा और भी

मजबूत करके नये पूँजीवाद ने यह भ्रम उत्पन्न किया कि जिस राज्य पर किसी एक जाति के पूँजीपतियों का प्रभुत्व है, उसमें एक ही भाषा बोली जाती है, अन्य भाषाओं और उन्हें बोलने वाली जातियों का अस्तित्व ही नहीं है। दूसरे महायुद्ध के बाद जैसे-जसे यूरोप के पूँजीपतियों के साम्राज्य संकुचित हुए या समाप्त हुए, वैसे-वैसे, अपने देश के मजदूरों में वे साम्राज्य की जो आमदनी बाँटते थे, वह कम हुई; मजदूरों को अपना शोषण अखरने लगा, बेकारों की संख्या मुद्रास्फीति की तरह निरन्तर बढ़ती गई, फलतः समाज में वर्ग-संघर्ष तेज़ हुआ। इसके साथ एक दूसरी प्रक्रिया आरम्भ हुई। जिन भाषाओं और जातियों का अस्तित्व लुप्त मान लिया गया था, वे रंगमंच पर फिर आ गयीं; प्रभुत्वशाली जाति के पूँजीपतियों का शिकंजा ढीला होते ही उन्होंने अपनी स्वायत्तता या स्वतन्त्रता की माँग करना शुरू कर दिया।

स्पेन में फ्रैन्को के अन्तिम दिनों में, और उसके मरने के बाद विशेष रूप से, बास्क-विद्रोह के समाचार निरन्तर आ रहे हैं। बास्क भाषा स्पेनी भाषा से बिल्कुल भिन्न है। वेल्श और अंग्रेज़ी तो फिर भी इण्डो-यूरोपियन परिवार के अन्तर्गत मानी जाती हैं, पर बास्क का अपना वंश ही निराला है। शताब्दियों से दबाये और सताये हुए बास्क जन अब अपनी स्वाधीन सत्ता के लिए फिर उठ खड़े हुए हैं। इनके साथ कतलन भाषा बोलने वाले भी स्पेन में अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा कर रहे हैं। स्पेन में कम-से-कम तीन भाषाएँ बोलने वाली तीन जातियाँ रहती हैं। वह एक भाषा वाला राज्य नहीं है।

बास्क भाषा बोलने वाले केवल स्पेन में नहीं हैं। उनका काफी बड़ा भाग फ्रान्स में है। फ्रान्स के बास्क अपनी स्वायत्तता के लिए उतने सक्रिय नहीं हैं जितने स्पेन के बास्क हैं। किन्तु फ्रान्सीसी भाषा से स्वतन्त्र अपनी प्राचीन भाषा के प्रति वे भी अत्यन्त सजग हैं। इनके अलावा फ्रान्स में ब्रतों भाषा बोलने वाले लोग रहते हैं। ये वहाँ के पुराने केल्त समुदाय के आदिवासी हैं। इनकी भाषा वेल्श भाषा से मिलती-जुलती है और फ्रान्सीसी से उतना ही भिन्न है जितना अंग्रेजी से वेल्श भिन्न है। ब्रतों लोग अपनी स्वायत्तता के बारे में उतना सक्रिय नहीं हैं जितना वेल्श भाषा बोलने वाले ब्रिटेन में हैं, पर इनकी भाषा का अस्तित्व बना हुआ है, और यह नहीं कहा जा सकता कि वे फ्रान्सीसी जाति में घुल-मिल गये हैं। फ्रान्स एक भाषा-भाषी राज्य नहीं है। वहाँ कम-से-कम तीन भाषाएँ बोलने वाली तीन जातियाँ रहती हैं।

जर्मनी में राष्ट्रवादी भावना बहुत प्रबल रही है। एक भाषा, एक जाति के नारे के अलावा एक नेता, एक पितृभूमि आदि का नारा भी वहाँ सुनाई देता रहा है। इस जर्मन राज्य के गठन में उस प्रदेश के भूस्वामियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है जिसे पूर्वी एशिया कहा जाता है। यहाँ की भाषा न तो जर्मन थी और न जर्मन वंश की कोई शाखा-प्रशाखा थी। वहाँ की भाषा स्लाव समुदाय की थी और उसमें लिखी हुई प्राचीन पुस्तकों में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की बहुमूल्य सामग्री विद्यमान है। सामन्ती युग में जर्मनों ने इस भाग पर आधिपत्य जमा लिया था। वहाँ की जनता के जर्मनी करण में उन्होंने कोई कसर न उठा रखी। नगरों में जर्मन भाषा का आम चलन हो गया पर गाँव में स्लाववंशी भाषा का व्यवहार होता ही रहा। दूसरे महायुद्ध में पराजित होने के बाद जर्मनों को यह पुरातन स्लाव प्रदेश पड़ोसी स्लाव देश पोलैण्ड को देना पड़ा। महान् जर्मन राष्ट्र एक भाषा वाला एकजातीय राष्ट्र नहीं था।

जर्मन राज्य में स्लाव भाषा-भाषियों के अस्तित्व का दिलचस्प जिक्र लेनिन के एक लेख में है। 1914 में जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार पर उन्होंने एक लेख लिखा था। इसमें उन्होंने लुडविग बर्नहार्ड की एक जर्मन पुस्तक का हवाला दिया है जिसमें प्रुशिया के राज्य में रहने वाले पोलिश समाज का विवरण दिया गया था। जर्मनीवासी पोल जनों ने अपनी जातीयता के लिए, और पोलिश भूमि के लिए, संघर्ष करते हुए एक तरह का किसान-प्रजातन्त्र कायम किया था। लेनिन कहते हैं कि जर्मन उत्पीड़न ने पोल जनों को संगठित होने के लिए बाध्य किया; वे जर्मनों से अलग संघबद्ध हुए; उस उत्पीड़न ने पहले अभिजात वर्ग में जातीयता जगाई, फिर पूँजीपतियों में, और अन्त में आम किसान जनता में, खास तौर से 1873 के बाद, जब जर्मन लोगों ने स्कूलों में पोलिश भाषा के व्यवहार के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया ।

19वीं सदी के अन्तिम चरण तक जर्मन भूस्वामी और पूँजीपति इस प्रयत्न में लगे हुए थे कि पोल जाति का जर्मनीकरण हो जाय। पोल जाति की पृथक सत्ता का मुख्य चिन्ह उसकी भाषा थी। इसलिए 1873 में उन्होंने इस भाषा का दमन करने, उसके स्थान पर जर्मन भाषा चलाने का प्रयत्न किया। इससे सिद्ध हुआ कि जर्मन राज्य एकजातीय राज्य नहीं था। लेनिन के उल्लेख में यह बात ध्यान देने की है कि जातीयता का भाव हमेशा पूँजीपतियों में पहले पैदा हो, यह आवश्यक नहीं है। पोलिश जातीयता का भाव पहले अभिजात वर्ग में पैदा हुआ, उसके बाद पूँजीपतियों

में, फिर वह किसान समुदाय में फैल गया। इसका कारण यह है कि पूँजीपतियों (व्यापारियों) द्वारा घरेलू बाजार का निर्माण जातीय निर्माण के अनेक कारणों में एक कारण है, वह एकमात्र कारण नहीं है। पोल जन आधुनिक जाति के रूप में संगठित न होने पर भी भाषा, संस्कृति और ऐतिहासिक परम्पराओं की समानता के कारण, लघु जातियों के रूप में भी, जर्मनों से भिन्न अपनी आधारभूत एकता पहचानते थे। इसीलिए अभिजात वर्ग में भी जातीय चेतना जाग्रत हुई, पूँजीपतियों का अस्तित्व तब रहा हो चाहे न रहा हो।

दूसरे महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका संसार के सबसे शक्तिशाली पूँजीवादी राज्य के रूप में विकसित हुआ। यहाँ के जिन काले आदमियों की भाषा अब केवल अंग्रेज़ी है, उनकी बात छोड़ दीजिए। वहाँ आयर्लैण्ड और यूरुप के देशों से आने वाले जो गोरे लोग अंग्रेज़ी को ही सांस्कृतिक भाषा के रूप में लिखते बोलते हैं, उनकी बात भी छोड़िये। इन सबको अंग्रेजी-भाषी अमरीकी जाति का अंग मान लीजिए। पर वहाँ के रेड इंडियन कहलाने वाले आदिवासी, मूल भूमि छिन जाने पर भी नष्ट नहीं हुए, उनकी भाषाएँ जीवित हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के एकाध राज्य में कानूनी तौर पर उनकी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम भी मान लिया गया है। अमरीका में रेड इंडियन जातियों और उनकी भाषाओं के अस्तित्व से इन्कार करना असम्भव है। अमरीकी राष्ट्र पर इन आदिवासी जातियों का कोई हक है या नहीं? उनका हक माना जाय चाहे न माना जाये, संयुक्त राज्य अमरीका में एक ही भाषा बोलने वाली एक ही जाति के लोग रहते हैं, यह कोई नहीं कह सकता। ब्रिटेन, फ्रान्स, स्पेन आदि की तरह संयुक्त राज्य अमरीका भी बहुजातीय राज्य है। यूरोप और अमरीका के राज्यों को ध्यानपूर्वक देखा जाये तो विदित होगा कि एकजातीय राज्य अपवाद हैं, नियम हैं; बहुजातीय राज्य, कहीं इन राज्यों में प्रभुत्वशाली जाति से भिन्न दूसरों की जातीयता मुखर है, कहीं वह ऊपर से शान्त दिखाई देती है। संयुक्त राज्य अमरीका के ऊपर (नक्शे में) कनाडा राज्य हैं। यहाँ दो भाषाएँ बोली जाती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के आदिवासियों के लिए सारा देश उनका राष्ट्र चाहे न हो, कनाडा के अंग्रेज़ी-फ्रान्सीसी बोलने वालों के लिए सारा देश एक ही राष्ट्र है। इसी तरह यूरोप के छोटे से देश बेल्जियम में एक जाति फ्लेमिश भाषा बोलती है जो जर्मन समुदाय की है। दूसरी जाति फ्रान्सीसी भाषा बोलती है। इन दोनों के लिए एक ही राष्ट्र है बेल्जियम, और दो महायुद्धों में इस

देश की जातियों ने अपनी राष्ट्रीय एकता अच्छी तरह प्रमाणित कर दी है।

परिणाम यह निकलता है कि जिन देशों में सामन्ती और पूँजीवादी युगों में जातीय उत्पीड़न नहीं रहा या कम रहा है, विभिन्न जातियों में समानता और भाईचारे का व्यवहार जहाँ अधिक हुआ है, वहाँ भाषाओं की भिन्नता होते हुए भी राष्ट्रीयता का विकास हुआ है। इसके विपरीत जहाँ एक प्रभुत्वशाली जाति के सामन्तों और पूँजीपतियों ने दूसरी जातियों का दमन किया है, वहाँ इस राष्ट्रीयता का अभाव रहा है; प्रभुत्वशाली जाति भले ही राष्ट्रीयता के गीत गाती रहे, पराधीन जातियों में इस राष्ट्रीय चेतना का अभाव होता है; उनके लिए राष्ट्रीयता का अर्थ होता है, दूसरों का प्रभुत्व स्वीकार करना, अपना जातीय अस्तित्व अस्वीकार करना। मारियो पेई ने 'लेंग्वेज फॉर एवरीबॉडी' पुस्तक में बेल्जियम और स्विट्ज़रलैण्ड का हवाला देते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं 'यह देखना दिलचस्प है कि बेल्जियम और स्विट्ज़रलैण्ड दोनों में फ्रान्सीसी भाषा बोलने वालों के बड़े समुदाय हैं। इनकी भाषाई नातेदारी फ्रान्स से है, न कि फ्लेमिश या जर्मन बोलने वाले जैमैनिक समुदाय से। दोनों देशों में जर्मन कुल की भाषाएँ बोलने वालों का दूसरा बड़ा समुदाय है। भाषा और संस्कृति के विचार से फ्रेंचभाषी बेल्जियन और स्विस, दोनों फ्रेंच हैं, किन्तु यह बात उनकी बेल्जियन और स्विस राजनीतिक वफादारी में बाधक नहीं होती। उनके राष्ट्रों (नेशनल स्टेट्स) से उन्हें अलग करने और फ्रान्स के राज्यतन्त्र से सम्बद्ध करने के प्रयास निश्चय ही व्यर्थ होंगे। ठीक यही बात स्विट्जरलैण्ड के उन लोगों के बारे में कही जा सकती है जो इटालियन और जर्मन भाषाएँ बोलते हैं।' (पृष्ठ 200-201)। यह राजनीतिक वफादारी क्या है जिसके कारण बेल्जियम और स्विट्ज़रलैण्ड के फ्रान्सीसी भाषी लोग फ्रान्स से सम्बद्ध होना स्वीकार नहीं करते? क्या यह केवल राजनीतिक वफादारी की बात है? शताब्दियों से भिन्न भाषाएँ बोलने वाले लोग स्विट्ज़रलैण्ड में एक साथ रहते आये हैं। उनका मिला-जुला इतिहास है, सामान्य आर्थिक जीवन है और भिन्न भाषाओं में रचे हुए साहित्य के साथ-साथ उनकी संस्कृति में बहुत से तत्व सामान्य हैं। उनके लिए स्विट्ज़रलैण्ड एक राष्ट्र है और इस राष्ट्र के प्रति उनकी निष्ठा है जो राजनीतिक वफादारी से बड़ी चीज़ है। इससे मिलती-जुलती बात बेल्जियम के बारे में कही जा सकती है।

इसके विपरीत यूरोप के एक दूसरे राज्य का हाल देखिये जहाँ अनेक

जातियाँ रहती थीं किन्तु जिनमें राष्ट्रीय एकता का विकास न हुआ था। पुराने आस्ट्रिया-हंगरी राज्य में इटालियन, क्रोट, सर्ब, पोल, चेक, स्लोवाक, रूमानियन और हंगेरियन जातियों के लोग रहते थे। राज्यसत्ता जर्मन भाषियों के हाथ में थी। इस देश की गैर-जर्मन भाषी जातियाँ इस राज्य के बाहर अपने मूल देशों के प्रति निष्ठावान थीं। हंगेरियन लोगों का इस राज्य के बाहर कोई देश न था; वे स्वतन्त्र राज्य बनाने की माँग करते थे। ज़ोर-ज़बरदस्ती से कायम किया हुआ यह राज्य टूट गया। हंगरी अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र है।

ब्रिटेन में जब गृहयुद्ध हुआ, तब अंग्रेजों के सताये हुए आइरिश, वेल्श और स्कॉट लोगों ने विद्रोह किया और उनके विद्रोहों का दमन किया गया। यह गृहयुद्ध पूँजीवादी क्रान्ति था जिसमें व्यापारी वर्ग सामन्तों से राज्यसत्ता छीन रहा था। इससे तुलना कीजिए फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति की जहाँ क्रान्ति के समय गैर-फ्रान्सीसी लोगों को अपनी-अपनी भाषाओं का व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। मारियो पेई ने उक्त पुस्तक में बताया है कि क्रान्ति के प्रारम्भिक दौर में फ्रान्स के जिन प्रदेशों में जर्मन, इटालियन, कतलन, बास्क और ब्रतों भाषाएँ बोली जाती थीं, उनमें लोगों को अपनी भाषाओं का व्यवहार करने के लिए इस विचार से उत्साहित किया गया कि इस तरह क्रान्तिकारी आन्दोलन आसानी से फैलेगा और क्रान्ति का अन्तर्जातीय स्वरूप निर्मित होगा। यह भी एक पूँजीवादी क्रान्ति थी। गैर फ्रान्सीसियों को दबाने के बदले उन्हें अपनी भाषाओं का व्यवहार करने की प्रेरणा दी गई। किन्तु क्रान्ति के सफल हो जाने के बाद फ्रान्सीसी पूँजीपतियों ने अपना प्रभुत्व सुदृढ़ किया और फ्रान्स में एक ही भाषा का चलन हो, इसके लिए प्रयत्न किया। मारियो पेई कहते हैं कि यह भावना फ्रान्स में अब भी बलवती है; फ्रान्सीसी भाषा का व्यवहार न करने वाले लोग फ्रान्सीसियों के कोपभाजन इस हद तक बनते हैं कि यदि चिट्ठी ब्रतों अथवा अन्य अल्पसंख्यक समुदाय की भाषा में लिखी गई हो, तो वह प्रेषक के पास वापस भेज दी जाती है। और अमरीकी राष्ट्र में गैरअंग्रेजी भाषाओं की स्थिति कैसी है? मारियो पेई ने बताया है कि फ्रान्स से मिलती-जुलती हालत यहाँ भी है। संयुक्त राज्य अमरीका में फ्रेंच, जर्मन, स्वीडिश और डच भाषाओं का व्यवहार करने वालों को निरुत्साहित किया गया, 'और नवागन्तुकों को समझा दिया गया कि अंग्रेज़ी का व्यवहार करने से ही नागरिकता प्राप्त होगी और उस नागरिकता के फल प्राप्त होंगे।'

ब्रिटेन, फ्रान्स, अमरीका आदि पूँजीवादी राज्यों में उन जातियों को दबाया गया है जो सत्ताधारी सामन्तों और पूँजीपतियों की भाषा अस्वीकार करती थीं। इस तरह के राज्य भारत के लिए आदर्श राष्ट्र नहीं हो सकते। यह धारणा मन से निकाल देनी चाहिए कि राष्ट्र का लक्षण यह है कि उसमें एक ही भाषा का व्यवहार हो। मुख्य बात यह है कि किसी देश में रहने वाली जातियाँ आपस में एक-दूसरे से किस तरह का व्यवहार करती हैं, एक साथ रहने के कारण उनकी कोई सामान्य ऐतिहासिक परम्पराएँ निर्मित हुई हैं या नहीं। भारत की राष्ट्रीयता की समस्या के विवेचन के लिए यूरोप के किसी देश का उदाहरण सामने रखना ही है तो स्विट्ज़रलैण्ड का उदाहरण रखना चाहिए। पहले तो ब्रिटेन ऐसा देश नहीं है जिसमें एक ही भाषा बोलने वाली जातियाँ रहती हों। फिर यदि यह मान लिया जाय कि वहाँ सब लोगों की भाषा अंग्रेज़ी ही है, तो इसे कौन अस्वीकार करेगा कि वेल्श और गेलिक भिन्न शाखा की भाषाएँ हैं और उनका दमन किया गया है? भाषाओं का दमन करने वाला राज्य भारत के लिए आदर्श राष्ट्र कैसे हो सकता है?

भाषा-प्रसार की भिन्न पद्धतियाँ : यहाँ यह प्रश्न अप्रासंगिक न होगा कि संसार के किस भाषा-परिवार की किस शाखा के लोगों ने विश्व पैमाने पर अन्य भाषाओं का दमन सबसे अधिक किया है? अमरीका के आदिवासी, प्रशान्त महासागर के द्वीप-समूह, अफ्रीका के गण-समाज, वहाँ की नवोदित जातियाँ, इथिओपिया की प्राचीन सभ्यता पर गर्व करने वाली अफ्रीकी जाति, मध्य एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया की जातियाँ संसार में सैकड़ों भाषा-परिवार हैं। इनमें एक परिवार है इण्डो-यूरोपियन। इस परिवार की एक शाखा है जर्मन। इसी शाखा के ऐंगल और सैक्सन कबीलों ने ब्रिटेन की केल्त सभ्यता का विनाश किया और ब्रिटेन के भीतर इंग्लैण्ड की स्थापना की। इंग्लैण्डवासी, जर्मन शाखा के अंग्रेजी-भाषी, सामन्तों और व्यापारियों ने अमरीका की आदिवासी सभ्यताओं का नाश किया, वहाँ अपने उपनिवेश कायम किये, फिर अमरीकी उपनिवेशों के अंग्रेज इंग्लैण्ड के अंग्रेजों से लड़े। पिछले दो महायुद्धों में असंख्य जनों के संहार के लिए उन्हीं प्राचीन जर्मन कबीलों के आधुनिक उत्तराधिकारी ज़िम्मेदार हैं। तीसरे महायुद्ध का ख़तरा सबसे ज्यादा इन्हीं में से एक अमरीकावासी समुदाय से है। भाषाओं के विश्व मानचित्र में यह जर्मन शाखा एक छोटी-सी बंद के समान है किन्तु विनाश और विध्वंस के कार्यों में वह अद्वितीय है। यहाँ जर्मन शाखा की भाषाएँ बोलने

वाले सामन्तों और पूँजीपतियों को लक्ष्य करके ही यह बात कही जा रही है। पर क्या यह बात सही नहीं है कि गण व्यवस्था के समय इनके पुरखों ने जिस बर्बरता का परिचय दिया था, उसमें इन पूँजीपतियों ने चार चाँद लगा दिये हैं?

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का मुख्य केन्द्र जर्मनी रहा है। जर्मन विद्वानों के लिए यह कल्पना करना अत्यन्त कठिन था कि जैसे ऐंगल और सैक्सन कबीलों ने केल्त सभ्यता का विनाश किया था, वैसे ही भारत में आर्यों ने द्रविड़ या कोल सभ्यता का नाश न किया होगा। अपने इतिहास के साँचे में उन्होंने दूसरों के इतिहास को फिट किया; जहाँ इस काम में कठिनाई हुई, वहाँ उन्होंने इतिहास के हाथ-पैर काटकर उसे अपने साँचे के अनुकूल बना लिया। विश्व पैमाने पर इस तरह के इतिहास की आवृत्ति कहाँ-कहाँ हुई है? जैसे राष्ट्रीयता का एक मात्र आदर्श ब्रिटेन नहीं है, वैसे ही ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में, भाषाओं और भाषा परिवारों का परस्पर सम्बन्ध समझने के लिए, एक ही साँचा नहीं है जिसमें जर्मन कबीलों ने पहले केल्त सभ्यता का विनाश किया और फिर उनके वंशजों ने मूल अमरीकी सभ्यता का नाश किया।

जर्मन शाखा के बाद इस विनाश-क्रिया में दूसरा स्थान लैटिन शाखा का है। इस शाखा के सामन्तों और व्यापारियों ने यूरोप की केल्त सभ्यता का दमन किया, जो केल्त बच रहे, उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। जर्मन कबीलों से पहले यही लोग ब्रिटेन पहुँचे थे। ब्रिटेन और आयर्लैण्ड की तरह यूरोप में भी केल्त भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ फैली हुई थीं। जर्मन कबीलों के लिए रोमन आक्रमणकारियों ने विजय-अभियान का एक आदर्श कायम कर दिया था। किन्तु जर्मन कबीलों से ये रोमन लोग अधिक सभ्य थे। इन्होंने दूसरे देशों को जीता तो उन्हें कुछ दिया भी। पर इस लैटिन शाखा के उत्तरकालीन वारिसों ने उत्तरी और दक्षिणी अमरीका में जैसी लूट मचाई और जैसा नरसंहार किया, उसे देखते वे जर्मन कबीलों के ही ज्यादा नज़दीक थे, रोमन विजेताओं से वे काफी फासले पर थे। विश्व इतिहास से यदि लैटिन और जर्मन शाखाओं के हमलावरों को निकाल दिया जाये तो विश्व की जातियों और भाषाओं का मानचित्र ही बदल जाये।

जो लोग यह समझते हैं कि किसी जाति के इतिहास का निर्माण मूलत: उसकी आर्थिक परिस्थितियों के कारण होता है, वे इस बात पर ध्यान दें कि अर्थतन्त्र के विचार से जो मंज़िलें इन शाखाओं की जातियों ने पार की हैं, उन्हें

दूसरों ने भी पार किया है। एशिया और यूरोप में, तथा अन्यत्र, वैसी गणव्यवस्था रही है जैसी जर्मनी और इटली में थी। सामन्ती व्यवस्था और व्यापार का प्रसार एशिया और अफ्रीका के देशों में भी हुआ। औद्योगिक क्रान्ति अवश्य पहले यूरोप में हुई। परन्तु उसके पहले, गण-समाजों के जमाने में, सामन्ती व्यवस्था और व्यापार के जमाने में, विभिन्न कबीलों और जातियों के इतिहास में इतना अन्तर क्यों है?

यूरोप में जैसे राष्ट्रीयता के लिए ब्रिटेन का विकल्प स्विट्ज़रलैण्ड है, वैसे ही सांस्कृतिक प्रभाव के विस्तार में इटली का विकल्प यूनान है। यूनान की सभ्यता यूरोप के अन्य देशों की सभ्यता से पुरानी है। लैटिन भाषा, लैटिन साहित्य, रोमन लोगों का धर्म यूनानियों की भाषा, साहित्य और धर्म की प्रतिच्छवि है। एथेन्स की सभ्यता मौलिक है, रोम की सभ्यता उसकी अनुकृति है। रोमन साम्राज्य के अभ्युदय से पहले अपने व्यापार और संस्कृति के बल पर यूनानियों ने भूमध्य सागर के तटवर्ती सुदूर प्रदेशों को प्रभावित किया। रोमनों द्वारा, और मखदूनिया के लुटेरे सिकन्दर द्वारा, पराजित होने पर भी उनकी सभ्यता के केन्द्र उत्तरी अफ्रीका में कायम रहे। पर इन यूनानियों ने फ्रान्स या ब्रिटेन को जीतकर वहाँ अपनी भाषा का प्रभुत्व कायम नहीं किया। इससे परिणाम यह निकलता है कि सुदीर्घ गण-व्यवस्था-काल में किसी भाषा कुल के लोग जो संस्कार अर्जित करते हैं, वे अन्य गण-समाजों के संस्कारों से भिन्न ही नहीं होते, वरन् सामन्ती और पूँजीवादी व्यवस्थाओं में भी वे बहुत कुछ कायम रहते हैं।

जर्मनी के बाद ऐतिहासिक भाषा विज्ञान का केन्द्र फ्रान्स रहा है जहाँ लैटिन भाषा बोली जाती है। रोमन सभ्यता के उत्तराधिकारी फ्रान्सीसी विद्वानों के लिए यह समझना बहुत कठिन है कि जैसे रोमन विजेताओं ने केल्त समाजों का विनाश किया था, वैसे ही आर्यों ने भारत में अनार्य समाजों का नाश न किया होगा। किन्तु लैटिन और जर्मन गण-समाजों के अलावा एक अन्य उदाहरण यूनान का भी है। उससे भारत की तुलना की जा सकती है। भाषाओं और भाषा परिवारों के परस्पर सम्बन्धों का एक ही साँचा नहीं है जिसका निर्माण जर्मन-लैटिन शाखाओं के हमलावरों ने किया था। इन दूसरे साँचों को ध्यान में रखते, हुए भारतीय भाषाओं के परस्पर सम्बन्धों और भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

राष्ट्र और प्राचीन समाज व्यवस्था : यूनान प्राचीनकाल में छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था, ये राज्य आपस में लड़ते-भिड़ते थे और मिलकर भी रहते थे। राजनीतिक रूप से एकताबद्ध न होने पर भी यूनान के लोगों में यह भावना पैदा हुई कि हम एक ही देश के निवासी हैं। यह भावना उस समय पैदा हुई जिस समय वहाँ आधुनिक पूँजीवाद का विकास न हुआ था। विभिन्न प्रदेशों और राज्यों के यूनानी समूचे देश को हेलास कहते थे। जिस समय स्पार्टा और एथेन्स में लम्बी लड़ाई चली, उस समय बहुत से यूनानी दुखी थे कि यह आपस में भाइयों की लड़ाई है और इससे देश का नाश हो जायेगा। प्रसिद्ध इतिहासकार थुकेदिदेस की कृति में यह भावना बहुत साफ दिखाई देती है। इसे राष्ट्रीय चेतना कहना उपयुक्त होगा।

यूनान के गण-समाजों की भाषाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं, फिर भी वे अलग-अलग थीं। इनमें एक से अधिक का उपयोग साहित्य के लिए भी हुआ है। होमर के काव्यों की भाषा वही नहीं है जो प्लेटो के गद्य की है। प्राचीनकाल में अनेक यूनानी गण-समाज एशिया के उस भाग में रहते थे जहाँ अब तुर्की है। कुछ गण-समाज बिखरे हुए द्वीपों में रहते थे, अन्य जन यूरोप के उस दक्षिणी भाग में रहते थे जो अब यूनान कहलाता है। जलस्थल का यह सारा भाग अखण्ड भौगोलिक इकाई न था, फिर भी परस्पर आर्थिक विनिमय, सांस्कृतिक सम्पर्क, भाषागत समानता (एकरूपता नहीं) और सम्बद्ध ऐतिहासिक परम्पराओं के कारण इन गणराज्यों में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास हुआ। थुकेदिदेस अपनी पुस्तक हेलास के वृत्तान्त से आरम्भ करता है, किसी विशेष गण-समाज के वृत्तान्त से नहीं।

यहाँ राष्ट्र और जाति, इन दोनों शब्दों को आपस में उलझा न देना चाहिए। जाति वह मानव-समुदाय है जो व्यापार द्वारा पूँजीवादी सम्बन्धों के प्रसार के साथ गठित होती है। सामाजिक विकास-क्रम में मानव समाज पहले जन या गण के रूप में गठित होता है। सामूहिक श्रम और सामूहिक वितरण गण-समाज की विशेषता है और उसके सदस्य आपस में एक-दूसरे से रक्त सम्बन्ध के आधार पर सम्बद्ध माने जाते हैं। इन गण-समाजों के टूटने पर लघु जातियाँ बनती हैं जिनमें उत्पादन छोटे पैमाने पर होता है और नये श्रम विभाजन के आधार पर भारतीय वर्ण-व्यवस्था जैसी समाज-व्यवस्था का चलन होता है। पूँजीवादी युग में इन्हीं लघु

जातियों से आधुनिक जातियों का निर्माण होता है।

प्राचीन यूनान में, होमर के महाकाव्यों के युग में, अनेक गण-समाज थे। प्लेटो के समय में सामन्ती व्यवस्था वाली लघु जातियाँ थीं। अब यूनान में पूँजीवादी युग की एक जाति रहती है। वैदिक काल में भरत, कुरु, पांचाल आदि अनेक गण-समाज थे। बौद्ध काल में जिन्हें जनपद या महाजनपद कहा जाता था, वे लघु जातियों के प्रदेश थे। ब्रज, अवध, बुन्देलखण्ड आदि उन्हीं लघु जातियों वाले प्रदेशों के अवशेष हैं और इन्हें अब भी हम जनपद कहते हैं। इन लघु जातियों से आधुनिक हिन्दीभाषी जाति का निर्माण हुआ है। भारत में अब हिन्दी, बंगला, मराठी, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाएँ बोलने वाली अनेक जातियाँ रहती हैं।

'राष्ट्र' शब्द का व्यवहार इन तीनों प्रकार के मानव समाजों के लिए होता रहा है। वैदिक काल में, महाभारत काल में और उसके बाद भी 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग हमारे यहाँ होता आया है और इसमें दो अर्थभित रहे हैं : वह भूमि जिस पर कोई मानव-समुदाय रहता है, और स्वयं वह मानव-समुदाय।

राष्ट्र के अन्तर्गत एक गण-समाज और उसकी भूमि गिनी जा सकती है, और एक से अधिक गण-समाजों और उनकी संयुक्त भूमि को भी गिना जा सकता है। इस तरह के गण-संघ वैदिक काल में ही बनने लगे थे। इसी तरह राष्ट्र के अन्तर्गत एक जनपद हो सकता है और अनेक जनपद हो सकते हैं। बौद्धकालीन महाजनपद इसी तरह लघु जनपदों को मिलाकर बनाये गये थे। इन समस्त गण-समाजों और लघु जातियों-जनपदों और महाजनपदों-के समवाय को भी एक राष्ट्र की संज्ञा दी जा सकती है। संस्कृत में 'वर्ष' शब्द का प्रयोग इसी ढंग से होता था। इस देश को भारतवर्ष कहा जाता था। भारतवर्ष के स्थान पर अब केवल भारत शब्द का चलन सामान्य हो गया है। यह भारत एक राष्ट्र है। प्रश्न यह है कि सामन्तकाल में क्या इस देश के लोगों में यह चेतना थी कि हम एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं। सामन्ती व्यवस्था की विशेषता यह मानी जाती है कि उसमें छोटे-छोटे राज्य होते हैं, आपस में लड़ते रहते हैं, राज्यों की सीमाएँ बनती बिगड़ती रहती हैं, उत्पादन और वितरण छोटे पैमाने पर होता है, यातायात के साधन अविकसित होते हैं, ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता का विकास, वह भी भारत जैसे विशाल भूखण्ड में, कैसे सम्भव है? यदि इस भूखण्ड में उस प्रदेश को शामिल किया जाये जिसे पहले उत्तराखण्ड कहते थे, तो अफगानिस्तान और उसकी सीमाएँ पार कर जाने वाला

यह भारतवर्ष और भी बड़ा दिखाई देने लगता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिन देशों और द्वीपों को अनेक भाषा विज्ञानी और इतिहासकार वृहत्तर भारत के अन्तर्गत मानते हैं, उन्हें भी ध्यान मन रखें तो भारत नाम की सांस्कृतिक इकाई और भी विराट हो जाती है। क्या इस सब को राष्ट्र कहा जा सकता है?

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सामन्तकाल में राज्यों की सीमाएँ बनती बिगड़ती रहती हैं, सांस्कृतिक इकाइयों की सीमाएँ अपेक्षाकृत स्थिर रहती हैं। छोटे-बड़े राज्यों में विभाजित होने से विभिन्न जनपदों के आर्थिक विनिमय और सांस्कृतिक सम्पर्क विच्छिन्न नहीं हो जाते। इसके सिवा सामन्ती व्यवस्था में चक्रवर्तियों के साम्राज्य भी कायम होते हैं और कभी-कभी काफी स्थायित्व वाले होते हैं। व्यापार का विकास सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत ही होता है। व्यापार के लिए यातायात के साधनों का विकास हुआ, विभिन्न प्रदेशों को मिलाने वाले राजमार्गों का निर्माण हुआ। इसके अलावा नदियाँ और समुद्र यातायात के पुराने मार्ग हैं। प्राचीन भारत ने स्थल मार्गों से एशिया और यूरोप के देशों से सम्पर्क कायम किया था और जलमार्गों द्वारा दक्षिण पूर्वी एशिया से। ऐसा न होता तो बौद्ध धर्म का प्रसार इतने बड़े पैमाने पर कैसे होता (यह प्रसार भी जब सैनिक अभियान द्वारा न हुआ हो)? स्वभावत: यातायात के साधनों का विकास स्वयं भारत देश के भीतर और भी ज्यादा हुआ था। अन्य देशों से सम्पर्क बनाये रखने वाले बाह्य साधन अपेक्षाकृत कम विकसित थे।

राज्यों की सीमाओं से आर्थिक सम्बन्धों की परिधि बड़ी थी। इस आर्थिक परिधि से सांस्कृतिक सम्बन्धों की परिधि और भी बड़ी थी। जातक साहित्य, कथासरित्सागर, पंचतंत्र आदि में जो लोक-कथाएँ सुरक्षित हैं, उनके अलावा महाकाव्य और पुराण पढ़कर दूसरों को सुनाने और उनका अर्थ समझाने वाले लोग विभिन्न प्रदेशों को एक सूत्र में बाँधते थे। इसके अतिरिक्त शकों, हूणों तथा अन्य बर्बर जातियों का निरन्तर सामना करते रहने से भारत के विभिन्न जनपदों और महाजनपदों में ऐतिहासिक रूप से एकता की भावना वैसे ही सुदृढ़ हुई जैसे अंग्रेजों से मुक्ति पाने के लिए वह पुरातन राष्ट्रीय एकता आधुनिक काल में पुष्ट हुई।

भारत जैसे देश में राष्ट्रीयता का विकास सुदीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। ऐसा नहीं है कि किसी विशेष सम्वत्, मास या तिथि में, शुभ मुहूर्त देखकर, इस राष्ट्रीयता का जन्म हो गया, फिर वैसे ही किसी विशेष सम्वत्, मास

और तिथि में वह राष्ट्रीयता निर्वाण को प्राप्त हो गई। उस प्रक्रिया के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अनेक कारण हैं, और वह प्रक्रिया अभी समाप्त नहीं हुई है। भारतीय साहित्य का इतिहास लिखना उचित है या अनुचित, इस बारे में शंका हो सकती है, पर भारत का इतिहास लिखना चाहिए या नहीं, इस बारे में किसी को शंका नहीं है। सैकड़ों देशी-विदेशी इतिहासकार भारत का इतिहास लिखने आये हैं, अब भी लिख रहे हैं। इस इतिहास में वे केवल आधुनिक भारत का इतिहास नहीं लिखते जब अंग्रेजों की कृपा से, मान लीजिए, यहाँ राष्ट्रीय एकता कायम हो गई थी। इस इतिहास में वे 'मध्यकालीन' और 'प्राचीन' भारत का इतिहास भी शामिल कर लेते हैं। इतिहासकारों के लिए भारतीय इतिहास एक अटूट इकाई है जो त्रिकाल-सिद्ध है, यानी जिसमें प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल, तीनों काल शामिल हैं। यह बात अवश्य है कि इतिहासकारों ने इस बात की व्याख्या नहीं की कि जिस भारत का वे इतिहास लिख रहे हैं, वह भारत किस तरह की इकाई है।

इतिहासकार जब युग-विशेष के विवेचन में संस्कृति का विवरण प्रस्तुत करते हैं, तब स्थापत्य, शिल्प, संगीत आदि कलाओं के साथ वे साहित्य का भी उल्लेख करते हैं, फिर यह साहित्य चाहे एक भाषा में हो, चाहे अनेक भाषाओं में हो, चाहे किसी प्राचीन भाषा में हो चाहे आधुनिक भाषाओं में। यह बात अवश्य है कि इतिहासकार यह नहीं बताते कि जिस भाषा के साहित्य का विवरण वे दे रहे हैं, उसे व्यवहार करने वाला मानव-समुदाय किस सामाजिक रूप में गठित है, वह गण-समाज है, गण-संघ है, लघु-जाति है, महाजनपद में बसने वाली लघु जातियों का संघ है, आधुनिक जाति है या गणों, लघु जातियों अथवा महाजातियों का कोई विशाल राष्ट्र है। किन्तु यह निर्विवाद है कि भारत के इतिहास में यहाँ की भाषाओं में रचे हुए साहित्य का उल्लेख होता है।

इस प्रसंग को यहीं छोड़कर पूर्व प्रश्न पर विचार करें कि भारत-व्यापी राष्ट्रीय एकता की भावना यहाँ पहले यानी अंग्रेजों के आने से पहले-यानी अंग्रेजों के आने से पहले-भी या नहीं।

महाभारत के भीष्म पर्व में धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं -यह जो भारतवर्ष है, जहाँ का राज्य पाने के लिए दुर्योधन तथा पाण्डवों के मन में बड़ी लालसा है और जिस राज्य की प्राप्ति के लिए युद्धभूमि में दोनों ओर की सेनाएँ

एकत्र हैं, यह भारतवर्ष क्या है, इसका वर्णन मुझे सुनाओ। कौरव और पाण्डव सारे भारत का राज्य पाने के लिए युद्ध कर रहे हों, चाहे न कर रहे हों, संजय ने जिस भारतवर्ष का वर्णन किया है, वह विशाल भारत देश ही है। इस देश में गंगा, सिन्ध, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, वितस्ता, सरयू, गोमती, कावेरी आदि नदियाँ प्रवाहित हैं। इसमें कुरु-पांचाल, शूरसेन, कोसल, कलिंग, विदर्भ, पुण्ड, निषाद, निषध, काश्मीर, गान्धार, सिन्धु-सौवीर्य, द्रविड़, केरल, कर्णाटक, चोल, चुलिक, पुलिन्द, कुलिन्द, कोकण, आन्ध्र आदि अनेक जनपद हैं। इस देश में आर्य और म्लेच्छ दोनों रहते हैं। यवन, चीन, काम्बोज को भी इसी भारत में गिना गया है। यह चीन आधुनिक चीन नहीं है। चीन का अर्थ है नाग भाषाएँ बोलने वाले उत्तराखंड के जनपद। कहा जा सकता है कि यह सारा वर्णन एक ऐसे कवि की कल्पना है जो सामन्तों के विशाल साम्राज्य का स्वप्न देख रहा है। ऐसा सोचना बहुत बड़ा भ्रम होगा। भीष्म-पर्व के नवें अध्याय में जिस व्यक्ति ने भारत का यह वर्णन लिखा है, उसने राजाओं की तुलना कुत्तों से की है। वह इनके पृथ्वीव्यापी प्रभुत्व का स्वप्न कैसे देख सकता है? उसका कहना है कि मनुष्य अपने गुण और शक्ति के अनुसार यदि इस पृथ्वी की सेवा करें, तो वह कामधेनु के समान उन्हें सभी प्रकार के फल दे सकती है (धर्म-अर्थ-काम वाले त्रिवर्ग के महाफल दे सकती है)। किन्तु जैसे कुत्ते माँस के लिए परस्पर लड़ते हैं, वैसे ही राजा वसुन्धरा को भोगने की इच्छा से आपस में लड़ते हैं।

अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम्।
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तकामा वसुन्धराम्।

शायद कौरव और पाण्डव इस तरह के राजाओं से भिन्न हैं? निस्सन्देह कवि के लिए पाण्डव कौरवों से भिन्न हैं, फिर भी उसका कहना है कि परिग्रह के कारण राज्य-प्राप्ति की इच्छा के कारण कौरव और पाण्डव दोनों, साम-दामदंड-भेद द्वारा, सारी पृथ्वी पर अधिकार पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कवि के लिए यह धरती पिता, भ्राता, पुत्र सभी कुछ है, वही उसके लिए स्वर्ग भी है। वह उसकी सेवा कर सकता है, उसे भोगने के लिए युद्ध नहीं कर सकता। इसके सिवा इस कवि के भारत में दो तरह के समाज हैं। एक तरह का समाज वह है जिसमें राजा शासक होता है। दूसरी तरह के समाज वे हैं जिनमें कोई राजा नहीं है और जनता स्वयं अपनी शासन व्यवस्था चलाती है-

न तंत्र राजा राजेन्द्र न दंडो न च दण्डिकः।
स्वधर्मेणैव धर्मजास्ते रक्षन्ति परस्परम्।।

(भीष्म-पर्व, नवाँ अध्याय)

वहाँ न कोई राजा है, न दंड है, न दंड देने वाला है। उस समाज के लोग अपना धर्म जानते हैं और स्वधर्म द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते हैं।

इन वैराज्य गणों से कवि को सहानुभूति है। राजा, राज्य-सत्ता का अर्थ है दण्ड-व्यवस्था, समाज का वर्गों में विभाजन, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर शासन। जिस दण्डहीन समाज की बात कवि यहाँ कह रहा है, वह अभी वर्गहीन है। सामन्ती व्यवस्था में जो कुछ लिखा जाता है, वह सभी अनिवार्यतः सामन्तों और पुरोहितों के वर्गहित में नहीं होता। सामन्ती व्यवस्था, दस्तकारी वाले छोटे उत्पादन और वितरण की व्यवस्था, एक ढाँचा है, जिसके भीतर अनेक वर्ग संस्कृति के निर्माण में भाग लेते हैं। इस तन्त्र के भीतर रहकर जिन्होंने महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्य रचे हैं, वे उत्पीड़क वर्ग के चाटुकार नहीं हैं। राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता सामन्तों को हो सकती है, उससे भी अधिक उसकी आवश्यकता यहाँ की सामान्य जनता को थी। उसका सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास विभिन्न जनपदों के संघर्ष पर नहीं, उनके सहयोग पर निर्भर था। उसका हित राजाओं के युद्ध-अभियानों, लूट-पाट और नर-संहार में नहीं था, उसका हित शान्ति, सहयोग और भाईचारे का जीवन बिताने में था। जिस सामन्त वर्ग के हाथ में राज्यसत्ता थी, वह राजनीतिक रूप से इस देश को कभी एकताबद्ध नहीं कर पाया। जिन कवियों के हाथ में राज्यसत्ता नहीं थी, वे इस देश को सांस्कृतिक रूप से एकताबद्ध करने में सफल हुए। सामन्ती व्यवस्था में संस्कृति के दो भाग हैं। एक कर्मकाण्ड वाला भाग है, जहाँ धर्म संघबद्ध है, जहाँ धर्म के अनुसार आचरण करने का अर्थ है सामन्तों और सम्पत्तिशाली वर्गों की सेवा करना और सेवा न करने पर इस संसार में बार-बार जन्म लेकर पीड़ित होना। रामायण और महाभारत की संस्कृति इस कर्मकाण्ड की विरोधी है। इस सामन्त विरोधी संस्कृति का मूल स्वर है भारत राष्ट्र की एकता। यह संस्कृति का दूसरा भाग है।

जिस कवि ने भारत का वर्णन करते हुए राजाओं की तुलना कुत्तों से की थी वह प्राचीन वैदिक परम्परा का अनुसरण कर रहा था। शतपथ ब्राह्मण में राष्ट्रीय अर्थात् निरंकुश राजा की तुलना मांसाहारी व्यक्ति से की गई है जिसके लिए प्रजा

पुष्ट पशु के समान खाद्य है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में राजा-प्रजा धर्म विषय की चर्चा करते हुए शतपथ ब्राह्मण से जो उद्धरण दिया है, उसकी एक पंक्ति यह है विशमेव राष्ट्र्याद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति। निरंकुश राजा, प्रजा का सब कुछ छीनकर, अपने हाथ में करना चाहता है। इस तरह वह प्रजा का भक्षक बनता है जैसे मांसाहारी व्यक्ति पुष्ट पशु को देखकर उसे मारना चाहता है (स्वामी दयानन्द के अनुसार यथा मांसाहारी पुष्ट पशु- दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति इत्यादि)। इस प्रकार यह सामन्त विरोधी मानवतावादी परम्परा बहुत पुरानी है, उतनी पुरानी जितना पुराना सामन्त वर्ग का अभ्युदय है। इस परम्परा को भूल जाना, ब्रिटिश-पूर्व भारत में पहले तो राष्ट्रीय एकता की भावना को ही अस्वीकार करना, फिर स्वीकार करना तो उसे सामन्तों के वर्गहित से बाँध देना, वास्तव में उन सामन्तों की ही बहुत बड़ी सेवा करना है जिनके स्वार्थ परस्पर टकराते थे और इस कारण जो देश को शताब्दियों तक अनेक राज्यों में विभाजित किये हुए थे। आधुनिक काल में पूँजीपतियों का हित राष्ट्रीय एकता में हो चाहे न हो, राष्ट्रीय एकता की भावना वर्तमान काल में पूँजीवाद की देन हो चाहे न हो, इस बारे में जरा भी सन्देह न होना चाहिए कि यह एकता भारतीय जनता के हित में है। इसलिए उसकी रक्षा करना, उसे सुदृढ़ करना भारतीय जनता का कर्तव्य है, पूँजीपतियों की नीति कुछ भी हो।

महाभारत में कश्मीर से लेकर केरल तक अनेक जनपदों के आर्य, द्रविड़, किरात, निषाद, यवन, म्लेच्छ आदि अनेक समाजों के जिस भारत का उल्लेख है, वह किसी एक कवि की निराली कल्पना नहीं है। अनेक पुराणों में उससे मिलता-जुलता स्वर सुनाई देता है। विष्णु पुराण के द्वितीय अंश के तीसरे अध्याय में भारतवर्ष का वर्णन है। जो देश समुद्र के उत्तर में है और हिमालय के दक्षिण में है, वह भारतवर्ष है, उसकी सन्तति का नाम भारती है। इस देश के पूर्वी भाग में किरात हैं, पश्चिमी भाग में यवन हैं। इसमें शतद्र, चन्द्रभागा, गोदावरी, ताम्रपर्णी आदि नदियाँ बहती हैं। इस देश में कुरु, पांचाल, कोसल, कामरूप, पुण्ड, कलिंग, मगध, सौराष्ट्र आदि जन रहते हैं। ये सब लोग मिलकर रहते हैं और इस देश की नदियों का जल पीते हैं- आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सहिताः सदा। कवि के अनुसार ये सब लोग सहित भाव से निवास करते हैं अर्थात् मिलकर रहते हैं। यही राष्ट्रीय एकता का समर्थ आधार है। अन्य देश भोग-भूमि हैं। भारत पुण्य भूमि है।

इस भूमि में जन्म लेना पूर्वजन्म के पापों का फल नहीं है, पूर्वजन्म में महान पुण्य करने पर ही इस देश में मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। स्वर्ग में देवता यह गीत गाते हैं कि जो मनुष्य इस कर्मभूमि में जन्म लेकर अपना कर्मफल ईश्वर को अर्पित करते हैं, वे देवताओं से भी अधिक भाग्यशाली हैं। देवता कहते हैं। जिन कर्मों के बल पर हमें स्वर्ग मिला है, उनका क्षय होने पर हम कहाँ जन्म लेंगे? वे मनुष्य धन्य हैं जिनका जन्म भारत में हुआ है और जिनकी इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है।

विष्णु पुराण में जो कुछ कहा गया है वह महाभारत की प्रतिध्वनि है। जैसे महाभारत में देश की धरती को स्वर्ग के समान बताया गया है, वैसे ही यहाँ उसे स्वर्ग से श्रेष्ठ कहा गया है। कोई ईश्वर, कोई देवता, कोई धर्म, कोई कर्मकाण्ड इस भारत-भूमि से बढ़कर नहीं है। यह भूमि हिमालय और समुद्र के बीच में है और उस पर विभिन्न जातियों और वर्गों के लोग मिलकर रहते हैं।

भारत-भूमि की पवित्रता का यही भाव तुलसीदास के इस छन्द में है :

भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहि कै।
करषा तजि कै परुषा बरषा हिम मारुत धाम सदा सहि कै।
जो भजे भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै।
न तु और सबै बिष बीज बये हर हाटक कामदुहा नहि कै।

यह वही भाव है कि भारत-भूमि में मनुष्य जन्म बड़ी कठिनाई से मिलता है। इस जन्म का फल भक्ति में है, उस भक्ति में जहाँ भगवान के सामने सब मनुष्य बराबर हैं। ऐसे देश में जन्म लेकर जो ईश्वर की भक्ति न करे, वह मानो सोने के हल में कामधेनु जोतकर विष के बीज बोता है।

भारतवर्ष की एकता और पवित्रता का यही स्वर आधुनिक काल में तमिल कवि सुब्रह्मण्य भारती के प्रसिद्ध गीत में सुनाई देता है :-

भारत समुदायम् वाळ्ग वे! -वाळ्ग वाळ्ग!
भारत समुदायम् वाळ्ग वे! -जय जय जय!

इसी गीत में भारती आगे कहते हैं-तो हम एक विधान बनाएँगे और सदैव उसकी रक्षा करेंगे जिससे कोई भी व्यक्ति भूखा न रहे, और यदि ऐसा हुआ, तो हम इस जगत् का (अर्थात् व्यवस्था का) नाश कर देंगे।

साहित्य के निर्माण में प्रतिभाशाली मनुष्यों की भूमिका निर्णायक है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह सब अच्छा ही अच्छा होता

है, या उनके श्रेष्ठ कृतित्व में दोष नहीं होते। कला का पूर्णत: निर्दोष होना भी एक दोष है। ऐसी कला निर्जीव होती है। इसीलिए प्रतिभाशाली मनुष्यों की अद्वितीय उपलब्धियों के बाद कुछ नया और उल्लेखनीय करने की गुंजाइश बनी रहती है। आजकल व्यक्ति-पूजा की काफी निन्दा की जाती है। किन्तु जो लोग सबसे ज्यादा व्यक्ति-पूजा की निन्दा करते हैं, वे सबसे ज्यादा व्यक्ति-पूजा का प्रचार भी करते हैं। अन्तर इतना है कि ब्रह्मा की जगह उन्होंने विष्णु को बिठा दिया लेकिन पूजा तो पूजा। ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान। यदि कोई भी साहित्यकार आलोचना से परे नहीं है, तो राजनीतिज्ञ यह दावा और भी नहीं कर सकते, इसलिए कि साहित्य के मूल्य, राजनीतिक मूल्यों की अपेक्षा, अधिक स्थायी हैं। अंग्रेज कवि टेनीसन ने लैटिन कवि वर्जिल पर एक बड़ी अच्छी कविता लिखी थी। इसमें उन्होंने कहा है कि रोमन साम्राज्य का वैभव समाप्त हो गया पर वर्जिल के काव्य सागर की ध्वनि-तरंगें हमें आज भी सुनायी देती हैं और हृदय को आनन्द-विह्वल कर देती हैं। कह सकते हैं कि जब ब्रिटिश साम्राज्य का कोई नामलेवा और पानीदेवा न रह जायेगा, तब शेक्सपियर, मिल्टन और शेली विश्व संस्कृति के आकाश में वैसे ही जगमगाते नजर आयेंगे जैसे पहले, और उनका प्रकाश पहले की अपेक्षा करोड़ों नयी आँखें देखेंगी।

साहित्य के विकास में प्रतिभाशाली मनुष्यों की तरह, जनसमुदायों और जातियों की विशेष भूमिका होती है। इसे कौन नहीं जानता कि यूरोप के सांस्कृतिक विकास में जो भूमिका प्राचीन यूनानियों की है, वह अन्य किसी जाति की नहीं है। जनसमुदाय जब एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में प्रवेश करते हैं, तब उनकी अस्मिता नष्ट नहीं हो जाती। प्राचीन यूनान अनेक गणसमाजों में बँटा हुआ था। आधुनिक यूनान एक राष्ट्र है। यह आधुनिक यूनान अपनी प्राचीन संस्कृति से अपनी एकात्मकता स्वीकार करता है या नहीं? 19 वीं सदी में शेली और बायरन ने अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले यूनानियों को ऐसी एकात्मकता पहचनवाने में बड़ा परिश्रम किया। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान इस देश ने इसी तरह अपनी एकात्मकता पहचानी। इतिहास का प्रवाह ही ऐसा है कि वह विच्छिन्न है और अविच्छिन्न भी। मानव समाज बदलता है और अपनी पुरानी अस्मिता कायम रखता है। जो तत्व मानव समुदाय को एक जाति के रूप में संगठित करते हैं, उनमें इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर निर्मित यह अस्मिता का ज्ञान

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बंगाल विभाजित हुआ और है, किन्तु जब तक पूर्वी और पश्चिमी बंगाल के लोगों को अपनी साहित्यिक परम्परा का ज्ञान रहेगा, तब तक बंगाली जाति सांस्कृतिक रूप से अविभाजित रहेगी। विभाजित बंगाल से विभाजित पंजाब की तुलना कीजिए, तो ज्ञात हो जायेगा कि साहित्य की परम्परा का ज्ञान कहाँ ज्यादा है, कहाँ कम है, और इस न्यूनाधिक ज्ञान के सामाजिक परिणाम क्या होते हैं।

एक भाषा बोलने वाली जाति की तरह अनेक भाषाएँ बोलने वाले राष्ट्र की भी अस्मिता होती है। संसार में इस समय अनेक राष्ट्र बहुजातीय हैं, अनेक भाषा भाषी हैं। जिस समय राष्ट्र के सभी तत्त्वों पर मुसीबत आती है, तब उन्हें अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का ज्ञान बहुत अच्छी तरह हो जाता है। जिस समय हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया, उस समय यह राष्ट्रीय अस्मिता जनता के स्वाधीनता संग्राम की समर्थ प्रेरक शक्ति बनी। सोवियत संघ के लोग हिटलर विरोधी संग्राम को उचित ही महान् राष्ट्रीय (अथवा देशभक्तिपूर्ण) संग्राम कहते हैं। इस युद्ध के दौरान खासतौर से रूसी जाति ने बार-बार अपनी साहित्य परम्परा का स्मरण किया। सोवियत समाज जारशाही रूस के समाज से भिन्न है। समाज-व्यवस्था के विचार से इतिहास का प्रवाह विच्छिन्न है, जातीय अस्मिता की दृष्टि से यह प्रवाह अविच्छिन्न है। जारशाही रूस के टॉलस्टॉय सोवियत समाज में पढ़े जानेवाले लोकप्रिय साहित्यकार हैं, और रूसी जाति की अस्मिता को सुदढ़ और पुष्ट करनेवाले महान् साहित्यकार हैं। समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर जातीय अस्मिता खण्डित नहीं होती वरन् और पुष्ट होती है। इसके साथ सोवियत संघ में बहुजातीय राष्ट्रीयता का पुनर्जन्म हुआ है और यह राष्ट्रीयता अब एक सामाजिक शक्ति है जैसी वह 1917 से पहले नहीं थी। जारशाही रूस में बहुत-सी जातियाँ पराधीन बनाकर रखी गयी थीं। उन सब पर रूसी जाति के सामन्त और पूँजीपति शासन करते थे। जैसे और बहुत-से साम्राज्य होते हैं, वैसे ही यह भी एक साम्राज्य था। 1917 की क्रान्ति के बाद रूसी और गैर रूसी जातियों के आपसी सम्बन्धों में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। बहुत-सी जातियाँ सोवियत संघ में शामिल न हुईं, अलग हो गयीं। कुछ विलम्ब से, दूसरे महायुद्ध से कुछ ही पहले, अन्य जातियाँ उसमें शामिल हुईं। सोवियत संघ में आज जितनी जातियाँ शामिल हैं, उन का वैसा मिला-जुला राष्ट्रीय इतिहास नहीं है, जैसा भारत की जातियों का है। राष्ट्र के गठन में इतिहास का अविच्छिन्न प्रवाह बहुत बड़ी निर्धारक शक्ति है। यूरोप के लोग

यूरोपियन संस्कृति की बात करते हैं। पर यूरुप कभी राष्ट्र नहीं बना। और अब तो पूर्वी यूरोप और पश्चिमी यूरोप, दो यूरोपों का अलग उल्लेख आम बात है। संसार का कोई भी देश, बहुजातीय राष्ट्र की हैसियत से, इतिहास को ध्यान में रखें तो, भारत का मुकाबला नहीं कर सकता। यहाँ राष्ट्रीयता एक जाति द्वारा दूसरी जातियों पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम करके स्थापित नहीं हुई। वह मुख्यत: संस्कृति और इतिहास की देन है। इस संस्कृति के निर्माण में इस देश के कवियों का सर्वोच्च स्थान है। इस देश की संस्कृति से रामायण और महाभारत को अलग कर दें, तो भारतीय साहित्य की आन्तरिक एकता टूट जायेगी। किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है। इसलिए किसी भी देश के लिए साहित्य की परम्परा का मूल्यांकन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना इस देश के लिए है।

यदि समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर जारशाही रूस नवीन राष्ट्र के रूप में पुनर्गठित हो सकता है, तो भारत में समाजवादी व्यवस्था कायम होने पर यहाँ की राष्ट्रीय अस्मिता पहले से कितना पुष्ट होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। वास्तव में समाजवाद हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता है। पूँजीवादी व्यवस्था में शक्ति का इतना अपव्यय होता है कि उसका कोई हिसाब नहीं है। देश के साधनों का सबसे अच्छा उपयोग समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। अनेक छोटे-बड़े राष्ट्र, जो भारत से ज्यादा पिछड़े हुए थे, समाजवादी व्यवस्था कायम करने के बाद पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा शक्तिशाली हो गये हैं, और उनकी प्रगति की रफ्तार किसी भी पूँजीवादी देश के अपेक्षा तेज है। भारत की राष्ट्रीय क्षमता का पूर्ण विकास समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है।

और साहित्य की परम्परा का पूर्ण ज्ञान समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। समाजवादी संस्कृति पुरानी संस्कृति से नाता नहीं तोड़ती, वह उसे आत्मसात् करके आगे बढ़ती है। अभी हमारे देश की निरक्षर निर्धन जनता नये और पुराने साहित्य की महान् उपलब्धियों के ज्ञान से वंचित है। जब वह साक्षर होगी, साहित्य पढ़ने का उसे अवकाश होगा, सुविधा होगी, तब व्यास और वाल्मीकि के करोड़ों नये पाठक होंगे। वे अनुवाद में ही नहीं, उन्हें संस्कृत में भी पढ़ेंगे। और तब इस देश में इतने बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान होगा कि सुब्रह्मण्य भारती की कविताएँ मूलभाषा में उत्तर भारत के लोग पढ़ेगे और रवीन्द्रनाथ की रचनाएँ मूल

भाषा में तमिलनाडु के लोग पढ़ेंगे। यहाँ की विभिन्न भाषाओं में लिखा हुआ साहित्य जातीय सीमाएँ लाँघकर सारे देश की सम्पत्ति बनेगा। जिस भाषा के बोलनेवाले अधिकतर निरक्षर हैं और अपने साहित्यकारों का बहुत से बहुत नाम सुनते हैं, वे तो इनकी रचनाएँ पढ़ेंगे ही। और तब अंग्रेजी भाषा प्रभुत्व जमाने की भाषा न होकर वास्तव में ज्ञान-अर्जन की भाषा होगी। और हम केवल अंग्रेजी नहीं, यूरोप की अनेक भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करेंगे, और एशिया की भाषाओं के साहित्य से हमारा परिचय गहरा होगा। तब मानव संस्कृति की विशद धारा में भारतीय साहित्य की गौरवशाली परम्परा का नवीन योगदान होगा।

बहुजातीय राष्ट्र की धारणा मार्क्सवाद के अनुरूप है, रूसी जनता के राष्ट्रीय चरित्र को इस्पात की तरह सुदृढ़ बनाने का आह्वान करके लेनिन ने बोल्शेविक पार्टी को विभाजन से, सोवियत गणतंत्र को अकाल मृत्यु से बचाया था।

कुछ लोग अंग्रेजी शब्द नेशन का अनुवाद राष्ट्र या राष्ट्रीयता करते हैं। वे नेशन संबंधी स्तालिन की व्याख्या का हवाला देकर कहते हैं कि राष्ट्र की केवल एक भाषा होती है, भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं, इसलिए भारत राष्ट्र नहीं है। इस समझ से दो नतीजे निकलते हैं। (1) भारत में कई भाषाएँ बोलने वाले अनेक राष्ट्र हैं, इसलिए इन सब को अलग हो जाना चाहिए, पहले अंग्रेजों ने इन्हें जबर्दस्ती एक राज्य में शामिल कर लिया था, अब वही काम हिंदी भाषियों की दिल्ली सरकार कर रही है। (2) भारत एक राष्ट्र है, पहले उसकी एक भाषा संस्कृत थी, अब हिंदी है। इसलिए हिंदी (या संस्कृत) को छोड़ कर अन्य सब भाषाओं के व्यवहार पर रोक लगानी चाहिए। पहली तरह का नतीजा वामपंथी अतिवादी निकालते हैं, दूसरी तरह का हिंदू राष्ट्रवादी। दोनों का आधार यह मान्यता है कि भारत बहुजातीय राष्ट्र नहीं है।

कुछ लोगों का आग्रह है कि नेशन के लिए 'जाति' शब्द का व्यवहार न करना चाहिए क्योंकि यह 'कास्ट' का पर्याय है। भारत की अनेक भाषाओं में 'कास्ट' और 'नेशन' के लिए एक ही शब्द जाति का चलन है। संदर्भ से उसका अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती। मान लीजिए, आप कहते हैं, भारत में अनेक राष्ट्र हैं। अनेक राष्ट्रों वाले इस भारत को आप कोई सामाजिक इकाई मानते हैं या नहीं- मूल प्रश्न यह है। अंग्रेजी में पेट्रिअट, पेट्रिऔटिज्म (देशभक्त, देशभक्ति)

जैसे शब्द हैं, फ्रेंच की तरह 'पात्री' (स्वदेशी) जैसा शब्द नहीं है। 'पात्री' राष्ट्र के बहुत निकट है। पात्री की तरह 'राष्ट्र' भी उस भूमि का सूचक है जिस पर उसके सदस्य निवास करते हैं।

स्तालिन ने नेशन की जो व्याख्या की है. वह एक स्थायी मानव समाज की व्याख्या है। यह मानव समाज किसी भूमिखंड पर ही रहता है। पर व्याख्या का लक्ष्य मानव समाज है, भूमिखंड नहीं। राष्ट्र से भूमिखंड का बोध भी होता है, इसलिए स्तालिन की व्याख्या में नेशन के लिए राष्ट्र का व्यवहार अनुचित है। भारत में अनेक राष्ट्र बसते हैं, इस वाक्य का अर्थ होगा भारत देश में अनेक देश निवास करते हैं। स्तालिन जानते थे कि भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। फिर भी 1925 में पूर्वीजनों के विश्वविद्यालय भारत जैसे देशों के राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग (The National Bourgeoisie) का उल्लेख किया है। यही नहीं, उसी भाषण में उन्होंने भारत जैसे देशों के राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग (national proletariat) का उल्लेख भी किया है। बहुजातीय पूँजीपति वर्ग, उसके समानांतर बहुजातीय सर्वहारा वर्ग दोनों ही एक राष्ट्र के अंतर्गत हैं।

मुख्य बात यह है कि नेशन के परिभाषाकार स्तालिन ने भारत का एक राष्ट्र होना स्वीकार किया था। इसी तरह लेनिन ने स्विट्जरलैंड का एक नेशन (अर्थात राष्ट्र) होना स्वीकार किया था। वहाँ एक से अधिक भाषाएँ बोलने वाले रहते हैं, यह वह अच्छी तरह जानते थे। 1916 में उन्होंने लिखा था, 'हम से कहा जाता है, समाजवादी क्रांति कल्पना लोक की बात है। ईश्वर को धन्यवाद है कि स्विस लोगों की कोई अलग' या 'स्वतंत्र' भाषा नहीं है वरन वे युद्धरत पड़ोसी देशों की तीन विश्व भाषाएँ बोलते हैं। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि इन देशों की गतिविधि से उनका नजदीकी संपर्क है। जर्मन, फ्रेंच, इटालियन- ये तीन विश्व भाषाएँ स्विट्जरलैंड में बोली जाती हैं। इस कारण स्विस लोग जर्मनी, फ्रांस और इटली की गतिविधि से अच्छी तरह परिचित हैं।' जर्मनी में युद्ध से मुनाफा कमाने वाले कुल तीस हजार हैं। ये छः करोड़ साठ लाख जर्मनों पर शासन करते हैं। खुद को और ज्यादा अमीर बनाने के लिए वे लाखों को युद्ध के बूचड़खाने में कटने मरने को भेज देते हैं।'' इन तथ्यों को, इस अनुभव को देखते हुए क्या यह ''कल्पनालोक की बात है कि एक छोटा राष्ट्र (the small nation) जहाँ बादशाही नहीं है, जमींदार नहीं हैं, जहाँ बहुत ऊँचे स्तर का पूँजीवाद है और जो शायद अन्य

किसी पूँजीवादी देश की अपेक्षा संघों में ज्यादा संगठित है, ठीक वही चीज करके स्वयं को युद्ध के खतरे और भूख से बचाने का प्रयत्न करेगा, जिसकी परख व्यवहार की कसौटी पर जर्मनी में पहले ही हो चुकी है? बेशक, फर्क यह है कि जर्मनी में लाखों आदमी मार जा रहे हैं, लँगड़े-लूले बन रहे हैं जिससे कि थोड़े से आदमी और ज्यादा अमीर बनें, बगदाद पहुँचने का रास्ता साफ हो जाए, बाल्कन प्रदेश जीत लें, जबकि स्विटजरलैंड में अधिक से अधिक तीस हजार पूँजीपतियों के अधिग्रहण का सवाल है।

संस्कृत साहित्य का जातीय आधार : राष्ट्र सम्बन्धी विवेचन में गणों, लघु जातियों और महाजातियों (अथवा केवल जातियों) की बात कई बार कही गई है। संस्कृत साहित्य किस गण, लघु जाति अथवा जाति का साहित्य है? यदि किसी विशेष गण या जाति का साहित्य नहीं है तो किस तरह के संघों का साहित्य है?

कोई भी भाषा उसे बोलने वाले मानव-समुदाय के बिना अस्तित्व में नहीं आती। कोई भी मानव- समुदाय अपने विशेष सामाजिक गठन के रूप के बिना अस्तित्व में नहीं होता। वैदिक संस्कृत आर्य नाम के किसी ऐसे विराट मानव समुदाय की भाषा नहीं थी जो गणों या लघु जातियों में संगठित न रहा हो। आर्य शब्द उन तमाम गण-समाजों के लिए प्रयुक्त होता है जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती भाषाएँ बोलते थे। ये भाषाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं किन्तु वे एक रूप नहीं थीं। समस्त गण-समाज एक ही आर्य भाषा बोलते हों, ऐसा नहीं था। यूनान में विभिन्न गण-समाजों की प्राचीन भाषाओं के नमूने सुरक्षित हैं। इसलिए कोई यह नहीं कहता कि इन सभी गण-समाजों में एक ही भाषा बोली जाती थी। भाषाविज्ञानी यह अवश्य मानते हैं कि इन सभी गण-भाषाओं का जन्म एक आदि ग्रीक भाषा से हुआ है। यदि यह स्थापना मान भी ली जाये तो यह भी मानना होगा कि उस आदि ग्रीक भाषा के व्यवहार काल में विभिन्न गण-समाजों का अस्तित्व न था। उस भाषा को बोलने वाला एक ही गण-समाज था।

प्राचीन यूनान की तरह प्राचीन इटली में भी विभिन्न गण-समाजों की अपनी-अपनी भाषाएँ थीं और उनके नमूने सुलभ हैं। वैदिक काल में यहाँ भी अनेक भाषाएँ बोली जाती थीं। जो भाषाएँ भिन्न परिवारों की थीं, उनके अलावा, आर्य भाषा-परिवार में ही, विभिन्न गणों की विभिन्न भाषाएँ विद्यमान थी।

भारत की जिन पूर्वी भाषाओं का सम्बन्ध मागधी प्राकृत से जोड़ा जाता है, उनकी सामान्य विशेषता है ह्स्व आकार का अभाव। उसके स्थान पर वे ह्स्व ओकार अथवा औकार का प्रयोग करती हैं। भाषाविज्ञानी इस बात की व्याख्या नहीं कर पाते कि एक ही भाषा से उत्पन्न होने वाली इतनी भाषाओं में इतने बड़े प्रदेश में, मूल भाषा के अकार का लोप कैसे हो गया। बहुत हुआ तो कह दिया कि यह मंगोल प्रभाव है या कोई अन्य अनार्य प्रभाव है। इस बात की छानबीन करना वे आवश्यक नहीं समझते कि इस तरह का भेद इंडो-यूरोपियन परिवार की भाषाओं में भारत के बाहर भी है यथा दक्खिनी रूसी ह्स्व ओकारवादी है और उत्तरी रूसी अकारवादी है। इसी तरह बंगला में लिंगभेद का अभाव है और मराठी में स्त्री लिंग, पुल्लिंग के साथ नपुंसक लिंग विद्यमान है। यह भेद भाषाविज्ञानियों को यह सोचने पर बाध्य नहीं करता कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-परिवार के अन्तर्गत संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी बोली जाती होंगी। किन्तु डॉक्टर सुनीति कुमार चाटुर्ज्या मानते हैं कि वैदिक भाषा में अनेक बोलियों के मिश्रण के चिह्न दिखाई देते हैं। सोचने की बात है कि जब अनेक बोलियाँ न होंगी, तब उनके मिश्रण के चिह्न कहाँ से प्रकट हो जायेंगे। यहाँ आशय आर्य परिवार की बोलियों से है, द्रविड़ या कोल परिवार की बोलियों से नहीं।

संस्कृत, अपने प्राचीन वैदिक रूप में, भरत गण की भाषा है। महाभारत युद्ध भरत गण का आपसी युद्ध है। भरत गण से समूचे देश को भारत नाम प्राप्त हुआ। वैदिक काल में ही भरत गण की शक्ति के कारण उनकी भाषा विभिन्न गण-समाजों के बीच व्यवहार में आने लगी थी। भिन्न भाषाएँ बोलने वाले ये समाज परस्पर विनिमय और सम्पर्क के लिए भरत गण की भाषा काम में लाते थे। यही कारण है कि वैदिक भाषा में अनेक आर्य बोलियों के मिश्रण के चिन्ह दिखाई देते हैं। इसी भाषा को पाणिनि ने अपने व्याकरण द्वारा अनुशासित किया था, उसे मानक रूप दिया था, उसे संस्कृत बनाया था। यह संस्कृत गढ़ी हुई भाषा नहीं थी, वैसे ही जैसे परिनिष्ठित अंग्रेजी गढ़ी हुई भाषा नहीं है। उसका एक बोलचाल का आधार है यद्यपि मानक रूप में सर्वत्र उसका एक सा व्यवहार नहीं होता। यूनान में आगे चल कर व्यापक रूप में मानक भाषा का व्यवहार होने लगा, प्राचीन बोलियों का अस्तित्व कुछ शिलालेखों और पुराने काव्यों में ही रह गया। इसी तरह इटली में लैटिन के प्रसार के साथ अन्य प्राचीन गण-भाषाओं का लोप हो गया अथवा

अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों के लिए उनका व्यवहार बन्द हो गया। इसी प्रकार संस्कृत का व्यवहार विभिन्न जनपदों में होने लगा और उसका व्यवहार-क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते दक्षिण भारत को समेटकर भारत के बाहर भी जा पहुँचा। इसका यह अर्थ नहीं कि आर्य परिवार की अन्य भाषाएँ पूर्णत: लुप्त हो गयीं।

संस्कृत मूलत: भरत गण की भाषा थी, इसलिए यह स्वाभाविक था कि उसके अध्ययन और प्रसार के मुख्य केन्द्र उत्तर भारत में हों। वैदिक काल के बाद ये सारे केन्द्र उन जनपदों में रहे हैं जो अब हिन्दी भाषी जाति के प्रदेश में शामिल हैं। संस्कृत साहित्य अधिकांशत: हिन्दी भाषी जाति के पूर्वजों का रचा हुआ है। यह बात बहुत लोगों को अच्छी न लगेगी। इनमें दो तरह के लोग होंगे। एक तरह के वे जो संस्कृत भाषा को सारे देश की भाषा मानते हैं अत: उनके लिए संस्कृत साहित्य सारे देश का साहित्य है, और हिन्दी भाषी या किसी भी जाति की बात करना संस्कृत-साहित्य की एकता को खण्डित करना है। दूसरी तरह के लोग वे होंगे जो हिन्दी भाषी जाति का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करते, जो यह कहेंगे कि अधिकांश संस्कृत-साहित्य को हिन्दी जाति के पूर्वजों से जोड़कर ये हिन्दी वाले औरों से बड़े बनना चाहते हैं, दूसरे प्रदेशों ने संस्कृत-साहित्य रचने में जो योगदान किया है, उसे ये नकारते हैं।

इस बात पर विचार कीजिए कि होमर के काव्य आधुनिक ग्रीक भाषा में नहीं है। प्राचीनकाल में एथेन्स के नाटककारों, गद्य-लेखकों आदि ने जिस भाषा का व्यवहार किया, उससे होमर की भाषा भिन्न थी। वह आधुनिक ग्रीक से भी भिन्न है। फिर भी ग्रीक साहित्य के इतिहास में सबसे पहले होमर के काव्यों की ही चर्चा होती है और वे ग्रीक संस्कृति का अभिन्न अंग माने जाते हैं। उनके साथ नाटककारों, गद्य-लेखकों की कृतियों का विवेचन होता है। ये कृतियाँ भी ग्रीक संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। इसका कारण यह है कि जिन समाजों में इन काव्यों, नाटकों आदि की रचना हुई थी, वे सब आधुनिक ग्रीक जाति में अन्तर्भुक्त हैं।

जिस समय एथेन्स नगर अपने चरम उत्कर्ष पर था, उस समय अनेक प्रदेशों के यूनानी वहाँ आकर बस गये और उनमें से कुछ लोग विख्यात साहित्यकार हुए। उन्होंने एथेन्स राज्य की भाषा स्वीकार की और उनकी रचनाएँ उस नगर के अन्य लेखकों के साथ ही विवेचित होती हैं। इसी प्रकार यदि कान्यकुब्ज क्षेत्र में अन्य प्रदेशों के कवि आकर बस जाते हैं, राजाश्रय पाते हैं, संस्कृत में काव्य-रचना

करते हैं तो उनका साहित्य कान्यकुब्ज क्षेत्र के निवासी कवियों की रचनाओं के साथ विवेचित होगा। यदि यह कान्यकुब्ज क्षेत्र हिन्दी भाषी प्रदेश में है, तो भिन्न प्रदेशीय उन कवियों की रचनाएँ हिन्दी जाति के साहित्यिक इतिहास में गिनी जाएँगी।

लैटिन साहित्य मूलत: आधुनिक इटालियन जाति के पूर्वजों का साहित्य है। परम धार्मिक कवि दाँते ने गैर-ईसाई कवि वर्जिल से गुरु-शिष्य वाला नाता इसी जातीय एकता की भावना से जोड़ा था। वर्जिल का काव्य लैटिन में है, दाँते का इटालियन में। लैटिन में इटली के बाहर अनेक साहित्यकारों ने रचनाएँ कीं। वे इटली में आकर नहीं बस गये। उनके साहित्य को इटालियन जाति के साहित्य का अंग न माना जायेगा यद्यपि भाषा लैटिन है। यदि यूरोप एक राष्ट्र होता तो इटालियन और गैर-इटालियन लेखकों की लैटिन कृतियाँ एक ही राष्ट्रीय साहित्य का अंग होतीं।

यूरोप के विपरीत भारत का विकास एक राष्ट्र के रूप में हुआ। संस्कृत का एक केंद्र सुदूर उत्तर में गंधार में था जहाँ के पाणिनि ने अपना महान् व्याकरण रचा। दूसरा केन्द्र सुदूर दक्षिण केरल में था जहाँ के शंकराचार्य ने अखिल भारतीय स्तर पर वेदान्त दर्शन का प्रचार किया। केवल इन दो नामों से संस्कृत भाषा में उपलब्ध संस्कृति का अखिल भारतीय स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसके साथ ही वाल्मीकि और व्यास उन जनपदों के कवि थे जो अब हिन्दी प्रदेश में हैं। इनके बाद कालिदास और भवभूति जैसे कवि इन्हीं जनपदों में स्थित सांस्कृतिक केन्द्रों से सम्बद्ध थे। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, षड्दर्शन, कालिदास और भवभूति के नाटक और काव्य हिन्दी जाति के सांस्कृतिक इतिहास का अभिन्न अंग हैं। इसी प्रकार पाली और प्राकृतों में रचा हुआ अधिकांश साहित्य इसी प्रदेश के विद्वानों का कृतित्व है। अधिक सीमित मात्रा में रचा जाने वाला अपभ्रंश साहित्य, पूर्णत: नहीं, हिन्दी प्रदेश के कवियों की देन है। इन सबको भारतीय साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है और यह उचित है।

जातीयता और राष्ट्रीयता में अन्तविरोध नहीं है। जैसे राष्ट्रीयता के बिना अन्तर्राष्ट्रीयता का अस्तित्व सम्भव नहीं है, वैसे ही जातीयता के बिना राष्ट्रीयता का अस्तित्व सम्भव नहीं है, फिर राष्ट्र चाहे एकजातीय हो, चाहे बहुजातीय हो। संस्कृत साहित्य में किस जाति के पूर्वजों का कितना योगदान है, इस प्रश्न पर सबसे पहले

अहिन्दी प्रदेशों के विद्वानों ने विचार किया है। बंगला साहित्य का अंग्रेजी में लिखा हुआ एक इतिहास साहित्य अकादमी द्वारा 1960 में प्रकाशित हुआ था। इसके लेखक डॉ. सुकुमार सेन ने बंगाल, संस्कृत काव्य और जयदेव के प्रसंग में लिखा है- ''आठवीं शताब्दी में पालवंश की स्थापना के बाद ही बंगाल एक सुनिश्चित प्रादेशिक इकाई बना (जिसमें असम, उड़ीसा के पड़ोसी क्षेत्र, और बिहार का अधिकांश पूर्वी, दक्षिणी और उत्तरी भाग शामिल थे)। तुर्क आक्रमण से थोड़ा पहले, बंगाल पर शासन करने वाले अन्तिम हिन्दू सम्राट, लक्ष्मण सेन के शासनकाल में देश ने (अर्थात् बंगाल ने) नव क्लासिकी साहित्य में अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। मेरा आशय जयदेव कृत गीतगोविन्द से है। यही वह कविता है, अथवा उसमें समाविष्ट वे चौबीस गीत हैं, जो (कुल बिखरे हुए पद्यों को छोड़कर) बंगाली ही नहीं, अन्य नव इंडोएरियन लिरिक कविता के मुख्य स्रोत होने का दावा कर सकते हैं। जयदेव लक्ष्मण सेन के समकालीन थे, सम्भवत: उनके दरबार के एक सदस्य थे। उनका जन्मस्थान पश्चिमी बंगाल में केन्दुबिल्व था जहाँ उनके सम्मान में वैष्णव भक्त अब तक वार्षिक उत्सव करते हैं।'' (पृष्ठ 16-17)।

जयदेव को बँगला जाति के सांस्कृतिक इतिहास के साथ जोड़ना सही है। गीतगोविन्द के द्वारा बंगाल ने संस्कृत साहित्य में जो योगदान किया, उसका उल्लेख उचित है। उड़ीसा, असम, बिहार आदि को पूर्णत: या अधिकांशत:, एक निश्चित प्रादेशिक इकाई बंगाल में सम्मिलित कर लेना उचित नहीं है।

अंग्रेजों के आने से पहले भारत में व्यापार की जो स्थिति थी, उस पर बहुत से विदेशी यात्रियों ने लिखा है। अकबर और शाहजहाँ के समय में आगरा भारत का सबसे बड़ा व्यापार केन्द्र था, यह तथ्य निर्विवाद है। व्यापार के लिए बिक्री का माल कारीगर तैयार करते थे। उत्पादन के उपकरण पुराने थे। पर जो माल तैयार किया जाता था, वह बिक्री के लिए होता था, उत्पादक द्वारा अपने उपभोग के लिए नहीं। दस्तकारी वाले उद्योग धन्धों ने इतनी प्रगति कर ली थी कि घरेलू बाजार के अलावा यूरोप को माल भेजा जाता था।

आवश्यक माल तैयार करने के लिए विभिन्न जनपदों के कारीगर बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में एकत्र होते हैं। सोलहवीं सदी का आगरा विनिमय केन्द्र ही नहीं, बहुत बड़ा उत्पादन केन्द्र भी था। यही कारण है कि दिल्ली और हरियाणा की

बोली आगरे में ब्रजभाषा से प्रभावित होकर अपना आधुनिक रूप प्राप्त कर सकी। जातीय निर्माण की इस प्रक्रिया में विभिन्न जनपद एक-दूसरे के नजदीक आते हैं। ब्रजभाषा, साहित्य की भाषा के रूप में, बड़े पैमाने पर प्रयुक्त होती है। यह साहित्य ब्रज के बाहर अन्य जनपदों में पढ़ा ही नहीं जाता, अन्य जनपदों के कवि ब्रजभाषा में साहित्य रचते भी हैं।

जनपदों के अलगाव के दूर होने का एक परिणाम यह है कि तुलसीदास अवधी और ब्रजभाषा दोनों में काव्य लिखते हैं। अवधी में लिखा हुआ उनका रामचरितमानस अवध से बाहर हिन्दी प्रदेश के जनपदों में सर्वत्र पढ़ा जाता है और नगरों के अलावा ग्रामीण जनता में भी अत्यन्त लोकप्रिय है।

भारतीय अर्थतन्त्र और संस्कृति के विकास में पुराने मध्य देश की जो भूमिका रह चुकी थी, उसी के अनुरूप सोलहवीं सदी के आगे-पीछे ब्रजभाषा की अखिल भारतीय भूमिका दिखाई देती है। इस भाषा में साहित्य रचने वाले वर्तमान हिन्दी प्रदेश से बाहर बहुत से लोग थे। उसमें रचे हुए साहित्य का प्रभाव भारत की अनेक भाषाओं और उनके साहित्य पर पड़ा। ब्रजभाषा एक ओर हिन्दी जाति के विकास में अपनी भूमिका पूरी कर रही है, दूसरी ओर वह राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय साहित्य की प्रगति में भी सहायक हो रही है।

इसके साथ ही व्यापार के प्रसार के कारण खड़ी बोली हिन्दी विभिन्न नगरों में लोक व्यवहार की भाषा बनती जा रही है। यह खड़ी बोली मूलतः हरियाणा की बाँगरू बोली है। ब्रजभाषा के प्रभाव से आगरे में उसने अपना आधुनिक रूप पाया। बाँगरू की अनेक विशेषताएँ जैसे णकार-बहुलता समाप्त हो गई और ब्रजभाषा की अनेक विशेषताएँ, जैसे लीजियो, दीजियो के प्रयोग, उसमें आ गयीं। इस भाषा को पहले हिन्दी या हिन्दुई कहा जाता था। इसी का नाम रेखता भी था। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के समय से फारसी गर्भित रूप के लिए उर्दू शब्द का चलन हुआ और संस्कृत से शब्द लेने वाले रूप के लिए खड़ी बोली का व्यवहार हुआ। भारत में गिलक्रिस्ट के आगमन से पहले इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि उर्दू शब्द का व्यवहार भाषा के लिए किया गया हो, न खड़ी बोली जैसा नाम किसी भाषा को दिया गया था। हरियाणा की बोली बाँगरू थी, उसे कोई खड़ी बोली कहता हो, इसका प्रमाण नहीं है। खड़ी बोली और उर्दू के रूपों में विभाजित होने से पहले दिल्ली और आगरे की भाषा का नाम हिन्दी था। इसीलिए

आगरे के मीर जो दिल्ली में भी रहे थे, किसी के शेर में सुरूरेकल्ब सुनकर कहने लगे थे :

क्या जाने लोग कहते हैं किसको सुरूरेकल्ब।
आया नहीं है लफ्ज ये हिन्दी जबां के बीच।

यह हिन्दी आधुनिक हिन्दी प्रदेश के जनपदों में रहने वालों की जातीय भाषा बनी। दकनी के रूप में यही 15वीं सदी में साहित्य का माध्यम बन गई थी। उत्तर में फारसी के राजभाषा होने के कारण यहाँ वह साहित्य की भाषा विलम्ब से बनी। फिर भी सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में ऐसा साहित्य काफी है जो इस हिन्दी में लिखा गया था। पुरानी पुस्तकों की खोज रिपोर्टों से ज्ञात होता है कि हिन्दी के इस प्रसार का एक प्रमुख केन्द्र आगरा था। जिस बेताल पचीसी को लल्लूजी लाल ने ब्रजभाषा से उल्था करने की बात प्रचारित की थी, वह ब्रजभाषा में लिखी ही न गई थी। ब्रजभाषा में लिखी हुई मूल प्रति न तो किसी ने देखी है, न उसकी एक भी पंक्ति कहीं उद्धृत की गई है। सूरति मिश्र ने बैताल पचीसी खड़ी बोली हिन्दी में लिखी थी। उसकी प्रतिलिपि सन् 1766 में मुनुवा पण्डित ने की थी। इसका हवाला नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित खोज में उपलब्ध हिन्दी ग्रन्थों के त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण में है।

फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से पहले जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का यथेष्ट प्रसार हो चुका था। इस प्रसार का एक प्रमाण ब्रजभाषा की तरह अन्य प्रदेशों में इस हिन्दी का व्यवहार है जैसे नामदेव की रचनाओं में। अंग्रेजों ने यहाँ आकर हिन्दुओं की भाषा हिन्दी हो, मुसलमानों की भाषा उर्दू हो, इसके लिए बड़ा प्रयत्न किया। सामान्य जनता की भाषा एक ही थी जिसे हम हिन्दी कहते हैं। हिन्दी प्रदेश में अंग्रेजों ने भाषागत विभाजन का जो भगीरथ प्रयत्न किया, उसका कारण यह ज्ञान था कि यदि हिन्दी प्रदेश में वे अपनी विभाजक नीति लागू कर सकेंगे तो राष्ट्रीय पैमाने पर भी उसे लागू करने में वे सफल होंगे। बंगाल में उनका राज पहले कायम हुआ, वहाँ आधा बंगाल मुसलमान था, यहाँ और इस कल्पना का गहरा सम्बन्ध भारतीय भाषा-परिवारों के परस्पर सम्पर्क से है, उस सम्पर्क के रूप से है, अन्ततोगत्वा भारत की राष्ट्रीयता से है-इसलिए उस पर विचार करना आवश्यक है। आर्य परिवार से भिन्न जो तीन भाषा परिवार यहाँ हैं, उनकी यह सामान्य विशेषता है कि उन सभी में सघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का अभाव है।

आर्यों ने जब भारत पर आक्रमण करके यहाँ प्रवेश किया होगा, तब इन तीन परिवारों की भाषाएँ बोलने वालों से उनका सम्पर्क हुआ होगा। सामान्य धारणा यह है कि उत्तर भारत में द्रविड़ भाषाएँ बोलने वाले लोग रहते थे। आर्यों ने उन्हें पराजित किया, उनकी भूमि पर अधिकार किया और उन्हें अपना दास बनाया। इस कारण मूल भारत-ईरानी शाखा में अनेक परिवर्तन हुए। द्रविड़ भाषाओं के व्याकरण ने इस मूल भाषा के व्याकरण को प्रभावित किया, द्रविड़ भाषाओं के बहुत से शब्द भारतीय आर्य भाषा में आ गये। इस भाषा का ध्वनि तंत्र भी काफी प्रभावित हुआ। ट-वर्ग वाली मूर्धन्य ध्वनियाँ आर्य भाषा में नहीं थीं। द्रविड़ प्रभाव से उनका व्यवहार संस्कृत में होने लगा। यह सब हुआ किन्तु द्रविड़ प्रभाव से जो बात अछूती रही, वह थी सघोष महाप्राण ध्वनियों- घ् ध् भ् के व्यवहार की बात। इन ध्वनियों के लिए द्रविड़ भाषाई परिवेश से अधिक विरोधी परिवेश की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसे परिवेश में जहाँ अधिकांश जनता अल्पप्राण स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण की आदी हो, वहाँ ये महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ सुरक्षित रहें, और यूरोप में जहाँ ऐसे किसी परिवेश का पता नहीं है, वे लुप्त हो जायें, यह निस्सन्देह आश्चर्य की बात है।

यदि आर्यों ने द्रविड़ों के अलावा कोलों को पराजित किया, उन्हें अपना दास बनाया या नाग जनों के साथ वैसा ही व्यवहार किया, तो यह आश्चर्य और भी बढ़ जाता है। तीन-तीन परिवारों के विरोधी भाषाई परिवेश में, कम से कम वैदिक काल से लेकर अब तक, आर्य भाषा परिवार में सघोष महाप्राण ध्वनियों का व्यवहार निरन्तर होता आया है। लैटिन और ग्रीक काफी प्राचीन भाषाएँ हैं। इनमें ये ध्वनियाँ नहीं हैं। इनके अलावा वर्तमान तुर्की देश में पहले हित्ती भाषा का व्यवहार होता था। इतिहासकार और भाषाविज्ञानी इसे वैदिक भाषा से भी प्राचीन बतलाते हैं। उसमें ये ध्वनियाँ नहीं हैं। भारत के उत्तर में एक तुखारी नाम की भाषा का व्यवहार होता था। इसके दस्तावेज बहुत पुराने नहीं हैं किन्तु भाषाविज्ञानियों का कहना है कि यह भाषा वैसे ही प्राचीन है जैसे हित्ती। इसमें भी इन ध्वनियों का अभाव है। प्राचीन ईरानी भाषा भारतीय भाषा के साथ पहले एक ही शाखा के अन्तर्गत थी। उसमें भी ये ध्वनियाँ नहीं हैं। कुछ लोग प्राचीन ईरानी भाषा में आदि आर्य भाषा की ऐसी विशेषताएँ देखते हैं जो वैदिक भाषा में लुप्त हो गई हैं। और सब प्राचीन विशेषताएँ ईरान की पुरानी भाषा में बनी रहीं, केवल सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नष्ट हो गई, इस पर कौन विश्वास करेगा?

इस सारी स्थिति को देखने से हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं। वह यह है कि घ् ध् भ् ये सघोष महाप्राण ध्वनियाँ भारतीय आर्य परिवार की अपनी ध्वनियाँ हैं। हजारों साल तक विरोधी भाषाई परिवेश में उनका नाश न हुआ, इसलिए कि उनके बोलने वालों की एक अटूट परम्परा बनी रही। उधर हजारों साल तक साथ रहने पर भी द्रविड़-नाग-कोल-परिवारों की भाषाओं में इन ध्वनियों का चलन न हुआ। इसका कारण यह है कि किसी भी भाषा-समुदाय के शब्द-भंडार में परिवर्तन आसानी से होता है, वाक्य तन्त्र और व्याकरण के अन्य स्तरों पर परिवर्तन कुछ और कठिनाई से होता है किन्तु ध्वनि तन्त्र में परिवर्तन सबसे ज्यादा कठिन होता है। किसी भी भाषा-परिवार के सबसे स्थायी तत्त्व उस के ध्वनि तन्त्र में देखने चाहिये। भारत के चार भाषा-परिवारों में वाक्य-रचना की बहुत बड़ी समानता हैं, शब्द-भंडार में सर्वनामों तक की समानता है किन्तु ध्वनि तन्त्र में मौलिक भेद है।

दूसरा निष्कर्ष बहुत साफ है। यूरोप की भाषाओं में कभी ये सघोष महाप्राण ध्वनियाँ थीं ही नहीं। जब थीं नहीं तब उनके लुप्त होने का प्रश्न नहीं उठता।

तीसरा निष्कर्ष यह निकला कि भारत पर चाहे जितने आक्रमण हुए हों और बाहर से चाहे जितने जन-समुदाय भारत में आकर बस गये हों, इनमें ऐसा कोई समुदाय नहीं था जो सघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का व्यवहार करने वाला रहा हो। दूसरे शब्दों में आर्यों द्वारा भारत-विजय की कहानी विशुद्ध मनगढ़न्त है। अत: जिस आर्य-द्रविड़ संघर्ष की कल्पना के आधार पर भारतीय राष्ट्रीयता का खंडन किया जाता है, वह स्वयं निराधार है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष यह निकला कि राष्ट्र के अस्तित्व के लिए एक ही भाषा का व्यवहार आवश्यक नहीं है। संसार के अधिकांश राष्ट्र बहुजातीय हैं, उनमें अनेक भाषाओं का व्यवहार होता है। पूँजीवाद के अभ्युदयकाल में एक जाति के पूँजीपतियों द्वारा, दूसरी जातियों के दमन के कारण यह आभास होने लगा था कि एकजातीय और एक भाषा वाले राष्ट्र का निर्माण पूँजीवादी विकास का सामान्य नियम है। किन्तु फ्रान्सीसी राज्यक्रांति के समय फ्रॉन्स में, साम्राज्यवाद के विघटनकाल में ब्रिटेन में, दूसरे महायुद्ध के बाद जर्मनी में स्पष्ट हो गया कि वे सब एकजातीय राष्ट्र नहीं थे। स्विट्जरलैंड, कनाडा, संयुक्तराज्य अमरीका, सोवियत संघ, चीन आदि देश भारत की तरह बहुजातीय राष्ट्र अथवा राज्य हैं।

राज्य और राष्ट्र में भेद करना इसलिए आवश्यक है कि जहाँ जोर-जबर्दस्ती से किसी एक जाति के सामन्तों या पूँजीपतियों अथवा दोनों ने अन्य जातियों को बढ़ी हुई और पिछड़ी हुई, दोनों प्रकार की जातियों में वर्ग-उत्पीड़न कम होगा, समाप्त होगा, उतना ही राष्ट्रीय एकता पुष्ट होगी। इस समय भारत राष्ट्र का स्वरूप यह है कि समाजवादी व्यवस्था की ओर बढ़ने के लिए जनता का संघर्ष राष्ट्रीय एकता की सुरक्षा के लिए संघर्ष से मिलकर एक हो गया है। भारत राष्ट्र समाजवादी भारत होकर ही प्रगति कर सकता है।

इस भारत में किसी भी काल, किसी भी भाषा में जो भी साहित्य रचा गया है, उसका विवेचन भारतीय साहित्य के अंतर्गत होना चाहिए। किसी भी भाषा के साहित्य का विवेचन अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही करना उचित है। यह इसलिए नहीं कि हमें भारत पर कोई अहसान करना है वरन् इसलिए कि इस परिप्रेक्ष्य के बिना हम किसी एक भाषा के साहित्य का विवेचन कर ही नहीं सकते। जैसे आर्य या द्रविड़ भाषाओं का विकास दोनों परिवारों को अलग रखने से समझ में नहीं आ सकता, वैसे ही किसी एक भाषा का साहित्य दूसरी भाषाओं के साहित्य को जाने बिना समझ में नहीं आ सकता अर्थात् वैज्ञानिक दृष्टि से उसका इतिहास नहीं लिखा जा सकता। जो आर्य परिवार की भाषाएँ हैं, उनमें रचा हुआ साहित्य तो सम्बद्ध इकाई है ही, जो द्रविड़ भाषाएँ हैं, उनमें रचा हुआ साहित्य भी आर्य भाषाओं में निर्मित साहित्य से सुदृढ़ रूप में सम्बद्ध है।

संस्कृत साहित्य का सामाजिक आधार संकुचित हो सकता है किन्तु यह समस्या उन लोगों के लिए है जो समझते हैं कि जो कुछ संस्कृत में लिखा गया है, वही भारतीय साहित्य है, वही एक मात्र भारतीय संस्कृति है। जो लेखक देश की सभी भाषाओं के साहित्य को भारतीय साहित्य मानते हैं, उनके लिए यह समस्या नहीं है। फिर संस्कृत साहित्य यदि संकुचित सामन्त वर्ग का साहित्य है, तो भारत में ऐसी कौन सी भाषा है जिसके साहित्य पर सामन्त वर्ग का प्रभाव नहीं पड़ा? वास्तव में संस्कृत साहित्य में दो विरोधी धाराएँ हैं। एक रीतिवादी दरबारी काव्य परम्परा है, दूसरी रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की परम्परा है। तमिल, तेलुगु, मराठी, बँगला, हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य पर इन दो महाकाव्यों का अमिट प्रभाव है। इन काव्यों के बिना न तो भारतीय संस्कृति की कल्पना की जा सकती है, ने तमिल, तेलुगु आदि भाषाओं के साहित्य का इतिहास लिखा जा

सकता है। भारत के लिए नहीं तो अपने प्रदेश के लिए इन महाकाव्यों का महत्त्व स्वीकार करना ही होगा। यहाँ इस बात का स्मरण करा देना असंगत न होगा कि संस्कृत में आस्तिक और नास्तिक दोनों तरह के मतों का प्रतिपादन है और संस्कृत में केवल हिन्दुओं ने नहीं, बौद्धों और जैनों ने भी अपने मत प्रकाशित किये हैं, साहित्य रचना की है। यदि पाली और प्राकृतों का साहित्य केवल बौद्धों और जैनों का लिखा हुआ हो तो इस कारण वह साहित्य की परिधि से निकाल न दिया जायेगा। अरबी का साहित्य मुसलमानों का लिखा हुआ है, अंग्रेजी साहित्य ईसाइयों का लिखा हुआ है, इससे उसका साहित्यत्व नष्ट नहीं हो जाता। प्राकृतें लोक भाषाएँ हैं, तो ठीक, नहीं हैं तो भी इतिहास लेखक को कोई परेशानी न होगी। भारतीय साहित्य ने जिन ऊँचे-नीचे मार्गों से आगे बढ़ते हुए आधुनिक रूप प्राप्त किया है, उनका विश्लेषण करना इतिहासकार का काम है। एक बार यह मान लेने पर कि भारत एक राष्ट्र है, यह भी मानना होगा कि इस राष्ट्र में जो कुछ लिखा जाता है, वह भारतीय है। वह अच्छा है या बुरा, यह प्रश्न गौण है।

आधुनिक भाषाओं के अभ्युदय से राष्ट्रीय एकता छिन्न-भिन्न हो गई, यह तर्क उन लोगों का है जो समझते हैं कि राष्ट्रीयता से जनसाधारण को कुछ भी लेना-देना नहीं है। राष्ट्रीय एकता और भारतीय संस्कृत को व्यापक आधार तभी प्राप्त हो सकता है जब अपनी भाषाओं के माध्यम से विभिन्न जातियों के लोग इस एकता की पुष्टि करें और समूचे राष्ट्र की संस्कृति को समृद्ध करें। अनेक भाषाओं और अनेक जातियों का अस्तित्व राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं है, वैसे ही जैसे अनेक राष्ट्रों का अस्तित्व मानवता का विरोधी नहीं है। देखना यह चाहिए कि इन अनेक भाषाओं में लिखा क्या गया है, इनमें आपस में सम्पर्क कैसा है, साहित्य की वे कौन सी धाराएँ हैं जो प्रदेशों की सीमाएँ लाँघकर अखिल भारतीय स्तर पर प्रवाहित होती हैं।

अंग्रेजी भाषा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता उन लोगों के लिए पुष्ट हुई होगी जिनका अपना सामाजिक आधार अत्यन्त संकुचित है। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के एक बहुत बड़े नेता महात्मा गाँधी थे और इस बात को सभी लोग जानते हैं कि कांग्रेस के भीतर और बाहर वह अंग्रेजी के व्यवहार के घोर विरोधी थे। शिक्षा से लेकर राजकाज तक सभी स्तरों पर वह प्रादेशिक भाषाओं के व्यवहार के पक्षपाती थे, इनके बीच सम्पर्क के लिए तथा अखिल भारतीय कार्यवाही के लिए वह हिन्दी

के समर्थक थे। अंग्रेजी के माध्यम से शासनतंत्र चलाने वाला वर्ग भारतीय जनतंत्र के सामाजिक आधार को निरन्तर संकुचित करता जा रहा है। भारत में अनेक प्रकार के सामन्ती और साम्राज्यवादी अवशेष अभी मौजूद हैं। उनमें एक अंग्रेजी भी है। अंग्रेजी में लिखा हुआ साहित्य विभिन्न प्रदेशों में पढ़ा जाता है, भारत के बाहर भी पढ़ा जाता है, इसलिए उसी को भारतीय साहित्य मानना चाहिए, यह तर्क वैसा ही है जैसे कोई यह कहे कि अंग्रेजो विश्व-भाषा है, इसलिए विश्व साहित्य में केवल अंग्रेजी साहित्य को स्थान मिलना चाहिये। अंग्रेजी भाषा में यहाँ जो साहित्य लिखा जाता है, उसे आप राष्ट्रीय मानिये, अन्तर्राष्ट्रीय मानिये, पर ब्रिटिश साम्राज्य में अब सूरज डूबता है यह भारतीय अंग्रेजी साहित्य उसी डूबते हुए सूरज की आभा है, यह भी मान लीजिए।

हिन्दी राष्ट्रभाषा हो, चाहे न हो, वह भारत की एक भाषा अवश्य है। यदि भारतीय साहित्य के अंतर्गत इस देश की विभिन्न भाषाओं में रचा हुआ साहित्य विवेचित होगा तो उसमें हिन्दी साहित्य का विवेचन शामिल किया जायेगा। मान लीजिए, हिन्दी राष्ट्रभाषा बना दी गई है, केन्द्रीय राजकाज और अन्य अखिल भारतीय कार्यों में उसका व्यवहार होने लगा है, अंग्रेजी के व्यवहार पर रोक लगा दी गई है, तो क्या इससे भारतीय साहित्य वही साहित्य कहलायेगा जो हिन्दी में लिखा गया होगा? अन्य भाषाओं में रचे हुए साहित्य को अभारतीय कहकर क्या उसकी उपेक्षा की जायेगी? यदि कोई ऐसा करना चाहे तो उसका यह प्रयत्न राष्ट्रीय एकता का नाश करने वाला कहा जायेगा। राष्ट्रीय एकता का अर्थ अनेक भाषाओं का सह-अस्तित्व, उनका परस्पर सहयोग है, उनका विनाश या दमन नहीं है।

इस तरह की तमाम भ्रान्तियाँ इस कारण पैदा होती हैं कि ब्रिटेन को एक भाषा वाला राज्य मानकर लोगों ने उसे राष्ट्र संज्ञा का आदर्श उदाहरण मान लिया है। वे समझते हैं, भारतीय साहित्य किसी एक ही भाषा का साहित्य हो सकता है, फिर वह भाषा चाहे संस्कृत हो, अंग्रेजी हो, चाहे हिन्दी हो। किन्तु यदि राष्ट्र बहुजातीय होते हैं, उनमें अनेक भाषाओं का व्यवहार होता है, तो यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि भारतीय साहित्य के अन्तर्गत अनेक भाषाओं में रचे हुए साहित्य का विवेचन किया जाये। किसी एक भाषा में रचे हुए साहित्य को ही भारतीय समझना अस्वाभाविक होगा।

इसी प्रकार लोग राष्ट्रीयता की उत्पत्ति अंग्रेजी राज में देखते हैं। यह

राष्ट्रीयता चाहे स्वयं अंग्रेजों ने भारतीय जनता को भेंट की हो, चाहे भारतीय जनता ने उन्हें निकालने के लिए स्वयं अर्जित की हो, वह नकारात्मक तभी हो सकती है जब संसार में साम्राज्यवाद का विघटन भी केवल नकारात्मक प्रक्रिया हो। साम्राज्यवादियों को यह बिल्कुल पसन्द नहीं कि उनकी विश्व-व्यवस्था टूट जाये। इसलिए वे सर्वत्र यह घोषणा करते हुए घूमते हैं कि जहाँ हम न होंगे वहाँ केवल शून्य होगा या इस शून्य में हमारी जगह नया साम्राज्यवादी रूस आ जायेगा, इसलिए अपनी सुरक्षा के लिए हमी को बने रहने दो। आधुनिक स्वाधीनता आन्दोलन साम्राज्य-विरोधी हैं अर्थात् जिस सामाजिक प्रक्रिया में साम्राज्यवादियों ने दखल दिया था, उस दखलन्दाजी को खत्म करके अब उसे सहज रूप से आगे बढ़ने दिया जायेगा।

साम्राज्यवादियों का तर्क है, हमने दखलन्दाजी नहीं की, हमने तो तुम्हारे यहाँ आधुनिक जीवन की नई प्रक्रियाओं को जन्म दिया है, पर तुम इतने कृतघ्न हो कि इस सेवा कार्य के लिए हमें धन्यवाद न देकर हमें अपने घर से निकाल रहे हो। साम्राज्यवादियों का यह तर्क स्वीकार कर लेने पर ही यह कहा जा सकेगा कि साम्राज्य-विरोधी एकता नकारात्मक प्रपंच है, किन्तु यदि पराधीन रहने की अपेक्षा स्वाधीन रहना उचित है, तो बाहरी दखलन्दाजी के बिना अपने सामाजिक विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना भी उचित है। सामाजिक विकास प्रक्रिया को आगे बढ़ाने का यह काम सकारात्मक है, जो चीज नकारात्मक है, वह इस प्रक्रिया में दूसरों की दखलन्दाजी है। साम्राज्यवादी पराधीनता से मुक्ति पाने के बाद यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत जैसा देश यह देखे कि दखलन्दाजी कहाँ हुई थी, उससे पहले विकास प्रक्रिया क्या थी, इस विकास प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए ब्रिटिश पूर्व भारत से हमें कौन से तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं। इन तत्त्वों को समेटकर, मानव संस्कृति की उपलब्धियों से लाभ उठाते हुए, अपना विकास करना एक सकारात्मक कार्य है, ऐतिहासिक रूप से आवश्यक और सामाजिक रूप से उपयोगी है। सारांश यह है कि राष्ट्रीय एकता यदि अंग्रेजी राज को खत्म करने के लिए आवश्यक थी तो वह समाजवादी भारत के निर्माण के लिए और भी आवश्यक है। भारतीय साहित्य के इतिहास का विवेचन कितना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है, यह इसी सामाजिक संदर्भ में पहचाना जा सकता।

हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद के बाद साम्राज्यवादियों के हाथ में

विभाजिक नीति का सबसे बड़ा उपादान आर्य-द्रविड़ भेद है। मान लीजिए, आर्यों ने द्रविड़ों को खदेड़ दिया और दक्षिण भारत में विजेता आर्यों के दलाल पुरोहितों ने हिन्दू धर्म का प्रसार किया, तो इसके बाद करना क्या चाहिए? दक्षिण भारत के दलाल पुरोहितों को उत्तर भारत में खदेड़ देना चाहिए? और उत्तर भारत के आर्यों को भारत से बाहर खदेड़कर उनके अज्ञात आदि देश भेज देना चाहिए? और उनके स्थान पर द्रविड़ों के परम प्रेमी अंग्रेजों अथवा अमरीकियों को बुलाकर स्थापित करना चाहिए? यदि ऐसा प्रयत्न किया जाय तो क्या इससे भारत की श्रमिक जनता को लाभ होगा? क्या इस देश के सभी मेहनत करने वाले गरीब आदमियों की भलाई इसमें नहीं है कि वे सब मिलकर साम्राज्यवादी और सामन्ती अवशेषों को समाप्त करें और उस पूँजीवादी व्यवस्था को बदले जिससे आर्य और द्रविड़ दोनों तरह के पूँजीपति लाभ उठाते हैं?

यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित होगा कि भारत में सबसे पहले, और सबसे प्रभावशाली ढंग से, शूद्रों ने साहित्य-रचना का कार्य तमिलनाडु में किया। इस साहित्यिक अभियान से पहले वहाँ जैन और बौद्ध मतों का प्रभाव था। जो लोग तमिल जनता की सारी विपत्तियों के लिए हिन्दू धर्म को दोषी ठहराते हैं, वे बौद्ध और जैन मतों के प्रसार पर भी ध्यान दें। उस समय वर्ग शोषण समाप्त न हो गया था। उत्तर और दक्षिण में जो सामन्ती व्यवस्था फैली, उसका वाहन संस्कृत थी। यूरोप में सामन्ती व्यवस्था के प्रसार के साथ ईसाई धर्म फैला, उसका वाहन लैटिन भाषा थी। इस कारण जर्मनी या फ्रान्स के लोगों ने मिलकर लैटिन के केन्द्र इटली पर आक्रमण नहीं कर दिया। वास्तव में द्रविड़वाद अब उतना ही खतरनाक हो गया है जितना आर्यवाद, और इन दोनों का आधार है नस्लवाद जिससे साम्राज्यवादियों ने हमेशा लाभ उठाया है।

भारतीय भाषाओं के विकास के बारे में अज्ञान क्षम्य है किन्तु इन भाषाओं में रचे हुए साहित्य की अखिल भारतीयता के बारे में अज्ञान अक्षम्य है। यह कौन नहीं जानता कि भक्ति आन्दोलन के स्रोत दक्षिण भारत में थे, यह आन्दोलन दक्षिण भारत से फैलता हुआ उत्तर भारत में आया और इसके उद्भव और प्रसार में द्विज और शूद्र दोनों वर्गों के लोगों का हाथ था? यह सारा इतिहास भुलाकर यदि कोई तमिल भाषी अपने ही साहित्य को आर्य और द्रविड़, ब्राह्मण और शूद्र में विभाजित कर दे, तो इससे औरों की हानि बाद में होगी, सबसे पहले वह तमिल साहित्य के

इतिहास को ही चौपट करेगा, सबसे पहले वह तमिल जाति की संस्कृति का नाश करेगा। देखना यह चाहिए कि तमिल साहित्य में सामन्त विरोधी तत्त्व कौन से हैं, न कि यह कि इस साहित्य का लिखने वाला द्विज है या शूद्र। देखना यह चाहिए कि तमिल भाषा के इस सामन्त विरोधी साहित्य ने दूसरी भाषाओं को कहाँ तक प्रभावित किया है, उन भाषाओं के सामन्त विरोधी साहित्य ने तमिल साहित्य को कहाँ तक प्रभावित किया है। इसके बदले यदि कोई साहित्य में आर्य और द्रविड़ तत्त्व ढूँढ़ता फिरे तो क्या यह सामन्तवाद की सेवा न होगी? भारतीय साहित्य की प्रगतिशील धारा आर्य और द्रविड़ दो भागों में नहीं बाँटी जा सकती। उसकी प्रगतिशीलता का एक प्रमाण ही यह है कि वह इस प्रकार विभाजित नहीं हो सकती। उसके निर्माता साम्राज्यवाद के दलाल नहीं थे, वे साम्राज्यवादियों के नस्लवादी सिद्धान्त के उपासक नहीं थे। उनकी उदार मानवतावादी वाणी विश्व कल्याण के लिए है, इस देश की समस्त जनता के कल्याण के लिए है।

सांस्कृतिक तत्त्वों का विनिमय भाषा तत्त्वों के विनिमय से कुछ अधिक ही होता है। और यह बिल्कुल सम्भव है कि विनिमय की जिस दशा से हम बीसवीं सदी में परिचित हैं, वह सोलहवीं सदी में वैसी न रही हो, यानी यह सम्भव है कि अंग्रेजी राज्य में आर्य-द्रविड़ भाषाओं के साहित्य में जैसा सम्पर्क रहा, उससे बहुत अधिक सम्पूर्क अंग्रेजी राज से पहले रहा हो, भले ही उस समय सूचना और प्रसारण के साधन आज की अपेक्षा नितान्त अविकसित रहे हों।

किसी एक भाषा के साहित्य का अध्ययन अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में हो, इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि यह अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य स्थापित किया जाये। पर उसकी स्थापना तभी हो सकती है जब विभिन्न भाषाओं के साहित्य का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लिया जाये।

साहित्य अकादमी का सर्वोच्च सम्मान 'महत्तर सदस्यता' ग्रहण करते हुए दिया गया वक्तव्य

डॉ. रामविलास शर्मा

साहित्य अकादमी ने मुझे अपनी महत्तर सदस्यता प्रदान की है, इसके लिए मैं उसे धन्यवाद देता हूँ। भारत की भाषाओं और उनमें रचे हए साहित्य के अध्ययन और उनकी उन्नति के लिए अकादमी की स्थापना हुई थी। यह उद्देश्य महान है और उसकी सिद्धि के लिए अनेक यशस्वी साहित्यकारों ने प्रयास किया है। कितनी शताब्दियाँ देखी हैं इन भाषाओं ने। एक और शताब्दी समाप्त होने को है। संसार के साथ हम भी नई शताब्दी और नई सहस्राब्दी में प्रवेश करेंगे। सहस्राब्दियों की जीवंत भाषिक परंपरा में संबद्ध होने का गौरव संसार में केवल भारत को प्राप्त है। लोक, जीव, प्राण, जन, गण, धन, छंद, पृथ्वी, अग्नि, अन्न, वायु, समुद्र, सूर्य जैसे पचासों शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए, हमारी भाषाओं में अब भी उनका व्यवहार होता है।

नदियों के मार्ग बदल गए। ऋग्वेद में 'सरस्वती-सिंधुभिः पिन्वमाना'- अनेक नदियों के जलग्रहण से उफनाती हुई बहती हैं। (5.52.6) वह अपनी शक्तिशाली लहरों से अरुजत् सानु गिरिणागिरिशिखरों को तोड़ देती थी। (6.61.2) इस सरस्वती के तट पर वैदिक कवियों ने सूक्त रचे थे। काव्य से संबद्ध होने के कारण सरस्वती वाणी की देवी बनी। इसी नदी के तट पर भरत जन रहते थे, जो ऐसे यशस्वी थे कि उनके नाम पर सारा देश भारत कहलाया। भरत जन से संबद्ध वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि कवियों ने ऋग्वेद के सूक्त रचे, इस कारण सरस्वती की तरह 'भारती' शब्द भी वाणी के लिए प्रयुक्त हुआ।

सरस्वती और सिंधु नदियों के बीच का क्षेत्र हरा-भरा और अत्यंत उपजाऊ था, यहीं हड़प्पा सभ्यता का विकास हुआ। इस विशाल क्षेत्र में सुनियोजित

अर्थतंत्र का विकास हुआ। दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. में सरस्वती का मार्ग परिवर्तन हुआ। बहुत-सी उपजाऊ भूमि मरुस्थल बन गई। नगर सभ्यता का ह्रास हुआ। भाषाओं और उनके साहित्य की धारा फिर भी प्रवाहित रही।

भारतीय परंपरा के अनुसार आदिकवि वाल्मीकि थे। व्याध ने नरपक्षी को मारा। मादा पक्षी ने आर्तनाद किया। उसे सुनकर कवि का मन शोक से भर गया। 'शोकः श्लोकत्वमागतः' शोक ही मानो परिवर्तित होकर श्लोक बन गया। यह श्लोक अनुष्टुप कहलाया। यह छंद ऋग्वेद में भी है। सरयू, गोमती, गंगा कोसल क्षेत्र की प्रसिद्ध नदियाँ, रामकथा से संबद्ध वसिष्ठ, विश्वामित्र ऋषि ऋग्वेद में भी हैं। कोसल और कुरुप्रदेश का संबंध बहुत पुराना है। कुरुप्रदेश से महाभारत का संबंध प्रसिद्ध ही है। विशेष बात यह कि पुरोहितों ने जब शूद्रों के वेद पढ़ने पर रोक लगा दी, तब व्यास ने पाँचवाँ वेद महाभारत रचा। अपने पुत्र और शिष्यों को उन्होंने चारों वेद पढ़ाए और महाभारत पंचमान-पाँचवाँ वेद महाभारत पढ़ाया। (आदि पर्व 63.89) नाट्यशास्त्र में यह बात और भी स्पष्ट कही गई है :

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु,
तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम् (1.12)

देवों ने ब्रह्मा से कहा-वेद शूद्र जातियों को सुनाए ही नहीं जाते, इसलिए आप सभी वर्गों के लिए पाँचवाँ वेद रचिए।

पाँचवें वेद की परंपरा बहुत पुरानी है। छांदोग्य उपनिषद् में नारद ने सनत्कुमार से कहा-चारों वेदों के अतिरिक्त इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद मैं जानता हूँ (7.1.2) ऋषियों को महाभारत सुनानेवाले सूतपुत्र उग्रश्रवा पौराणिक थे। महाभारत पुराण है, इतिहास भी है (आदि पर्व, 10,17,19)। शूद्र संभवतः मूल रूप में, किसी गण या कबीले का नाम था। महाभारत में आभीरों और दरदों के साथ शूद्रों का उल्लेख है (भीष्म पर्व, 60,17)। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, पाणिनि ने ऐषुकारिगण में शौद्रायणों का उल्लेख किया है। इस सूची में उन देशों की गिनती है जिनका नाम वहाँ के निवासी जनों के अनुसार पड़ता' था। - (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ. 65), ये लोग यूनानियों से लड़े थे, शास्त्र धारण करते थे। मनुस्मृति में लिखा है- 'न शूद्रराज्ये निवसेत्ब्राह्मण' : ब्राह्मण शूद्र राज्य में निवास न करें (4.61)। शूद्र राजा भी होते थे, इसीलिए सावधान किया, उनके राज्य में न रहना। इस ग्रंथ में यह भी लिखा है-'न नृत्येदथवा गायेत् न वादित्राणि

वादयेत्'-द्विज नाचे नहीं, गाए नहीं, बाजे बजाए नहीं (4.64) यह पुरोहितों की जड़ संस्कृति है। लोक संस्कृति में शिव नाचते हैं, डमरू बजाते हैं। कृष्ण नाचते हैं, बाँसुरी बजाते हैं। वाणी की देवी सरस्वती वीणा बजाती हैं, घुमंतू मुनि नारद वीणा बजाते हैं। नारद कथावाचक भी रहे होंगे, क्योंकि वह देवों को महाभारत सुनाते हैं (आदि पर्व 1.107)। बालकांड के आरंभ में पहले वही वाल्मीकि को रामकथा सुनाते हैं। रोचक तथ्य यह है कि नाट्यशास्त्र में नारद और गंधर्वों को गाने के लिए नियुक्त किया गया है (1.51)।

महाभारत की तरह नाट्यशास्त्र भी इतिहास है (1.14)। मुनियों ने भरत से पूछा था-यह नाट्य वेद कैसे उत्पन्न हुआ? भरत ने नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास तो बताया ही, उससे भी अधिक रोचक उन्होंने नाटक की उत्पत्ति का इतिहास भी बताया। नाटक का पाठ्य अंश ऋग्वेद से, गीत अंश सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से, रस अथर्ववेद से ग्रहण किया (1.17) पाठ्य, गीत, अभिनय, तीनों का सीधा संबंध नाटक से है, इसके साथ इनका विवेचन शास्त्र में हो सकता है। परंतु नाटक पहले है, शास्त्र उसके बाद। ब्रह्मा ने भरत से कहा-इंद्र का ध्वज महोत्सव चल रहा है, इसी में नाट्य वेद का प्रयोग करो (1.54-55) असुरों पर देवी की विजय के उपलक्ष्य में यह उत्सव मनाया गया। भरत ने नांदी पाठ किया। यह पाठ शास्त्र में नहीं, नाटक में था। भरत कहते हैं इस नांदी के पश्चात् देवताओं द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने का मैंने ऐसा अभिनय प्रस्तुत करना आरंभ किया, जो क्रोधपूर्ण वचनों, भगदड़ आदि कार्यों तथा मारकाट और युद्धार्थ किए गए आह्वानों से युक्त था। इस प्रदर्शन को देखकर ब्रह्माजी संतुष्ट हो गए। (1.57-58) भरत ने अभिनय किया, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता।

'भरत' का एक अर्थ अभिनेता है। सौ भरतपुत्र नाट्यकला की शिक्षा प्राप्त करते हैं। ये सब अभिनेता हैं। अभिनेता और गायक के लिए कुशीलव शब्द का व्यवहार भी नाट्यशास्त्र में है- 'जो पुरुष अनेक वाद्यों के वादन में निपुण हो तथा वाद्य संगीत की गहरी जानकारी रखते हुए स्वयं उनके अनेक प्रयोगों को नाट्य पर लागू करता हो तो अपने कौशल, निखरे हुए ज्ञान तथा उत्तेजना-हीनता (गंभीरता) के कारण उसे कुशीलव कहते हैं (35.106)। वाल्मीकि रामायण (बालकांड) में मुनिवेशौ कुशीलवौ (4.4) कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ...भ्रातरौ स्वर-संपन्नौ (4.5) मुनिवेषधारी, स्वर-संपन्न दोनों कुशीलव भाइयों ने पौलत्स्यवध काव्य, तंत्रीलय

समन्वितं (4.7.,4.8) गाया। मुनियों ने गायन्तौ तौ कुशीलवौ (4.17) काव्य गानेवाले उन कुशीलवों की प्रशंसा की।

अभिनेता और गायक के लिए नाट्यशास्त्र में नट शब्द का व्यवहार भी हुआ है- 'चारों प्रकार के संगीत विधान को लागू करते हुए तथा शास्त्र के आशय या सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए जो किसी रूपक को अपने स्वयं के विचार या अनुभवादि के साथ मंच पर प्रस्तुत करने में सक्षम हो तो उसे नट समझना चाहिए।' (35.100) नट और नाट्य का संबंध स्पष्ट है-नाट्यशास्त्र में भरतपुत्रों अर्थात् नटों के नाम दिए हुए हैं- शांडिल्य, वात्स्य, कोहल, दत्तिल आदि को भरत ने नाट्यकला में प्रशिक्षित किया। (1.26) यह सूचना अभूतपूर्व है। यूनान में भी नाटक खेले जाते थे। वहाँ के किसी प्राचीन अभिनेता का नाम ज्ञात नहीं। पहले स्त्रियाँ अभिनय न करती थीं। भरत की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने अप्सराओं को रचा 'और उन्हें अभिनय के लिए मुझे प्रदान किया। (1.47) मंजुकेशी, सुलोचना, सौदामिनी, देवसेना आदि प्राचीन भारत की अभिनेत्रियाँ थीं।

समाज में कुछ लोगों को नाट्यकला का विकास पसंद नहीं था। नाट्यशास्त्र के पहले अध्याय में विघ्नों का वर्णन विस्तार से किया गया है। ये विघ्न अमूर्त नहीं थे। उनके विरोध ने ऐसा रूप धारण किया कि भरत को लगा, ये मुझे मार डालेंगे। 'वासं सज्जनयंति स्म विघ्ना: मद्वधबुद्धय:' (1.76)। 'वे विघ्न मेरा वध करने का निश्चय करके फिर वास उत्पन्न करने लगे।' स्मरण करें, न नृत्येदथवा गायेत्-विघ्नों का मूर्तरूप स्पष्ट हो जाएगा। भरत ने तो नाटक को सर्वशिल्प प्रवर्तक (1.15) बना दिया था। नृत्य संगीत समन्वित होने के साथ नाटक लोकवृत्तानुकरण (1.112) भी था। धनीजनों के मनोरंजन के अतिरिक्त वह दु:खातानां श्रमातानां-दुखियों और श्रम से थके हुए लोगों को विश्रांति देनेवाला था (1.115) लोक संस्कृति का भरोसा करके भरत ने नाट्यकला का विकास किया। नाट्यमंडली में नाट्यकार के साथ नट, मालाकार, रजक, चित्रकार आदि होते थे। (35. 89-90) इन्हीं में भरत भी हैं। 'क्योंकि वह अकेला ही किसी नाट्य प्रयोग का मुख्य रूप से अपनी विभिन्न भूमिकाओं के अभिनयों के द्वारा, अनेक वाद्य वादनों के द्वारा तथा अनेक सहायकों के सहकार से निर्वाह या वहनकर्ता होता है, अत: इसे भरत कहा जाता है।' (35.91)

मनुस्मृति में नटों की जघन्य राजसी जाति कही गई है-'झल्ल, मल्ल, नट

(रंगमंच पर अभिनय कर जीविका करनेवाले) शस्त्रजीवी (सिपाही, सैनिक आदि) जुआरी तथा मद्यपी पुरुष–ये जघन्य (हीन) राजसी जातियाँ हैं।' (12.45) हीनता के इस आरोप का उत्तर भवभूति ने यह कहकर दिया कि उन्होंने 'निसर्गसौहार्देन भरतेषु'–भरतों अर्थात् नटों से अपनी सहज मैत्री के कारण उन्हें मालती माधव नाटक खेलने को दिया।

शूद्रों और नटों के प्रति स्मृतिकार चाहे जितनी घृणा प्रदर्शित करें, भारतीय साहित्य की प्रशस्त धारा पुरोहितों की संकीर्णता के विरोध में प्रवाहित हुई है।

अत्यंत प्राचीनकाल से इस भारत देश में विभिन्न धर्मों के अनुयायी, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले लोग रहते आए हैं। देश में एक ही धर्म के माननेवाले हों, एक ही भाषा बोलने वाले हों, यह मान्यता हमारे कवियों की नहीं थी। अथर्ववेद के प्रसिद्ध सूक्त में कहा गया है –'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसम्' – यह पृथिवी अनेक भाषाएँ बोलनेवाले जनों को धारण करती है।'नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्' –विभिन्न धर्मों के मानने वालों को ऐसे धारण करती है जैसे वे एक ही घर के रहनेवाले हों। (12.145) जो क्रूर कर्म करते थे, वे म्लेच्छ कहलाते थे।'म्लेच्छाः क्रूराः और दारुणा म्लेच्छजातयः' (भीष्म पर्व, 10.65) भारत के उत्तरी भाग में ये भी रहते थे।

भारत का बहुजातीय, बहुजनपदीय भव्य रूप महाभारत के भीष्म पर्व में प्रस्तुत किया गया है। एक ओर दरदा और कश्मीर हैं (9.69), दूसरी ओर 'द्रविड़ा केरलाः कर्णाटकाः' (9.58–59)। हमारे राष्ट्रगीत पंजाब सिंधु गुजरात मराठा 'द्राविड़ उत्कल बंग' में भारत के इसी बहुजातीय स्वरूप की वंदना की गई है। भारतीय भाषाओं और उनमें रचे जाने वाले साहित्य की एक सहस्राब्दी समाप्त होने को है। इस अवधि में देश पर अनेक आक्रमण हुए। इनमें सबसे शक्तिशाली तुर्क आक्रमण था। जहाँ अब तुर्की राष्ट्र है, वहाँ पहले यूनानी थे। उस भूखंड का जातीय स्वरूप ही बदल गया। ये तुर्क दक्षिण यूरोप के देशों में घुसते चले गए। साइप्रस द्वीप में यूनानी और तुर्क दो विरोधी जातियों के रूप में एक–दूसरे के सामने हैं, किंतु भारत में तुर्क जातीयता विलीन हो गई। सिंधी, पंजाबी, कश्मीरी यहाँ की जातियों में तुर्क घुलमिल गए। अनेक प्रदेशों में इस्लाम का प्रसार हुआ। बहुत–से मुसलमान कवियों ने भारतीय भाषाओं में काव्य रचा। ये कवि जातीय संस्कृतियों के निर्माता थे। शाह अब्दुल लतीफ सिंधी संस्कृति के, वारिस शाह, बुल्लेशाह पंजाबी संस्कृति

के, मलिक मुहम्मद जायसी हिंदी संस्कृति के प्रतिनिधि थे। फिर अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार किया। उन्होंने भरसक सांप्रदायिक संकीर्णता के प्रसार द्वारा जातीय संस्कृतियों को नष्ट करने का प्रयास किया, परंतु बंगाल में ईसाई कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'मेघनादवध' काव्य लिखा। मुसलमान कवि नजरूल इस्लाम ने क्रांतिकारी गीत लिखे और हिंदू कवि रवींद्रनाय ठाकुर ने ऐसा काव्य रचा कि अधिकांश कट्टर हिंदू उनका विरोध करते रहे। बीसवीं सदी सुब्रह्मण्यम भारती, प्रेमचंद और निराला जैसे साहित्यकारों के कृतित्व की शताब्दी है। अगली शताब्दी में इस परंपरा को विकसित और समृद्ध करना है।

साहित्य अकादमी ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य के इतिहास पर, इन भाषाओं के साहित्यकारों पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इनसे मैंने लाभ उठाया है। इसके लिए मैं अकादमी को धन्यवाद देता हूँ। साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त, इतिहास और समाजशास्त्र से संबद्ध विषयों पर अकादमी ने संगोष्ठियाँ आयोजित की हैं। यह कार्य स्वागत योग्य है। वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखने पर ही भाषाओं में रचे हुए साहित्य का समवाय है, यह अकादमी के प्रकाशनों से सिद्ध होता है। इन भाषाओं के अतिरिक्त कोई ऐसी भारतीय भाषा नहीं है, जिसमें रचे हुए साहित्य को हम भारतीय कहें। अनेक भाषाओं में रचे हुए साहित्य में जो सामान्य विशेषताएँ हैं, उन्हीं को हम भारतीय साहित्य की विशेषताएँ मानते हैं। भाषा की उन्नति बोलनेवालों की उन्नति पर निर्भर है। यदि किसी भाषा के बोलनेवाले आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हुए हो तो उस भाषा का साहित्य पूरी शक्ति से प्रगति नहीं कर सकता।

अंग्रेजी राज कायम होने से पहले भाषावार प्रदेश कहीं एकताबद्ध थे, और कहीं नहीं थे परंतु आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के कारण जातीय चेतना का प्रसार इन प्रदेशों में हो रहा था। यह बात प्राचीन तमिल साहित्य और भक्तिकालीन मराठी साहित्य में प्रतिविदित होती है। अंग्रेजी राज कायम होने से पहले से सामंत-विरोधी अखिल भारतीय नवजागरण दिखाई देता है, उसकी बहुत बड़ी विशेषता संस्कृत और अरबी-फारसी से अलग हटकर भाषा-प्रेम की अभिव्यक्ति है। इन भाषाओं का और इन्हें बोलने वाली जातियों का निर्माण अंग्रेजी राज में। नहीं हुआ। उनका निर्माण इस राज से पहले हो चुका था। अंग्रेजी राज कायम होने पर साम्राज्यवाद से लड़ते हुए नई शक्ति से इन भाषाओं का और जातीय चेतना का

विकास हुआ। अंग्रेजी भाषा की प्रगतिशील परंपरा से भारतीय साहित्यकारों ने कुछ बातें सीखीं, परंतु जहाँ तक अंग्रेज शासकों का संबंध है, उन्होंने अपने राज में जातीय चेतना के प्रसार को अवरुद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रयत्न का एक रूप यह था कि वे जातीय प्रदेशों को विभाजित करते थे अथवा अनेक जातीय प्रदेशों को किसी एक महाप्रांत में ठूँस देते थे। मुंबई और मद्रास के महाप्रांत इसी उद्देश्य से बनाए गए थे। मुंबई महाप्रांत की धारासभा में जब बहुत ही सीमित मताधिकार के आधार पर लोग चुने जाते थे, तब भी वहाँ के सदस्यों ने अपने अलग प्रांत बनाने की माँग उपस्थित की थी। जातीय चेतना के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए जातीय प्रदेश को विघटित करना होता है। इसी उद्देश्य से 1905 में कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया था। उस विभाजन का तीव्र विरोध साहित्यकारों ने किया। उनमें बांग्ला के मराठीभाषी लेखक सखाराम गणेश देउस्कर सबसे आगे थे। बंगाल के विभाजन का विरोध बंगालियों ने किया। बंगाल के बाहर अन्य प्रदेश के लोगों ने किया। इससे राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हुई और स्वाधीनता आंदोलन शक्तिशाली बना। स्वाधीनता आंदोलन के उभार के साथ जातीय चेतना और पुष्ट हुई। फरवरी 1920 में गाँधी जी ने उड़ीसा के कुछ नेताओं का एक परिपत्र प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था- उड़िया लोग चार प्रशासनों के अधीन कर दिए हैं- बिहार, मद्रास, बंगाल और मध्यप्रांत। वे हर जगह अल्पसंख्यक हैं। इस हालत में एक स्वतंत्र इकाई के रूप में उनका विकास असंभव हो गया है। भारत की प्रगति में, उसके किसी भी हिस्से की प्रगति की अवगणना नहीं की जा सकती। नया भारत राष्ट्र एक प्राचीन जाति की राख पर खड़ा नहीं किया जा सकता। गाँधी जी ने अपनी टिप्पणी में लिखा- 'यह शानदार जाति यदि बिना किसी उचित कारण के चार भागों में बाँट दी जाती है तो वह कभी स्वाभाविक प्रगति नहीं कर सकती और प्रगति करने का हक तो उसे भी है ही।' (संपूर्ण गाँधी वाङ्मय 17/41)।

दिसंबर 1920 में गाँधी जी के निर्देश से कांग्रेस ने नागपुर अधिवेशन में नया संविधान स्वीकार किया। इसमें कांग्रेस कमेटियाँ भाषावार प्रांतों के आधार पर चुनी जातीं। अंग्रेजों के महाप्रांत मद्रास की सीमाओं की चिंता न करके गाँधी जी ने तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम् चारों भाषाओं के हिसाब से चार प्रांतों की कल्पना की। गाँधी जी ने हिंदुस्तानी के लिए छः प्रांत निर्धारित किए-संयुक्त प्रांत, सीमा प्रदेश, दिल्ली, अजमेर, मारवाड़ तथा राजपूताना, मध्य प्रदेश और बिहार।

इनमें सीमा प्रदेश छोड़ दें तो बाकी पाँच प्रान्त बचते हैं जिनकी भाषा हिंदी या हिंदुस्तानी है। स्वाधीन भारत में सात राज्य हैं जहाँ हिंदी राजभाषा है–बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश। इन राज्यों का एकीकरण अभी शेष है। इन सात हिंदीभाषी राज्यों की एकता के बिना हिंदी भाषा और साहित्य का भरपूर विकास असंभव है।

अंग्रेजों ने बंगाल का विभाजन किया। उसका ऐसा व्यापक और तीव्र विरोध हुआ कि उन्हें विभाजन निरस्त करना पड़ा, पर उनके पास एक अस्त्र और था। उन्होंने संप्रदायवाद को बढ़ावा दिया और जो बात 1911 में न हो सकी, वह 1947 में हो गई। बंगाल विभाजित हुआ। सौभाग्य से बंगाल में हिंदू–उर्दू जैसा विभाजन नहीं है। दोनों बंगालों में एक ही साहित्यक भाषा का व्यवहार होता है। बांग्ला भाषा की पूर्ण उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि दोनों बंगालों के साहित्यकार मिलकर प्रयत्न करें। इसी तरह पंजाब दो हिस्सों में बँटा हुआ है और यहाँ दो से अधिक धर्मों के अनुयायी हैं। अंग्रेजी राज कायम हाने से पहले पंजाबी भाषा में विपुल साहित्य रचा गया था, परंतु अंग्रेजी राज कायम होने के बाद बहुत–से पंजाबी लेखक पंजाबी छोड़कर अंग्रेजी, उर्दू या हिंदी में लिखने लगे। यदि दोनों पंजाबों के हिंदू–मुसलमान–सिख लेखक मिलकर काम करें तो कश्मीर समेत भारत और पाकिस्तान के संबंधों की बहुत–सी समस्याएँ हल की जा सकती हैं।

स्वाधीनता आंदोलन में फूट डालने के लिए अंग्रेजों ने द्विज और शूद्र के भेद से भी पूरी तरह लाभ उठाया। कुछ प्रदेशों में जातीय साहित्य से अलग हटकर दलित साहित्य रचने का रुझान दिखाई देता है। किसी भी प्रदेश के दलित लेखक हों, वे उस प्रदेश की जातीय भाषा छोड़कर अपना साहित्य नहीं रच सकते। डेढ़ सौ साल पहले मार्क्स–एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में कहा था–जो सर्वहारा हैं, वे अपने पुनर्जीवन के साथ परी जाति को पुनर्जीवित करते हैं। इसी से समझना चाहिए कि जो संपत्तिहीन हैं, दलित हैं, उन्हें क्रांतिकारी मार्ग पर सबसे आगे चलना चाहिए और अपने साथ पूरी जाति का उद्धार करना चाहिए।

मई 1917 में गाँधी जी ने साकलचंद्र शाह को लिखा था– हम गुजराती भाषा के माध्यम से मानसिक शक्ति का विकास करना चाहते हैं।' (संपूर्ण गाँधी वाङ्मय, 17.432)। प्रारंभिक शिक्षा से लेकर उच्चतम शिक्षा तक शिक्षा का माध्यम जातीय भाषा होनी चाहिए, तभी शिक्षित जनों का भरपूर मानसिक विकास

हो सकता है। शिक्षा केंद्रों से बाहर आर्थिक जीवन में भारतीय भाषाओं के ऊपर अंग्रेजी का स्थान है। बड़े व्यवसाय की भाषा अंग्रेजी है, बड़े-बड़े बैंकों का कारोबार अंग्रेजी में होता है। हमारे राष्ट्रीय दैनिक अंग्रेजी में निकलते हैं, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारी वेतन देकर होनहार युवा पीढ़ी को आकर्षित करती हैं। अब हमारे यहाँ विभिन्न प्रदेशों में एक ऐसा भद्र लोक निर्मित हो रहा है, जिसकी घरेलू भाषा अंग्रेजी है। हमारे देश में तमिल जैसी भाषाएँ बोली जाती हैं, जिनमें उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण तब हुआ था, जब ऐंगल्स और सैक्सन कबीले जर्मनी से इंग्लैंड पहुँचे न थे और अंग्रेजी भाषा का जन्म न हुआ था। गाँधी जी निरंतर इस बात का प्रचार करते रहे कि प्रदेश का काम वहाँ की भाषा में हो और केंद्रीय कामकाज हिंदी में हो। साहित्य अकादमी का भी काफी काम अंग्रेजी में होता है। इस स्थिति में अकादमी के भूतपूर्व सचिव इंद्रनाथ चौधुरी ने फरवरी 1994 में और वर्तमान सचिव प्रो. के. सच्चिदानंदन ने मार्च 1999 में मुझे हिंदी में पत्र लिखे-इसके लिए इन महानुभावों का साधुवाद है।

मेरा जन्म अवध के उस भाग में हुआ था जिसे बैसवाड़ा कहते हैं। इस क्षेत्र से प्रताप नारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, नंददुलारे वाजपेयी, शिवमंगल सिंह सुमन, जैसे लेखक सम्बद्ध रहे हैं। साहित्य अकादमी ने जो महत्तर सदस्यता प्रदान करके मुझे सम्मानित किया है, वह इस क्षेत्र की साहित्यिक परंपरा का भी सम्मान है। इस सम्मान के लिए मैं एक बार फिर साहित्य अकादमी के सभी सम्बद्ध व्यक्तियों को हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

मेरा साहित्य संसार

रामविलास जी का भाषण

अभी चौधरी साहब ने जो शब्द कहे, उनके लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। सबसे पहले मैं यह बता दूँ कि मैं साहित्य समारोहों में क्यों नहीं जाता। लगभग 25 वर्ष पहले मेरी पत्नी बीमार रहने लगीं। मैं आगरे में था और अकेले ही उनकी सेवा करता था। उनको छोड़कर जाने में बहुत कठिनाई थी। कभी-कभी लोग कहते थे, किसी को यहाँ बिठा दें, आप चलिए। मैंने कहा, मेरा मन नहीं करता, कहीं बाहर जाकर बोलने का। इसके सिवा मैं अपनी पुस्तक लिखने में लगा था और सोच रहा था। इनके जीवन काल में ही यह पुस्तक समाप्त हो जाए। फिर ऐसा नियम बन गया कि मैंने बाहर जाना बंद कर दिया। चौधरी जी ने बताया कि जनकपुरी में जब मैं रहता था, वहाँ आप आए थे। यह सन् '85 की बात होगी, जैसा कि वह कहते हैं। मेरी पत्नी का देहांत हुए एक वर्ष हुआ था। इन्होंने काफी आग्रह किया होगा लेकिन मैंने मना कर दिया था। उसके बाद भी अपवाद रूप में एकाध जगह मैं गया हूँ। जैसे-जे.एन.यू. के लड़के मेरे यहाँ आते थे और मैं जो कुछ बोलता था, वह लिख लेते थे। 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' पुस्तक का काफी अंश उन लोगों ने लिखा था। उनमें एक छात्र ने कहा कि आपको जे.एन.यू. चलना है। मैं छात्र की बात न टाल सकता था। मैंने कहा, मैं चलूँगा, एक शर्त पर कि मैं किसी विषय पर भाषण न करूँगा। तुम लोग जो प्रश्न करोगे, मैं उनका उत्तर दूँगा। वे राजी हो गए। वहाँ नामवर सिंह अध्यक्षता कर रहे थे, इनसे पूछ लीजिए। वहाँ लोगों ने प्रश्न किए- मैंने उत्तर दिए।

उसके बाद केदारनाथ अग्रवाल आए। मेरी-उनकी मैत्री बहुत पुरानी है। वे जहाँ जाएँ, वहाँ मुझे जाना ही चाहिए। मैं दो-एक सभाओं में उनके साथ गया लेकिन शायद मैंने वहाँ भाषण नहीं किए। लेकिन जब वे 75 वर्ष के हुए तब मैं बाँदा गया और जो साहित्य-समारोह हुआ, वहाँ मैंने भाषण किया। उसके बाद वे जब 80 के हुए तब

फिर मैंने उनके समारोह में भाग लिया। इस तरह के अपवाद मैं मित्रों के लिए और छात्रों के लिए कर लेता हूँ। समारोहों में न जाने से और पुस्तकों पर सम्मति न लिखने से समय और शक्ति की बड़ी बचत होती है। लोग इससे नाराज तो होते हैं। लेकिन मेरा उससे लाभ ही होता है। साहित्य अकादमी में मेरा आने का कारण यह है (चौधरी साहब बुरा न मानें)– रणजीत साहा, मेरी बहुत मदद करते हैं। मैं जिन किताबों के लिए कहता हूँ ये किताबें तो वे लाकर देते ही हैं, अपनी तरफ से भी कुछ किताबें लाकर दे देते हैं कि आप इनको भी पढ़िए। तो जो व्यक्ति पुस्तकें देकर मेरी मदद करता है, मैं उसकी बात नहीं टाल सकता। रणजीत साहा ने आग्रह किया तो मैं तैयार हो गया। उसके बाद चौधरी साहब का पत्र मेरे पास आया कि लेखक आपसे मिलना चाहते हैं, आप साहित्य अकादमी में आइए। मैंने कहा कि लेखकों से मिलकर तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, लेकिन एक शर्त है कि किसी निश्चित विषय पर आप मुझसे भाषण करने के लिए न कहिए। बाद में फिर बातचीत हुई, क्या होगा, कैसे होगा, तो मैंने रणजीत साहा से कहा कि लोग बोलेंगे तो मैं भी बीच में कुछ कह दूँगा। उसके बाद फिर चौधरी जी से साक्षात्कार हुआ और उन्होंने उसकी रूपरेखा बनाकर बता दी। मालूम हुआ कि 'टैक्टिक्स' में वे कितने दक्ष हैं। आदमी से कैसे व्यवहार करना चाहिए, कैसे उसे फाँसकर ले आना चाहिए और फिर किसी निश्चित विषय पर उसे बुलवाना ही चाहिए, वह जानते हैं। उन्होंने समझाया, यह जो अवसर है यह बहुत बड़ा फंक्शन है हमारा और इसमें लेखक अपने बारे में बोलता है तो मुझे अपने बारे में बोलना होगा, यह मैं समझ गया।

कल अचानक गिरिजाकुमार माथुर की मृत्यु का समाचार मिला तो मैंने फिर प्रयत्न किया कि आज का कार्यक्रम टल जाए। सुरेश शर्मा से संपर्क हुआ, नवभारत टाइम्स में काम करते हैं। मैंने उनसे कहा कि तुम यह प्रयत्न करो, चौधरी जी से संपर्क करो और मेरी तरफ से कहो कि यह उचित अवसर नहीं है, आगे के लिए स्थगित कर दें। उन्होंने उनसे जो कुछ भी कहा हो, चौधरी जी से टेलीफोन पर बात हुई और उसका निष्कर्ष यह निकला कि बहुत पहले से तैयारी की गई है और बहुत असुविधा होगी, इसलिए मुझे इस कार्यक्रम में आना ही चाहिए। तो मैं यहाँ आपके सामने उपस्थित हूँ। इन आयोजनों में एक चीज यह भी होती है कि पहले तो लोग कहेंगे कि आपको सुनने के लिए बहुत उत्सुक हैं लेकिन जब आप बोलना शुरू करेंगे तो दिखाई देगा कि वे इधर–उधर के कामों में बहुत व्यस्त हैं और आपकी बातें ध्यान से नहीं सुन रहे हैं।

इसलिए भी मैं समारोहों में कम जाता हूँ।

मैं जो कहने जा रहा हूँ, उसके तीन हिस्से हैं। पहले मैं गिरिजाकुमार माथुर के बारे में कुछ बातें कहना चाहूँगा। उसके बाद अपनी किताबों के बारे में और अंत में कुछ बातें अपने जीवन के बारे में।

गिरिजाकुमार जब लखनऊ विश्वविद्यालय में एम.ए. के छात्र थे, तब मेरा उनसे परिचय हुआ था। मैं उस में समय शोध कर रहा था। जिन अध्यापकों ने मुझे पढ़ाया था, उन्हीं ने गिरिजाकुमार को पढ़ाया था। वे हॉस्टल में रहते थे। मैं अक्सर यूनिवर्सिटी से उनके कमरे में चला जाता था और बैठकर घंटों बातें होती थीं। कभी-कभी वे मेरे घर आते थे। वहाँ बातचीत होती थी। एम.ए. पास करने के बाद जब वह लखनऊ में रहने लगे तब नित्य ही उनसे मुलाकात होती थी। हम लोगों की मैत्री के आधारभूत दो कारण हैं- कीट्स की कविता और निराला की कविता। मेरे शोध का विषय था- कीट्स एंड द. प्रि-रफेलाइट्स।' संभवत: मैं कीट्स का अध्ययन कर रहा था। कीट्स की कविताएँ मुझे बहुत पसंद थीं। और अब भी पसंद हैं। गिरिजाकुमार जब मिलते थे तो मैं उनको कीट्स की कोई कविता सुनाता था कि देखो यह कविता कितनी अच्छी है या गिरिजाकुमार को कोई ऐसी ही मिलती थी तो कहते थे, देखो यह कविता कितनी अच्छी है। उन दिनों मैं भी कविताएँ लिखता था और गिरिजाकुमार तो लिखते ही थे। हम लोग अपनी कविताएँ भी एक-दूसरे को सुनाते थे। निराला के आसपास उस समय जो बहुत-से नवयुवक साहित्यकार एकत्र हुए थे, उनमें गिरिजाकुमार माथुर भी थे। निराला का बहुत गहरा असर गिरिजाकुमार, माथुर की कविताओं पर है, कम-से-कम एक दौर की कविताओं पर है।

यहाँ जो प्रबुद्ध पाठक बैठे हैं, वे 'तार सप्तक' में गिरिजाकुमार माथुर की रचनाओं से परिचित होंगे। 'तार सप्तक' का संबंध प्रयोगवाद से जोड़ा गया और प्रयोगवाद का संबंध नई कविता से और नई कविता का संबंध प्रगतिवाद के विरोध से। खैर। गिरिजाकुमार माथुर के कई दौर हैं। 'तार सप्तक' से पहले वे विशुद्ध श्रृंगार की और रूमानी कविताएँ लिखा करते थे। 'मंजीर' में उनकी ऐसी कविताएँ संकलित हैं। उसके बाद वे 'तार सप्तक' की मंजिल पर आते हैं, अब उनकी रूमानियत कुछ मद्धिम होती है। उनके विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण चरण वह है जो 43-44 के बाद आता है और 55-56 तक चलता है। उस समय के प्रगतिशील कवियों में जो लोग नई कविता की और आए, उनकी पंक्ति में गिरिजाकुमार माथुर सबसे पीछे थे। सबके बाद

उन्होंने प्रगतिवाद से अपने को अलग करने का प्रयत्न किया, यद्यपि आखिरी दिनों में भी यानी साल-दो साल पहले वे बराबर कहते थे कि मैंने प्रगतिशील विचारधारा कभी नहीं छोड़ी और तुम मुझे गलत समझते हो। अस्तु, सन् 43-44 के बाद सन् 50-55 तक उन्होंने जो कविताएँ लिखीं, उनमें दो बातें मुख्य हैं-प्रकृति और नारी। प्रकृति-प्रेम के साथ नारी का सौंदर्य, यह भी उनमें दिखाई देता है। उसके साथ उस समय की जो राजनीति है, जो क्रांतिकारी राजनीति है, गिरिजाकुमार उसके साथ बराबर आगे बढ़ रहे हैं। राजनीतिक कविताएँ बहुत लोगों ने लिखी हैं, मैंने भी लिखी हैं। नरेंद्र शर्मा ने उस समय बहुत अच्छी राजनीतिक कविताएँ लिखी थीं। शंकर शैलेंद्र ने बहुत अच्छी राजनीतिक कविताएँ लिखीं। नागार्जुन तो लिखते ही हैं, केदारनाथ अग्रवाल ने भी लिखी हैं।

गिरिजाकुमार माथुर की राजनीतिक कविताओं की विशेषता यह थी कि वे अपनी रूमानी कविताओं में जिस तरह की ऐंद्रिय सघनता लाते थे, उस तरह की सघनता वे अपनी राजनीतिक कविताओं में भी लाते थे। ऐसा बहुत कम कवि कर पाते हैं, चाहे भारत के कवि हों चाहे बाहर के हों। उसमें राजनीति इतना ऊपर रहती है कि कविता का जो इंद्रियबोध है या कवि का इंद्रियबोध है, जो ऐंद्रियता का आकर्षण है, जो मूर्ति विधान का सौष्ठव है, यह नीचे दब जाता है। गिरिजाकुमार माथुर ने इस दिशा में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की। इसलिए मैं चाहता हूँ कि वे लोग जो राजनीतिक कविताएँ लिखते हैं, वे उस समय के गिरिजाकुमार माथुर की जो 'नाश और निर्माण' में प्रकाशित कविताएँ हैं या अन्यत्र प्रकाशित कविताएँ हैं, उनका अध्ययन करें। मैं उनकी एक कविता जो उन्होंने निराला पर लिखी थी, आपको पढ़कर सुनाता हूँ, उसके कुछ अंश सुनाता हूँ यह बताने के लिए कि निराला को जिस दृष्टि से मैं देखता था, लगभग उसी दृष्टि से गिरिजाकुमार माथुर देखते थे। जिन्होंने 'राम की शक्तिपूजा' पढ़ी है, वे उसके छंद से परिचित होंगे- है अमा निशा उगलता गगन घन अंधकार', यह राम की शक्तिपूजा की पंक्ति है। गिरिजाकुमार कहते हैं-

गंगा तट का यह पांडु वर्ण मंगल प्रदेश।
है अमा निशा उगलता गगन घन अंधकार।

'राम की शक्तिपूजा' की पंक्ति उठा ली उन्होंने। वही छंद है, केवल जो अन्त्यानुप्रास है, उसे उन्होंने हटा दिया है। और यह कविता निराला को लक्ष्य करके उन्होंने लिखी है और निराला के साहित्य का जो संबंध है प्राचीन काव्य-परंपरा से,

ऋग्वेद और वाल्मीकि से चली आती हुई काव्य परंपरा से, उसको उन्होंने यहीं रेखांकित किया है–

गंगा तट का यह पांडु वर्ण मंगल प्रदेश,
सदियों पहले के मंत्रपूत रजकण जिसके
उस मिट्टी में से उठी एक ज्योतिरेखा जो खिंची रही
मुक्ताओं, फूलों, तारों तक जिसके रंगों में रची हुई थी
ग्रामधूप खेतों की उजली विशद प्रभा
जो रंग भवन की आभाएँ अनुरंजित कर
कवि सिंधु तुम्हारी स्वरडोरी का संबल ले
जन–जन के मन में बनी क्रांति की चिनगारी।
नव मानवता आ गई क्रांति के सिंहद्वार
निज काले कर्मों से था जो पंकिल समाज
जिसके पापों से संतापित तुम रहे
किंतु जिन क्रूर शक्तियों से तुम जूझे जीवन–भर,
उन महलों के दीपक अब बुझने वाले हैं
गिरता है उस समाज का अब विक्षत खंडहर।

यह निराला को लक्ष्य करके उन्होंने 1946 में लिखी थी। आज आप इसकी आलोचना में कह सकते हैं कि अभी इनका मोहभंग नहीं हुआ है। नवमानवता आ गई क्रांति के सिंहद्वार, यह सिंहद्वार कहाँ है, वह नवमानवता कहाँ है, उन महलों के दीपक अब बुझनेवाले हैं, कहाँ दीपक बुझे हैं, खूब जगमगा रहे हैं और गिरता है उस समाज का वह विक्षत खंडहर, वह खंडहर कहाँ गिरा है? भारत के रूप में अभी खड़ा हुआ है। ठीक है, ऐसा कौन–सा क्रांतिकारी कवि है जो किसी आदर्श को लेकर जो अभी हुआ नहीं, उसकी कल्पना लेकर जनता के सामने नहीं आता? यदि हो गया है तो वह क्रांति की तरफ बढ़ेगा क्यों? मोह है। लेकिन समझना यह है कि वह खंडहर, जिसे वह समझ रहे थे गिरेगा, गिराना बाकी है। उसे गिराना आपका काम है। कवि आपको प्रेरित करता है, आपको बता रहा है कि ऐसा हो सकता था। अब आप अपने अनुभव से देख रहे हैं कि हुआ नहीं। लेकिन इन पंक्तियों की प्रासंगिकता जितनी 1946 में थी, उससे ज्यादा 1994 में है। एक और कविता 'एशिया का जागरण' 1946 में लिखी थी। मैंने जो पहले कहा कि राजनीतिक कविता में मूर्ति–विधान की ऐंद्रिय सघनता हो, वह

इसमें दिखाई देती है। भारत उठ रहा है। सन् 1946 का क्रांतिकारी उभार है। भारत उठ रहा है, उसके साथ पूरा दक्षिण-पूर्वी एशिया उठ रहा है और साम्राज्ययाद का महल गिर रहा है-

अंगार बन गया आदि पूर्व
सदियों का धुँधला जंबुद्वीप
श्यामल कृतांतजा धरा उठी
लेकर जीवन का अग्निद्वीप।
जन अंबुधि की ये एक लहर
आसन्न क्रांति की दूत हुई।
वह महाशक्तियुग जीवन की
जन जीवन में संभूत हुई।

गिरिजाकुमार माथुर ऑल इंडिया रेडियो में काम कर रहे थे। उस समय उसका नाम आकाशवाणी नहीं था। ऑल इंडिया रेडियो में काम करते हुए उन्हें जो साम्राज्यवादी उत्पीड़न का अनुभव हुआ, उस पर उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी थीं :

मेरी छाती पर रखा हुआ साम्राज्यवाद का रक्त-कलश,
मेरी धरती पर फैला है, मन्वन्तर बनकर मृत्यु-दिवस

आपसे मेरा प्रश्न है कि ये बातें 1946 के लिए सही थीं। 1994 के लिए सही हैं या नहीं? मेरी छाती पर की जगह आप कह दीजिए, भारत की छाती पर। भारत की छाती पर साम्राज्यवाद का रक्त-कलश रखा हुआ है या नहीं? जो पंजाब में हो रहा है, जो कश्मीर में हो रहा है, उसके पीछे कहीं साम्राज्यवादी हाथ है या नहीं? क्लिंटन ने जो पत्र लिखा, जो इंडियन एक्सप्रेस में छपा, जो एक आतंकवादी अपना दफ्तर वहाँ अमरीका में बनाए हुए है, जिससे मिलकर काम करने की उन्होंने तमन्ना जाहिर की थी, यह साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का उदाहरण है या नहीं। और अभी दो दिन पहले हिंदुस्तान टाइम्स के प्रथम पृष्ठ के ऊपर यह समाचार प्रकाशित हुआ है कि सियाचीन के पास पाकिस्तानी फौज और अमरीकी फौज, ये मिलकर सैनिक अभ्यास करने जा रही हैं। आपके सिर के ऊपर अमरीका और पाकिस्तान सैनिक अभ्यास करते हैं और आप समझते हैं कि साम्राज्यवाद से न इन सारी आतंकवादी कार्रवाइयों का कोई संबंध नहीं है? भारत में बहुत-से लोग सम्प्रदायवाद के खिलाफ हैं। साम्राज्यवाद का नाश करना चाहते हैं। मेरा कहना है कि सम्प्रदायवाद के पीछे जो ताकत है, जिससे उसका भला

होता है, उसके बारे में आप क्यों नहीं सोचते? ऐसा कौन-सा दौर है भारत का जब सम्प्रदायवाद को साम्राज्यवाद ने शह न दी हो? आप साहित्य में देखें। 1800 के पहले भारत की कोई भाषा हो, और चाहे दरबारी साहित्य हो और चाहे दरबार के बाहर का साहित्य हो, हिंदू-मुसलमान आपको एक साथ दिखाई देंगे। पूर्वी बंगाल में बहुत साहित्य रचा गया है। उसके बाद व साहित्य का केंद्र उठकर पश्चिमी बंगाल में आता है। पंजाब में बहुत साहित्य रचा गया 1800 के पहले, 1800 के बाद यह शंका होने लगती है कि पंजाबी कोई भाषा है या नहीं। और पंजाब के बहुत सारे लेखक या तो अंग्रेजी लिखते हैं मुल्कराज आनंद की तरह या उर्दू लिखते हैं, राजेंद्र सिंह बेदी की तरह या हिंदी लिखते हैं यशपाल की तरह। पंजाब के लेखक जितना पंजाबी से जुड़े हुए थे 1800 के पहले, उतना है बाद में जुड़े हुए नहीं हैं। यह सब अंग्रेजी राज में न हुआ है।

सन् '51 में मैं कश्मीर में था और महजूर से मिलने गया। शेख अब्दुल्ला ने एक कमेटी बनाई थी कश्मीरी भाषा की लिपि सुधारने के लिए। उन्होंने कहा कि मैंने उस कमेटी से इस्तीफा दे दिया है। मैंने पूछा, क्यों? उन्होंने कहा कि ये कहते हैं कि जो उर्दू में लिपि है, इसी में सुधार करके तुम कश्मीरी भाषा की लिपि चलाओ। मैंने कहा (महजूर ने कहा)- शारदा लिपि हमारे यहाँ बरसों से चली आ रही है। हमारे यहाँ जो निकाह होता है, वह शारदा लिपि में ही लिखा जाता है। शारदा लिपि में जितने स्वर हैं, व्यंजन हैं, उतने किसी दूसरी लिपि में नहीं हैं। हम यह लिपि छोड़ने को तैयार नहीं हैं।

उन्होंने उस कमेटी से त्यागपत्र दे दिया। आप सिंधी भाषा को देखें। कितना साहित्य रचा गया अब्दुल लतीफ के जमाने में और उनके बाद। बाद में सिंधी भाषा की क्या दशा हुई है। 1800 के बाद भारत की तमाम भाषाओं में बहुत बड़े परिवर्तन हुए हैं और जिसे हम नया युग कहते हैं कि अंग्रेजों के आने के बाद हमारे साहित्य में आधुनिक युग शुरू होता है, आप जरा उसके पहले हिंदू-मुसलमान, सिख-हिंदू, सिख-मुसलमान, इस प्रश्न पर विचार करके देखिए कि एकता पहले ज्यादा है या बाद में ज्यादा है। और भी, इसी सिलसिले में एक बात। आज आरक्षण का सवाल बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल है। और मालूम होता है कि क्रांति की कोई जरूरत नहीं है। आरक्षण से सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं। कौन अगड़ी जातियाँ हैं, पिछड़ी जातियों में कौन कम पिछड़ी है, इस पर खूब बहस होती हैं और दंगे-फसाद की नौबत भी आ जाती है। मेरा प्रश्न यह है कि भारत की अनेक भाषाओं में, कश्मीर से लेकर

तमिलनाडु तक शूद्रों ने साहित्य में जितना भाग लिया है 1800 के पहले, क्या उसका शतांश भी, दशमांश भी क्या उन्होंने याद में लिखा है। इतना बड़ा भक्ति आंदोलन, लोकजागरण का इतना बड़ा आंदोलन, जिसकी तुलना के लिए यूरोप में कोई आंदोलन नहीं है, उसमें स्त्रियाँ आती हैं, शूद्र आते हैं, उच्च वर्णों के लोग भी आते हैं, मुसलमान आते हैं, इतनी बड़ी सांस्कृतिक निधि आपके पास है। और आप सम्प्रदाय से पीड़ित है। सम्प्रदायवाद से पीड़ित हैं तो इसमें कसूर किसका है? बुद्धिजीवियों को जो भूमिका निभानी चाहिए, यह भूमिका ये नहीं निभा रहे हैं। यूरोप के लोगों ने फ्रांस की राज्यक्रांति के पहले यहाँ जो भूमिका निबाही, रूस में रूसी क्रांति के पहले वहाँ के प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों ने जो भूमिका निबाही, उससे आप अपनी भूमिका की तुलना करें। हमने उसके लिए क्या किया? जो हम कर सकते हैं, वह यह है। जहाँ-जहाँ हिंदू-मुसलमान मिलकर शत्रु से लड़े हैं, उस इतिहास को जनता की चेतना का अंग बना देना। जैसे मैं हिंदी प्रदेश की बात करता हूँ-1857 में हिंदू-मुसलमान मिलकर लड़े, अवध में लड़े, बुंदेलखंड में लड़े, भोजपुरी क्षेत्र में लड़े, सारे हिंदी प्रदेश में लड़े। हिंदू-मुसलमान मिलकर लड़े।

कुछ लोग कहते हैं कि ये सब लोग सामंतवादी थे। अंग्रेजों की विजय से भारत को आगे बढ़ने का मौका मिला। ये लोग अगर जीत जाते तो भारत पिछड़ जाता। मेरा कहना है, ठीक है, ऐसा ही सही। आप यह बताइए कि अंग्रेजों का जो लोग साथ दे रहे थे उनमें भी हिंदू-मुसलमान दोनों थे कि नहीं थे? आप उन सामंतों की गौरव-गाथा गाइए जिन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया। वास्तव में अंग्रेजों का साथ देने वाले सामंत बहुत ज्यादा थे। निजाम हैदराबाद से लेकर गुलाब सिंह तक और भारत के बाहर राणा जंग बहादुर तक। भारत का तीन चौथाई सामंतवाद अंग्रेजों के साथ था। एक चौथाई सामंतवाद अंग्रेजों के खिलाफ था। सामंत हिंदू-मुसलमान के आधार पर विभाजित नहीं थे और भी, 1947 के पहले किसी देशी रियासत में हिंदू-मुसलमान दंगे नहीं हुए। कश्मीर में हिंदू राजा था और बहुसंख्यक प्रजा मुसलमान थी। वहाँ हिंदू-मुस्लिम दंगे नहीं हुए। हैदराबाद में मुसलमान राजा था और बहुसंख्यक प्रजा हिंदू थी। वहाँ हिंदू-मुसलमान दंगे नहीं हुए। लेकिन वहाँ जव सामंतों के विरुद्ध आंदोलन चला तो हमारे नेताओं ने कहा कि आंदोलन चलाने की जरूरत नहीं है। हम शांति से इस समस्या का समाधान कर लेंगे और शांति से उन्होंने समस्या का जो समाधान किया, उसका परिणाम यह हुआ कि कश्मीर में जहाँ पहले हिंदू-मुसलमान के भेद का पता न चलता

था, उस कश्मीर में अब जाना मुश्किल हो गया है। मैं सन् 51 में कश्मीर में था और मैं एक मित्र के घर में ठहरा हुआ था। पड़ोस में जनेऊ के गीत हो रहे थे। मैंने पूछा कि जनेऊ के गीत जो गाए जा रहे हैं, इन्हें किसने लिखा है? तो मेरे मित्र बंशीलाल निर्दोष ने कहा कि ये गीत महजूर ने लिखे हैं। आप कल्पना कर सकते हैं कि आज कश्मीर में कोई मुसलमान कवि ऐसे गीत लिखे जो हिंदुओं के त्योहारों में, उत्सवों में गाए जाएँ? कितना बड़ा विभाजन आज हो गया है। हमारे देखते-देखते हुआ है। मैं चाहता हूँ कि हमारे साथी बुद्धिजीवी यह बात समझें कि जहाँ-जहाँ हिंदू-मुसलमान मिलकर शत्रु से लड़े हैं वह कोई भी शत्रु हो, चाहे घर का शत्रु हो, चाहे बाहर का शत्रु हो, उस संघर्ष को जनता की चेतना में उतारना उनका काम है।

हम राष्ट्रीय एकता की बात करते हैं। हमारे सामने हिंदू-मुसलमान की एकता का सवाल रहता है। भारत में मुसलमान रहते हैं, भारत में हिंदू रहते हैं, यह बात बिल्कुल सही है। लेकिन बंगाल का मुसलमान और महाराष्ट्र का मुसलमान, दोनों की संस्कृति का प्रचार होगा तो हिंदू संस्कृति का प्रचार भी होगा। तब सिख संस्कृति का प्रचार भी होगा। इस्लाम की संस्कृति, अरबों की संस्कृति वही है जो तुर्कों की है? तुर्कों ने अरब सभ्यता का नाश किया, ईरान की सभ्यता का नाश किया। तुर्क भी मुसलमान थे, अरब भी मुसलमान थे। ईरानी मुसलमान थे। पठान भी मुसलमान थे। भारत के मुसलमान भी मुसलमान हैं। इस्लाम एक धर्म है। हिंदू एक धर्म हो सकता है। जो लोग मानते हों, हिंदू धर्म है, वे मानें। हिंदू संस्कृति कोई चीज नहीं है। भारत में जो एकता है और जो एकता होनी चाहिए, वह यहाँ जातियों की एकता है। जब हम जाति शब्द का प्रयोग करते हैं तो अक्सर लोग जाति-बिरादरीवाली जाति का बोध करते हैं। बाँग्ला, मराठी आदि भाषाओं में नेशनैलिटी के लिए कौम के लिए, जाति शब्द का प्रयोग बराबर होता है। भारत के बाहर जो भाषाएँ बोली जाती हैं, सिंहल वगैरह, उनके अंदर भी जाति शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग होता है। मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूँ, वह यह है कि हम हिंदुओं, मुसलमानों या विभिन्न संप्रदायों को जब तक प्रदेशगत जाति के आधार पर एक नहीं करेंगे, तब तक हम राष्ट्रीय एकता को मजबूत नहीं कर सकते। हमारा जो लखनऊ का नागरिक है या न दिल्ली का नागरिक है, उसकी निष्ठा अपने संप्रदाय के प्रति है, अपनी जाति-बिरादरी के प्रति है, वह हिंदी प्रदेश के बारे में नहीं सोचता। लेकिन बंगाल में यह स्थिति नहीं है। तमिलनाडु में यह स्थिति नहीं है, महाराष्ट्र में यह स्थिति नहीं है। महाराष्ट्र का आदमी

जानता है कि मैं मराठी भाषी हूँ, मराठी मेरी जाति है। तमिलनाडु का आदमी और भी अच्छी तरह जानता है, बंगाल का आदमी यह बात बहुत अच्छी तरह जानता है। जो हिंदीभाषी प्रदेश है, यहाँ के आदमी को जानना चाहिए कि हिंदू-मुसलमान किस आधार पर एक होंगे। या तो वर्ग के आधार पर एक हों, हिंदू-मुसलमान मजदूर मिलकर अपना वर्ग संगठन बनाएँ, लेकिन हमारे जो बुद्धिजीवी भद्रजन हैं, वे तो वर्ग के नाम से बहुत दूर भागते हैं। समझते हैं कि वर्ग-संघर्ष हुआ ता सर्वनाश हो जाएगा। अच्छा, वर्ग को आप दूर रखिए। फिर किस आधार पर वे एक होंगे? वे जातीयता के आधार पर ही एक हो सकते हैं। यह एक अवसरवाद की बात नहीं है कि इससे लाभ उठाना चाहिए। ऐतिहासिक वास्तविकता यह है कि विभिन्न वर्ग मिलकर एक जातीय संस्कृति का निर्माण करते हैं। जैसे भाषा। तो पंजाबी भाषा है, बाँग्ला भाषा है, वह न केवल हिंदुओं की भाषा है, न मुसलमानों की भाषा है, दोनों की भाषा है। ऐसे ही हिंदी भाषा है। यह केवल हिंदुओं की भाषा नहीं है. मुसलमानों की भाषा भी है। हमारे हिंदी प्रदेश की अनेक समस्याएँ हैं। इनमें हिंदी-उर्दू की समस्या भी है। सौभाग्य से ऐसी समस्या बंगाल में नहीं है। हालाँकि वहाँ मुसलमानों की संख्या बहुत ज्यादा है। जो पूर्वी बंगाल में रहते हैं। लेकिन पूर्वी बंगाल का मुसलमान और पश्चिमी बंगाल का हिंदू, इनमें भापा का भेद नहीं है। हमारे यहाँ जैसा भाषागत भेद है, वैसा नहीं है। मेरा कहना यह है कि हिंदी क्रियाओं के बिना आप उर्दू का एक वाक्य नहीं बोल सकते और उर्दू क्रियाओं के बिना आप हिंदी का एक वाक्य नहीं बोल सकते। आप इनको अलग भाषाएँ मानते हैं। मुझे दुनिया की कोई दो भाषाएँ बता दीजिए जिनके सारे क्रियापद सौ फीसदी एक हों। यह बुनियादी एकता है हिंदी-उर्दू की। यह जनता की एकता है जिसे हमें आगे बढ़ाना है। हमारे बुद्धिजीवियों को समझना है कि उन्होंने जो साहित्य का ताजमहल बनाया है, अगर यह नींव से बहुत दूर चला जाएगा तो वह ढह जाएगा, यह गिर जाएगा। जो बुनियादी एकता है, जहाँ हिंदू-मुसलमान एक हैं, जो एक भाषा बोलते हैं, जहाँ बोलचाल का फर्क नहीं, वह एकता हमें साहित्य के अंदर लानी है। यह कार्य बहुत ही दुष्कर मालूम होता है लेकिन अगर प्रयत्न किया जाए तो यह भी सरल हो सकता है।

मेरी किताबें। बहुत-सी किताबें मार्क्सवाद से संबंधित हैं। मेरा काम करने का ढंग ऐसा है कि एक विषय पर लिखता हूँ, फिर उसके बारे में सोचता रहता हूँ। दस साल बाद फिर उसके बारे में लिखता हूँ, कभी उसी को संशोधित करता हूँ, कभी

दूसरी किताब लिखता हूँ। कुछ स्थापनाएँ मार्क्स की ऐसी हैं जो मुझे परेशान करती थीं। अब मैं परेशान नहीं होता। मैं समझ गया हूँ कि वह ऐसा क्यों कहते थे। भारत, ग्राम समाजों का देश है, और अंग्रेजों के आने से पहले भारत में कोई सामाजिक क्रांति नहीं हुई, यह बात उन्होंने 1853 के लेखों में कही थी। 1949 में मैंने एक लेख लिखा था जो कम्युनिस्ट नाम के अंग्रेजी पत्र में छपा था। उसमें मैंने कहा था कि हिंदुस्तानी एक कौम है, और वह बिहार से लेकर मध्य प्रदेश तक फैली हुई है। इसकी एक सामान्य भाषा है। जो हमारे बोली के क्षेत्र हैं, जैसे भोजपुरी क्षेत्र या अवधी का क्षेत्र, ये स्वतंत्र जातियों के क्षेत्र नहीं हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं, वह गलत कहते हैं। हिंदी जाति की धारणा–यह सन् '49 में मैंने प्रस्तुत की थी। उसके बाद मैं प्रगतिशील लेखक संघ में बहुत दिन तक काम करता रहा। भारत के अनेक भाषाओं के लेखकों से मिलने का अवसर मिला। मेरे सामने कुछ व्यावहारिक प्रश्न आए। भाषा और बोली में क्या फर्क है? भारत की भाषाओं का विकास कैसे हुआ? भारत में अंग्रेजी रहनी चाहिए या अंग्रेजी के चले जाने पर ही यहाँ की भाषाओं का विकास होगा? मैंने एक पुस्तक लिखी 'भाषा और समाज' जो 1961 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक लिख गई और इसके सूत्र मैं पकड़े रहा।

उसके बाद मुझे कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी विद्यापीठ के निदेशक पद पर कार्य करने का अवसर मिला। यहाँ बहुत अच्छी लाइब्रेरी थी, जिसका लोग उपयोग न करते थे। बाहर से लोग भाषाविज्ञान पढ़ने वहाँ आते थे और कहते थे कि ऐसी लाइब्रेरी न तो अलीगढ़ में है, न पूना में है। मैंने सोचा कि इस लाइब्रेरी से लाभ उठाना चाहिए। मैंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन शुरू किया। 'भाषा और समाज' में जी काम बीजरूप में था, उसे मैंने आगे का बढ़ाया। मैंने पुस्तक का नाम रखा–भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी। जो यहाँ के चार बड़े भाषा परिवार हैं, वे आपस में जुड़े हैं। हिंदी क्षेत्र की जो भाषा है, उसका विकास उस तरह नहीं हुआ जैसा लोग समझते हैं कि संस्कृत बिगड़कर प्राकृत बनी, प्राकृत से अपभ्रंश आई, अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी या जनपदीय भाषाओं का विकास हुआ। ऐसा नहीं हुआ। मैंने उसमें यथासंभव तथ्य संग्रह करके यह बताया कि ये भाषा परिवार जितने अलग दिखाई देते हैं, उतने अलग हैं नहीं। साथ ही यह समझना कि एक मूल भाषा है, परिवार की सब भाषाएँ उसी से उत्पन्न हुई हैं, यह बात भी सही नहीं। मेरी धारणा का आधार यह है कि समाज पहले गण, व्यवस्था में रहता है, गण समाजों में बँटा रहता है, कबीलों में बँटा

रहता है। ये कबीले अलग-अलग भाषाएँ बोलते हैं। यूनान की भाषाओं का अध्ययन करके मैंने यह देखा कि वहाँ दोरिक भाषा का ध्वनि-तंत्र अलग है, जो अतिक भाषा आगे चलकर मानक ग्रीक भाषा बनी, उसका ध्वनि-तंत्र दूसरा है। होमर ने जिस भाषा में काव्य लिखा था, वह इओनिक भाषा लघु एशिया में बोली जाती थी, उसका ध्वनि-तंत्र दूसरा है। इनमें व्याकरण-भेद है। सौभाग्य से यूनान में बहुत पुराने शिलालेख मिलते हैं पहली सहस्राब्दी ईसा पूर्व के। उनमें इन भाषाओं की विविधता दिखाई देती है। हमारे यहाँ वैदिक भाषा के समानांतर यहाँ जो अन्य बोलियाँ बोली जाती थीं, उनके अभिलेख नहीं मिलते। इसलिए लोग समझते हैं कि जितनी भाषाएँ हैं, वे सब वैदिक भाषा से उत्पन्न हुई हैं। खैर! उन सब बातों पर विचार करके मैंने एक पुस्तक लिखी- ''भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी।'

गिरिजाकुमार ने एक बात कही थी -

साम्राज्यवाद का रक्त-कलश, वह किसी-न-किसी रूप में मेरे मन में बराबर रहती है। भाषाविज्ञान में काम करने की एक प्रेरणा यह थी कि पाश्चात्य विद्वान कहते थे कि भारत का कोई भी भाषा परिवार भारत का नहीं है। जो आर्य भाषा परिवार है, संस्कृत से लेकर हिंदी तक, उसकी भाषाएँ बोलने वाले तो बाहर से आए ही थे। मैंने एक चीज पकड़ी। भारत की जो आर्य भाषाएँ हैं, उनकी बहुत बड़ी विशेषता है जो भारत के बाहर कहीं नहीं दिखाई देती। न प्राचीन भाषाओं में दिखाई देती है, न आधुनिक भाषाओं में। यह है सघोष महाप्राण ध्वनियों का व्यवहार। घ, ध, भ ये ध्वनियाँ हमारी भाषाओं में ही हैं। ब्राता, फ्रातेर, ब्रात्, ब्रदर, बिरादर-भ के ब, फ - ये रूपांतर बाहर मिलेंगे, लेकिन भ न मिलेगा। विद्वान यह मानते हैं कि मूल ध्वनि भ ही है। यह भी मानते हैं कि मूल ध्वनि भारत में है। लेकिन वे यह न स्वीकार करेंगे कि भारत इन शब्दों का स्रोत रहा है। वे कहेंगे कि एक इंडो-यूरोपियन भाषा थी पहले, और उसमें 'भ' का व्यवहार होता था और वह किसी कारण भारत में रह गया और बाहर भी सर्वत्र वह कहीं 'फ' बन गया, कहीं 'प' बन गया कहीं 'ब' बन गया। आप सोचिए कि भारत में द्रविड़ लोग रहते हैं-जो भ से दूर हैं। भारत में नागलोग रहते हैं उनके यहाँ सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं। यहाँ जो मुंडा, कोल परिवार हैं, उसके अंदर भी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं। ऐसे विरोधी वातावरण में ये घ, ध, भ ध्वनियाँ, जो वैदिक काल से अब तक चली आ रही हैं, बच कैसे गईं? यह एक धुरी है, एक आधारशिला है जिसके बल पर मैं कहता हूँ कि भाषा-तत्त्वों का निर्यात भारत

से बाहर हुआ है। आयात भी हुआ है लेकिन जिसे तुम इंडो-यूरोपियन फैमिली की शाखा कहते ही, इंडो-ईरानियन कहते हो, इंडो-आर्यन कहते हो, यह व्यर्थ है। भाषा-तत्त्व यहाँ से गए हैं और एक गण के नहीं गए हैं, अनेक कबीलों के भाषा-तत्त्व बाहर गए हैं। यही कारण है कि यूरोप की भाषाओं से हमारा संबंध तरह-तरह का है। साम्राज्यवाद कहता है कि तुम्हारा कोई भाषाई रिक्थ नहीं है। मैं कहता हूँ हमारा भाषाई रिक्थ है, हमारे भाषा-परिवारों के आपसी संबंध समझे बिना तुम यूरोप की भाषाओं का विकास नहीं समझ सकते।

कुछ लोगों ने दर्शन साहित्य पर लिखना शुरू किया। सुरेंद्रनाथ दासगुप्त ने जो भारतीय दर्शन का इतिहास लिखा है, उसके आरंभ में उन्होंने बताया है, कैसे यूरोप के लोग कहते हैं कि भारत का कोई दर्शन नहीं है। भारत में देवकथाएँ हैं, मिथक हैं, काव्य है और धर्म तो है ही। लेकिन विवेकसम्मत दर्शन भारत में नहीं है। आपके पास कोई भाषाई रिक्थ नहीं है, आपके पास कोई दार्शनिक रिक्थ नहीं है। सिकंदर ने आकर पहले-पहल आपको पाश्चात्य सभ्यता से परिचित कराया। फिर अंग्रेज आए बहुत दिन बाद और उन्होंने आपको ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश दिया। मैंने दर्शन का अध्ययन शुरू किया। कुछ दिन पढ़ने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि बिना ऋग्वेद को पढ़े हुए भारतीय दर्शन के विकास को नहीं समझा जा सकता। मैंने ऋग्वेद पर लिखा। जब एक पुस्तक में सामग्री नहीं आती तो मैं दूसरी पुस्तक बनाता हूँ और दूसरा पक्ष ले लेता हूँ। ऋग्वेद का देवतंत्र, ऋग्वेद की देवकथाएँ, और पुरातत्त्व, हड़प्पा काल का, उसके समानांतर या उससे पहले सुमेर का, मितन्नी राज का, हित्ती राज का, पुरातत्त्व में बहुत सामग्री प्राप्त है। उस सामग्री के अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनकी व्याख्या केवल ऋग्वेद के आधार पर ही होती है। मैंने अपनी पुस्तक का नाम रखा 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' बहुत संक्षेप में बताना चाहता हूँ कि ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी मानवता के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह वह समय है जब भारत के आर्यगण पश्चिम एशिया में फैलते हैं। फिलस्तीन, इसरायल वगैरह के पास पूरे पुस्तकालय मिले हैं, जिनमें आर्यों के नाम मिलते हैं। प्रिचार्ड ने एक पुस्तक संपादित की है-'निअर ईस्टर्न टेक्ट्स फॉर द स्टडी ऑफ ओल्ड टेस्टामेंट।'

ओल्ड टेस्टामेंट की-पृष्ठभूमि जानने के लिए उन्होंने मिश्र, सुमेर आदि के तमाम दस्तावेज उसमें इकट्ठे किए। भारत को वह छोड़ देते हैं। उनमें उन्होंने बहुत जगह लिखा है, ये नाम भारतीय सामंतों के हैं। और वे यह मानते हैं कि भारतीय सामंत भारत

जाएँगे और वहाँ अपना राज्य स्थापित करेंगे। लेकिन एक विद्वान ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि ये भारतीय आर्य हैं जो बाहर आकर बसे थे। एक विद्वान् है जिनका नाम है गर्ने। उन्होंने एक किताब लिखी है 'द हिटाइट्स'। लाख टके की किताब है। जो आज का इराक है, वहाँ मितन्नी राज्य था। उन्होंने कहा है कि यह मितन्नी राज्य भारतीय आर्यों ने यहाँ कायम किया था। वह जो घोषणा करते हैं, उसका एक अकाट्य प्रमाण देते हैं। कहते हैं कि ऋग्वेद में जिस रथ का वर्णन है, उसके पहिए में अरा लगे हैं, उसमें स्पोक्स हैं। जो रथ सुमेर में बनते थे, उनमें अरा न होते थे। सुमेर के रथ ठोस होते थे, भारी होते थे। भारतीय रथ ने युद्ध-कौशल में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। मितन्नी वह क्षेत्र था जहाँ से ये रथ मिस्त्र को निर्यात किए गए। गर्ने मानते हैं कि आर्य लोग पश्चिमी एशिया में भारत से आकर बसे थे। पिगॉट, एडिनबरा के पुरातत्त्वज्ञ, ने भारत पर एक अच्छी पुस्तक लिखी है- 'प्रिहिस्टारिक इंडिया'। वे मानते हैं-आर्यों ने बाहर से आकर भारत में प्रवेश किया। लेकिन वह भारतीय रथ की यात्रा का जो वर्णन करते हैं, वह बहुत दिलचस्प है। कहते हैं कि भारतीय रथ, अरायुक्तरथ 1500 ई.पू. में मिस्त्र पहुँचा। 1000 ई.पू. में यह हित्तियों के राज में पहुँचा। यहाँ ठहरकर ट्राय पहुँचा जहाँ होमर के महाकाव्य की लड़ाई हुई थी। फिर वह दक्षिण यूरोप होता हुआ मध्य यूरोप और उत्तरी यूरोप पहुँचा। जब उत्तरी यूरोप पहुँचा, तब समय था 500 ईसा पूर्व। एक हजार साल लगे इस रथ को एशिया से उत्तरी यूरोप तक पहुँचने में। यह बात पिगॉट ने कही। यह तथ्य इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि भाषा-तत्त्वों का निर्यात भारत से पश्चिम की ओर हो रहा था, वहाँ से उन तत्त्वों का, कम-से-कम उतना, निर्यात न हो रहा था। यह निर्यात एक बार नहीं हुआ, अनेक बार हुआ। जिसे हम इंडो-यूरोपियन परिवार कहते हैं, जहाँ बहुत-से सामान्य तत्त्व दिखाई देते हैं, वह दूसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व की रचना है। उस समय का पुरातात्त्विक अध्ययन करें तो उसमें ये सारी चीजें आपको दिखाई देंगी। ये बातें मैंने 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' पुस्तक में लिखीं।

फिर मैंने देखा, दार्शनिक पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक पुस्तक और लिखी- 'भारतीय नवजागरण और यूरोप'। इसमें मुख्यत: मैंने सुकरात से पहले के जो दार्शनिक हैं, उनका अध्ययन किया। उपनिषदों की विचारधारा से जो उनका साम्य है, उसका अध्ययन किया। उपनिषद् कहने से लोग समझते हैं कि यह शंकराचार्य का वेदांत है। शंकराचार्य के वेदांत और उपनिषदों में काफी अंतर है। उसका एक प्रमाण तो यही है कि माधवाचार्य ने जो सर्वदर्शन संग्रह बनाया, उसमें चार्वाक पंथ, नास्तिक

मत, का एक विवेचन किया है। उसमें उन्होंने बृहदारण्यक, उपनिषद् से एक मंत्र उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि शरीर के मरने के बाद आत्मा नहीं रहती। वहाँ मनुष्य की समाप्ति हो जाती है। उपनिषदों में ऐसी चीजें भी हैं जो घोर भौतिकवाद का समर्थन करती हैं और यह बात चौदहवीं सदी के लोग जानते थे। अस्तु, यूनानी दर्शन और भारतीय दर्शन इनका समानांतर अध्ययन, और इस अध्ययन का प्रधान कारण यह था कि मार्क्सवाद की जो दार्शनिक पृष्ठभूमि है, वह यूनान से शुरू होती है। भारत को छोड़ देते हैं। मार्क्स और एंगेल्स जीवित थे, तब ऋग्वेद का काफी अनुवाद हो गया था। जब-जर्मन, फ्रांसीसी और अंग्रेज भी ऋग्वेद के ऊपर काफी काम कर रहे थे। हीगल ने कोलबुक का हवाला दिया है, बताया है कि भारतीय दर्शन में सांख्य ऐसा है, योग ऐसा है, वैशेषिक ऐसा है। इन दर्शनों का उल्लेख हीगल ने दर्शनशास्त्र के इतिहास पर अपने व्याख्यानों में किया है। लेकिन किसी कारण मार्क्स और एंगेल्स को ये चीजें देखने का अवसर नहीं मिला और भारत के दार्शनिक विकास से वे अपरिचित थे। मेरा कहना यह है कि यदि हमें मार्क्सवाद को मजबूत करना है, और मेरा विश्वास है कि उसे मजबूत करना चाहिए, तो हमें यूनान के दर्शन के साथ भारतीय दर्शन का अध्ययन भी करना चाहिए। यहाँ के तर्कशास्त्र का भी अध्ययन करना चाहिए। इसलिए मैंने यह पुस्तक लिखी।

मार्क्स की एक धारणा का जिक्र मैंने किया है कि भारत ग्राम समाजों का देश है। मैंने इसे अस्वीकार किया। एक दूसरी धारणा है जिसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया लेकिन वह उनके लेखन में विद्यमान है। वह है व्यापारिक पूँजीवाद की धारणा। औद्योगिक पूँजीवाद को लेकर उन्होंने 'कैपिटल' ग्रंथ लिखा था। लेकिन उस ग्रंथ को लिखते समय तथा अन्य रचनाओं में उससे पहले की जो स्थिति है, उसका उल्लेख उन्होंने बराबर किया है। शेक्सपियर और मिल्टन मध्यकाल के लोग नहीं थे। फ्रांस में जब राज्यक्रांति हुई, तब मध्यकाल नहीं था। औद्योगिक क्रांति तो 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई थी। उससे पहले क्या है? मध्यकाल और औद्योगिक क्रांति के बीच में क्या है? मेरा कहना है कि यह व्यापारिक पूँजीवाद का युग है। इस व्यापारिक पूँजीवाद की धारणा को मैंने अनेक जगह रेखांकित किया है। भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद उसके अंदर, मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' उसके अंदर और एक तीसरी पुस्तक है 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' उसके अंदर मैंने उसका विवेचन किया है।

अपनी किताबों के बारे में इतना कह दिया, बहुत है। अपने बारे में दो-चार शब्द। मेरा जन्म अवध के एक गाँव में हुआ था। हमारे गाँव में बहुत से लोग फौजी थे। मेरे दादा और परदादा दोनों फौज में थे। 1857 में मेरे बाबा 12-13 साल के थे। गाँव के किनारे से एक नाला बहता था टेढ़ा-मेढ़ा और काफी गहरा। उन्होंने मुझे दिखाया था कि देखो-जब यहाँ अंग्रेजी फौज आई थी तो मैं इस जगह छिपा था। खैर, वह तो छिपे थे, बच गए। जो हमारे ननिहाल के लोग थे, ये बहुत दबंग थे। उनमें एक लाऊ पहलवान थे। वे सारे जिले में प्रसिद्ध थे। उनके बारे में कहा जाता है कि 1857 में वे कानपुर के अंदर थे। जब वहाँ लड़ाई हुई तो वह वहाँ मौजूद थे। 1858 में जब अंग्रेजों ने अवध में कूच किया और बहुत से गाँव जलाए, तब वे अपने घर में थे। उनका घर अंग्रेजों ने घेर लिया। लोग बताते हैं, वे घर में अकेले थे और उनकी माँ थीं। उन्होंने माँ को पीठ पर चढ़ाया। धोती से उन्हें बाँधा, अटारी पर चढ़े और बगल में पेड़ था, पेड़ की डाल पकड़ी और कूदकर वहाँ से भाग गए। अंग्रेजों ने कुल्हाड़ी से उनके दरवाजे तोड़े, उनके निशान मैंने देखे हैं। लेकिन वह लाऊ को पकड़ नहीं पाए। लाऊ के बारे में मेरे बाबा बताते थे, वे कभी शर्बत पीने आते थे और यदि लोटा-भर शर्बत दिया जाए तो कहते थे, यह किसके लिए लाए हो? घड़ा भरकर लाओ। तो घड़ा भरकर शर्बत आता था, उसे यूँ उठाकर वह ओक से पी जाते थे। उनका एक किस्सा भी मैंने सुना है। एक बार वह बकरियों को सेंगरी खिला रहे थे। बबूल की डाल पकड़कर उन्होंने झुका रखी थी और बकरियाँ सेंगरी खा रही थीं। एक पहलवान कहीं बाहर से आया। उसने पूछा, लाऊ पहलवान कहाँ रहते हैं? उन्होंने कहा- ''लाऊ के बारे में क्यों पूछ रहे हो?'' कहने लगे- इसलिए पूछ रहे हैं कि हम उनसे कुश्ती लड़ना चाहते हैं। कहने लगे-बहुत अच्छा है। तुम थोड़ी देर यह डाल पकड़े रहो, मैं अभी बुलाकर लाता हूँ। तो उसने डाल पकड़ी और लटकता हुआ ऊपर पहुँच गया।

हमारे गाँव में, और पूरी जवार में हर गाँव में, चार-पाँच आदमी ऐसे होते हैं जिन्हें बहुत-सी कविताएँ याद रहती हैं- पुरानी कविताएँ, गीत, भजन, कवित्त, सवैया। शुरू में मैंने जो कविताएँ सुनीं, वे अपने बाबा से सुनीं। एक कवित्त वह कहते थे जिसमें राणा बेनीमाधव का जिक्र आता था- लैको वीर बाना, असवार भयो राना। घोड़े पर चढ़कर राणा बेनीमाधव अंग्रेज से लड़ने चले। वहाँ एक गीत बाद में मैंने सुना। वह भी प्रचलित है-अवध में राना भयो मर्दाना। तो इस तरह के गीत मैंने बचपन में सुने थे। जब मैं झाँसी आया। तो वहाँ की विशेषता यह थी कि कहीं भी खड़े हो, वहाँ

से किला दिखाई देता था। हम स्कूल जाते थे तो किला देखते हुए जाते थे। जब इंटरमीडिएट कॉलेज में जाते थे, तब भी हम किला देखते हुए जाते थे। हमारे एक मास्टर साहब थे रुद्रनारायण। पतली-सी नाक और बहुत दिलेर आदमी थे। उन्होंने कलाई-पंजा लड़ाना मुझे सिखाया था। वे हमें ड्राइंग सिखाते थे, क्ले मॉडलिंग सिखाते थे, मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना सिखाते थे और पेंसिल से चित्र बनाना सिखाते थे। उनकी क्लास में पता न चलता था कि घंटा कब खत्म हुआ। जितनी देर तक इच्छा हो, बैठे रहो, उनसे गप्पें मारते रहो। उन्होंने बताया कि टौरियों पर दौड़कर ऐसे चढ़ना चाहिए। स्वयं भी दौड़ लगाते थे। सरस्वती पाठशाला के सामने टौरिया थी, उस पर दौड़कर चढ़ते थे। कहते थे, डरो नहीं, एकाध बार गिरोगे, चोट लगेगी, फिर ठीक हो जाओगे। दौड़ो, उसके ऊपर चढ़ो। मैं सदर बाजार में रहता था। वहाँ अंग्रेजों की छावनी थी। वहाँ पहाड़ियों पर चढ़कर मैं सूर्यास्त देखा करता था। किले से तोप छूटती थी। मैं उस तोप की आवाज का इंतजार करता था। मैं कल्पना करता था, सूरज डूब रहा है, रानी, लक्ष्मीबाई तलवार लिए निकल रही हैं, अंग्रेजों से युद्ध हो रहा है। इस पर मैंने एक कविता लिखी थी जो 'रूप-तरंग' में है।

हमारे एक गुरु थे-प्रफुल्ल कुमार चटर्जी। बनारस में बहुत दिन रहे थे। जब तक जीवित रहे, उनसे बराबर मेरा संपर्क बना रहा। वह इतिहास भी पढ़ाते थे, यद्यपि उन्होंने मुझे इतिहास नहीं पढ़ाया। अंग्रेजी पढ़ाते थे। लेकिन इतिहास की बहुत-सी पुस्तकें उन्होंने पढ़ने को दी थीं। 1857 के बारे में बहुत-सी जानकारी 1928 में, हाईस्कूल में पढ़ते समय, प्रफुल्ल कुमार चटर्जी की कृपा से हुई। मैंने अंग्रेजी में जो पहली पुस्तक लिखी, वह उन्हीं को समर्पित की थी। वे उससे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, ''मैं एक छोटे स्कूल का शिक्षक और तुम तो यूनिवर्सिटी में पढ़ा चुके हो। तुमने किसी और गुरु को यह पुस्तक समर्पित नहीं की। यह पुस्तक मुझे समर्पित की। वे बाँग्ला में भी लिखते थे। उनके जो लेख छपे थे, उनको जिल्द बँधवाकर अपने पास रख लिया था। वह मुझे दिखाते थे और कहते थे-देखो, यह मैंने बाँग्ला में लिखा है। ऐसे ही तुमको हिंदी में लिखना चाहिए। बहुत दिन बाद में झाँसी गया। प्रफुल्ल कुमार चटर्जी ने कहा कि आज तुमको स्कूल में भाषण देना है। वह मेरे लिए बहुत ही कठिन समय था। जहाँ मैं बचपन में पढ़ा था, जहाँ मेरे गुरुजन बैठे थे, वहाँ भाषण करना था। खैर, जो समझ में आया, मैं वहाँ बोला। श्रोताओं में वृंदावनलाल वर्मा भी बैठे हुए थे। मेरे भाषण के बाद चटर्जी मास्टर साहब उठे। बोले कि मैं इससे कहता था कि

मातृभाषा की सेवा करना और मुझे बड़ी खुशी है कि इसने वह कर दिखाया और उसके बाद उनका गला भर आया और वे चुपचाप बैठ गए। ऐसे थे हमारे गुरु प्रफुल्ल कुमार चटर्जी।

झाँसी के बाद जब मैं लखनऊ गया तो मुझे मालूम होता था कि यहाँ सीखने के लिए बहुत कम चीजें हैं। जो मैंने झाँसी में सीख लिया, उसके आगे मैं यहाँ नहीं सीख सकता। लखनऊ आने पर एक खास बात हुई कि मैं छः महीने मजदूरों की बस्ती में रहा। छितवारपुर में हीरालाल कुम्हार का हाता है। वहाँ मैंने डेरा डाला।

कारण यह था कि मेरे ससुर लोको वर्कशॉप में काम करते थे। वहाँ मजदूरों की जिंदगी को बहुत नजदीक से देखने का अवसर मुझे मिला। वहाँ से निकलने के बाद मैं लालकुएँ के आसपास ही रहता रहा और वहाँ मजदूरों की काफी बस्ती थी। उस समय बहुत-से ट्रेड यूनियन नेता मजदूरों की सभाएँ करते थे। उनके भाषण सुनने में भी चला जाता था। क्रमशः मार्क्सवाद से मेरा परिचय हुआ और मैं कम्युनिस्ट पार्टी में आया। सन् 1945-46 में जब प्रगतिशील लेखक संघ का विघटन शुरू होता है, उससे पहले डलेस ने विश्व पैमाने पर कम्युनिस्ट-विरोधी अभियान चलाया था। उस अभियान में सरदार वल्लभभाई पटेल शामिल थे। चौपाटी में सभाएँ होती थीं और वहाँ से जत्थे-के-जत्थे आते थे और कम्युनिस्ट पार्टी के हेडक्वार्टर पर हमला करते थे। एक बार मैं वहाँ मौजूद था। लोगों ने पार्टी-दफ्तर में आग लगाने की कोशिश की। पूरनचंद जोशी पार्टी के जनरल सेक्रेटरी थे। वे वहाँ मौजूद थे। इकबाल सिंह को उन्होंने जत्थों का नेतृत्व दे रखा था। ये जत्थे लाठी लेकर नीचे उतरते थे, बाहर निकलकर आक्रमण करते थे, फिर भागकर अंदर आ जाते थे। उस समय यह दृश्य मैंने देखा। कोई मुझे आसानी से समझा नहीं सकता कि कांग्रेस की दमन-नीतियों से नहीं, संकीर्णतावाद की वजह से प्रगतिशील लेखक संघ टूट गया। इस पर बहुत बहस हुई है, लेकिन जो मैंने देखा, वह आपको बता रहा हूँ।

लखनऊ के बारे में एक बात और। जब मैंने पढ़ाना शुरू किया तो क्लास में बहुत लड़के ऐसे थे जो उम्र में मुझसे बड़े थे। उनमें बहुत-से ताल्लुकदारों के घरों से आए थे। वे अध्यापकों को कुछ समझते नहीं थे। उन्हें तरह-तरह से तंग करते थे। लड़कियाँ बहुत ज्यादा तो नहीं थीं। 100 लड़के हैं तो 5-6 लड़कियाँ हैं। लेकिन वे कागजों में कुछ लिखकर चुपके से उनकी साड़ी में पिन लगाकर खोंस देते थे। फिर खूब हँसते थे। अध्यापक की समझ में न जाना था कि क्या हो रहा है। मैंने तय किया

कि इन लड़कों को मैं परेशान नहीं करने दूँगा अपने आपको। मैंने अखाड़े जाना शुरू कर दिया। उन दिनों कुश्ती भी लड़ता था। उसका परिणाम यह हुआ कि हमारे एक प्रोफेसर थे सी.जी. रज़ा साहब। क्लास बहुत छोटा रह गया था और मेरा क्लास बहुत बढ़ गया था। सेक्शन। मैंने कहा, राय साहब आपके सेक्शन में बहुत ही कम लड़के हैं, मेरे यहाँ तो बढ़ते ही चले जा रहे हैं। तो वे हँसे, कहने लगे–यही तो तुम नहीं जानते, जितने बदमाश हैं, मैं उन सबसे कहता हूँ– जा, शर्मा के क्लास में चला जा। अच्छा, तो ये अध्यापक जीवन के अनुभव हैं। अधिकतर तो मैंने अंग्रेजी पढ़ाई है। कुछ दिन भाषाविज्ञान भी पढ़ाया। और लड़कों ने कहा, जो आप पढ़ाते हैं वह तो बहुत अच्छा लगता है। लेकिन अगर वह लिखेंगे तो इम्तहान में फेल हो जाएँगे। मैंने कहा, ठीक है। किसी को भाषाविज्ञान नहीं पढ़ाऊँगा। कुछ दिन हिंदी भी पढ़ाई थी। के. एम. इंस्टीट्यूट की लाइब्रेरी बहुत अच्छी थी, जिससे लाभ उठाकर मैंने भाषाविज्ञान पर काम किया। उसके बाद पत्नी बीमार रहने लगीं। तब उन्हें लेकर मैं दिल्ली चला आया।

सन् '81 से मैं दिल्ली में हूँ। यहाँ बहुत तरह की सुविधाएँ हैं। परिवार के लोग हैं। अक्सर हम लोग पारिवारिक गोष्ठियाँ करते हैं। यह बताना बहुत जरूरी है कि हमारे परिवार में साहित्यकारों से अधिक वैज्ञानिक हैं और अब साहित्यप्रेमी हैं। हमारे परिवार में एक पत्र निकलता है जिसका नाम है 'सचेतक'। उसने यह कीर्तिमान स्थापित किया है कि वह दस साल से बराबर निकल रहा है। तीसरी–चौथी पीढ़ी से लेकर मुझ तक सब लोग उसमें बराबर लिखते हैं। तो इस वातावरण में जिंदगी सुख से बीत रही है। आपकी कृपा हुई, आपने बहुत ज्यादा समारोहों में नहीं बुलाया तो मैं कुछ दिन तक और साहित्य के क्षेत्र में काम करूँगा।

(11 जनवरी, 1994 को आयोजित साहित्य अकादमी के लेखक से भेंट कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रदत्त)

रामविलास शर्मा की कविताएँ

कवि

वह सहज विलंबित मंथर गति जिसको निहार
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार।
काले लहराते बाल देव-सा तन विशाल,
आर्यों का गर्वोन्नत, प्रशस्त, अविनीत भाल।
झंकृत करती थी जिसकी वाणी में अमोल,
शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल-
कुछ काम न आया वह कवित्व आर्यत्व आज,
न संध्या की वेला शिथिल हो गये सभी साज।
अब वन्य जंतुओं का पथ में रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल।

अब कहाँ यक्ष से कवि-कुल-गुरु का ठाटबाट,
अर्पित है कवि-चरणों में किसका राजपाट,
उन स्वर्ण-खचित प्रासादों में किसका विलास,
कवि के अंत:पुर में किस श्यामा का निवास,
पैरों में कठिन बिवाईं, कटती नहीं डगर,
आँखों में आँसू दुख से खुलते नहीं अधर!
खो गया कहीं सूने नभ में वह अरुण राग,
धूसर संध्या में कवि उदास है वीतराग!
अब वन्य जंतुओं का पथ में रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल।

अज्ञान-निशा का बीत चुका है अंधकार,
खिल उठा गगन में अरुण-ज्योति का सहस्त्रार।
कि रणों ने नभ में जीवन के लिख दिये लेख,
गाते हैं वन के विहग ज्योति का गीत एक।
फिर क्यों पथ में यह संध्या की छाया उदास
क्यों सहस्त्रार का मुरझाया नभ में प्रकाश
किरणों ने पहनाया था जिसको मुकुट एक,
माथे पर वहीं लिखे हैं दुख के अमिट लेख।
अब वन्य जंतुओं का पथ में रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल।

इन वन्य जन्तुओं से मनुष्य फिर भी महान।
तू क्षुद्र मरण से जीवन को ही श्रेष्ठ मान।
रावण-महिमा-श्यामा-विभावरी-अन्धकार
छँट गया तीक्ष्ण वाणों से वह भी तम अपार।
अब बीती बहुत, रही थोड़ी, मत हो निराश,
छाया-सी सन्ध्या का यद्यपि धूसर प्रकाश।
उस वज्र-हृदय से फिर भी तू साहस बटोर,
कर दिये विफल जिसने प्रहार विधि के कठोर।
क्या कर लेगा मानव का यह रोदन कराल
रोने दे यदि रोते हैं वन-पथ में शृगाल।।

कट गई डगर जीवन की, थोड़ी रही और।
इस वन में कुश-कंटक, सोने को नहीं ठौर।
क्षत चरण न विचलित हों, मुँह से निकले न आह,
थक कर मत गिर पड़ना ओ साथी बीच राह।
यह कहे न कोई जीर्ण हो गया जब शरीर,
विचलित हो गया हृदय भी पीड़ा से अधीर।
पथ में उन अमिट रक्त-चिह्नों की रहे शान,

मर मिटने को आते हैं पीछे नौजवान।
इस वन में जहाँ अशुभ ये रोते हैं शृगाल,
निर्मित होगी जन-सत्ता की नगरी विशाल।

सिलहार

पूरी हुई कटाई अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई,
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
पूलों पर पूलों के लगे अरंभ हैं।
बिगही बरहे दीख पड़े अब खेत में,
छोटे-छोटे ठूँठ ठूँठ ही रह गये।
अभी दुपहरी में पर, जब आकाश को
चाँदी का-सा पात किये, है तप रहा,
छोटा-सा सूरज सिर पर बैसाख का,
काले धब्बों-से बिखरे वे खेत में
फटे अँगोछों में, बच्चे भी साथ ले,
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते,
खेत कटाई की मजदूरी, इन्हीं ने
जोता बोया सींचा भी था खेत को।

-1937

दिवा-स्वप्न

वर्षा से धुलकर निखर उठा नीला-नीला
फिर हरे-हरे खेतों पर छाया आसमान,
उजली कुँआर की धूप अकेली पड़ी हार में,
लौटे इस बेला सब अपने घर किसान।
पागुर करती छाँही में, कुछ गंभीर अधखुली आँखों से,
बैठी गायें करतीं विचार,

सूनेपन का मधु-गीत आम की डाली में,
गाती जातीं मिलकर ममाखियाँ लगातार।
भर रहे मकाई ज्वार बाजरे के दाने,
चुगतीं चिड़ियाँ पेड़ों पर बैठीं झूल-झूल,
पीले कनेर के फूल सुनहले फूले पीले,
लाल-लाल झाड़ी कनेर की, लाल फूल।
बिकसी फूटें, पकती कचेलियाँ बेलों में,
ढो ले आती ठंढी बयार सोंधी सुगन्ध,
अंतस्तल में फिर पैठ खोलती मनोभवन के,
वर्ष-वर्ष से सुधि के भूले द्वार बन्द।
तब वर्षों के उस पार दीखता, खेल रहा वह,
खेल-खेल में मिटा चुका है जिसे काल,
बीते वर्षों का मैं, जिसको हैं ढँके हुए
गाढ़े वर्षों की छायाओं का तंतु-जाल।
देखतीं उसे तब अपलक आँखें, रह जाती
देखती उसे ही आँखें धर एकान्त ध्यान,
भूले अतीत का स्वप्न जागता, मिट जाता
संकुचित एक पल-सा हो फीका वर्तमान।
देखतीं उसे ही, भर आतीं आँखें, फिर पलकें
झँप जातीं, खो जाती छवि वह निराकार,
मैं रह जाता फिर प्रतिदिन-सा, प्रतिदिन-सा ही
गरजता अनागत का अगाध फिर अन्धकार।

-1938

किसान-कवि और उसका पुत्र

नीले रंग में डूब गया सारा नभ-मंडल,
पूर्व दिशा में उठे घने दल के दल बादल।
लहराती पुरवाई के झोंकों पर आये,
धूल भरे लू से झुलसे खेतों पर छाये।

आमों की सुगन्ध से महक उठी पुरवाई,
पिउ-पिउ के मृदु रव से गूँज उठी अमराई।
जग के दग्ध हृदय पर गह-गह बादर बरसे,
डह-डह अंकुर फूटे वसुधा के अन्तर से।
बह न जाये जीवन अपार सीमा से बाहर,
मेड़ बाँधता है किसान खेतों में जाकर।
यह असाढ़ का पहला दिन, ये काले बादल,
लू से झुलसे हाड़ों को करते हैं शीतल।
टपक रहा है टूटा घर, खटिया टूटी है,
एक यहाँ मनचाही सुख की लूट नहीं है।
भरे तराई-ताल नदी-नाले उतराये,
आता है सैलाब, गाँव जिसमें बह जाये।
दीवारों को फिर मिट्टी से छोप-छाप कर,
बचा सकेगा कौन भला ये टूटे खंडहर?
हरे-हरे तरु-पात, जमे अंकुर ऊसर में,
उमड़ रहा है जल अपार जीवन सरि-सर में।
फिर भी उल्कापात एक उस तरु पर केवल,
वन के सब वृक्षों में था जिसका मीठा फल।
छार-छार हो गये पात सब वज्रपात से,
वह पंछी उड़ गया, हाय, उड़ गया हाथ से।
यह वर्षा की ऋतु, ढेलों में जीवन फूटा,
जिनमें वज्र हड्डियों का वह ढाँचा टूटा।
वर्षा की ऋतु, डोली फिर वन में पुरवाई,
पुरवाई के साथ मृत्यु भी उड़ती आई।
बरस रहा है जब वन में खेतों में जीवन,
किसने किया इन्हीं खेतों में प्राण विसर्जन?
किसकी मिट्टी पर यह खेतों की हरियाली?
किसके लाल लहू की फागुन में यह लाली?
ओ मेरे साथी! मेरे जाने-पहचाने।

वज्र-हड्डियों से बन गये अन्न के दाने।
साथी अपनी छोड़ गया था एक निशानी,
साथी से ज्यादा है उसकी करुण कहानी।
वह सूने वन में आशा का फूल खिला था,
सूने वन को उस तरु का वरदान मिला था।
प्रतिभा का वह फूल किसी अज्ञात दिशा में,
धूमकेतु-सा खिला और छिप गया निशा में।
चन्द्रहीन है अमा निशा, काजल-सा तम है।
दुख का पारावार अकूल अथाह अगम है।
अनजानी है राह, न साथी आज पास है।
एक नियति का पीछे कर्कश अट्टहास है।
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है।
रेत और पानी से बन जाते हैं पत्थर,
हृदय बना है आग और आँसू से मिलकर।
फिर भी सनी धूप देखकर तरु-पातों पर,
कहीं बिलम जाता है मन बिसरी बातों पर।
कहीं हृदय के सौ इस्पाती बंधन टूटे
कहीं व्यथा के स्रोत हृदय में फिर से फूटे।
दुख का पारावार उमड़ आया आँखों में,
यह जीवन की हार नहीं छिपती आँखों में।
मेरी अंध निराशा का यह गीत नहीं है।
मन बहलाने को मोहक संगीत नहीं है।
जीवन की इस मरण-व्यथा को सहना होगा,
अंतर में यह व्यथा छिपाये रहना होगा।
काल-रात्रि में चार प्रहर अविराम जागरण,
यही व्यथा का पुरस्कार है अति साधारण।
बँध न सकेगा लघु सीमाओं में लघु जीवन,
लघु जीवन से अमर बनेगा बहु-जन जीवन।

अडिग यही विश्वास, क्षुद्र है जीवन चंचल,
अनजानी है राह, यही साहस है संबल।
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है।

समुद्र के किनारे

सागर लम्बी साँसें भरता है,
सिर धुनती है लहर-लहर,
बूँदी-बादर में एक वही स्वर
गूँज रहा है हहर-हहर।
सागर की छाती से उठकर
यह टकराती है कहाँ लहर?
जिस ठौर हृदय में जलती है
वह याद तुम्हारी आठ पहर।
बस एक नखत ही चमक रहा है।
अब भी काली लहरों पर,
जिसको न अभी तक ढँक पाये हैं
सावन के बूँदी-बादर।
यह जीवन यदि अपना होता
यदि वश होता अपने ऊपर,
यह दुखी हृदय भी भर आता
भूले दुख से जैसे सागर।
वह डूब गया चंचल तारा
जो चमक रहा था लहरों पर,
सावन के बूँदी-बादर में
अब एक वही स्वर हहर-हहर।
सागर की छाती से उठकर
यह टकराती है कहाँ लहर?

जिस ठौर नखत वह बुझकर भी
जलता रहता है आठ पहर।
सागर लम्बी साँसें भरता है।
सिर धुनती है लहर-लहर,
पर आगे बढ़ता है मानव
अपनेपन से ऊपर उठकर।
आगे सागर का जल अथाह
ऊपर हैं नीर-भरे बादर,
बढ़ता है फिर भी जन समूह
जल की इस जड़ता के ऊपर।
बैठा है कौन किनारे पर,
यह गरज रहा है जन सागर?
पीछे हटकर सिर धुनकर भी
आगे बढ़ती है लहर-लहर।
दुख के इस हहर-हहर में भी
ऊँचा उठता है जय का स्वर
सीमा के बंधन तोड़ रही है
सागर की प्रत्येक लहर।

-1943

कलकत्ता

दक्षिणी समुद्र से,
दक्षिणी हवा के खुले पंखों पर,
उजले धुले बादल, बहे जाते
अजस्र धारा में, चाँदनी रात में,
उत्तर में हिमाच्छादित, दूर, हिमालय की ओर।
मूर्छित है निद्रा में
विशाल नगर, नीचे, छिपाए भूगर्भ में
नाले मल-मूत्र के।

सैकड़ों ही साँसों की उड़ती विषाक्त वायु
ऊँची-ऊँची बाड़ियों से
वेश्यालय शान्त हैं,
रक्त-माँसहीन पीले-पीले आकार डूबे
मदिरा की गंध में
निश्चेतन निद्रा में।
अनिद्रित निद्रा में जागता जो मन वही जागता है चिरकाल।
बहे जाते उजले धुले बादल
अजस्र धारा में,
उत्तर की ओर, उस ओर, जहाँ चाँदनी में,
देखता है अव्यक्त स्वप्न मौन,
विशाल तुषारपुंज समाधिस्थ हिमालय
बहे जाते दक्षिणी हवा के खुले पखों पर
जाती हों लघु आत्माएँ मानो
पंजीकृत आत्मा परमात्मा भगवान को।

-1937

दाराशुकोह

दिल्ली में उमड़ आया क्षुब्ध जन-पारावार,
राहुग्रस्त चन्द्र को भी देखकर उठा ज्वार,
दीन मदहीन एक हाथी पर राज्यहीन,
शहंशाह भारत का दाराशुकोह था सवार।
छत्रहीन शीश पर आग-सा दुसह घाम,
पीठ पर मौत-सा औरंगजेब का गुलाम,
चारों ओर त्रस्त जन-पारावार निस्सहाय,
रुद्ध जनकंठ में था अस्फुट-सा रामनाम।
तीर लिये, तेग लिये, हाथ में लिये कमान,
सैनिक थे शासक थे,-हिंदू और मुसलमान,
लोहे के से पींजरे में फारस की बुलबुल-सा,

दारा वहाँ बैठा था अनाथ शिशु के समान!
मस्तक मुकुटहीन, हाथ मणिबन्धहीन,
कंठ में पराजय का हार एक द्युतिहीन,
पाँव में जंजीर और बन्दी पिता शाहजहाँ,
सम्राट् औरंगजेब, दारा ऐसा भाग्यहीन!
टूटा कुफ्र दारा का, अजेय रहा मुसलमान।
विजय के साथ एक बाँदी मिली रूपवान।
भारत के, बाबर के, तख्त पर, भाइयों के
रक्त से लिखी गई औरंगजेब की कुरान।
सोने का-सा देश वह गोलकुंडा, जहाँ शाह
शाहों का,-कुबेर-सा, था शासक कुतुबशाह,
सोना वहाँ देवता था, काफिरों का कुतुब का
आया वहाँ गाजी, किया गोलकुंडा को तबाह।
धर्मरत दारा, प्रिय पिता, पुत्र शीलवान,
भारत के साधु और सूफियों में ज्ञानवान
सेवक ही बना रहा, रोगी पिता शाहजहाँ,
दक्षिण से जब चढ़ा आता था मुसलमान।
समगढ़, भारत-सौभाग्य का कराल काल,
राजा रामसिंह और हाड़ापति छत्रसाल
खेत रहे, जहाँ एक बागी खलीउल्ला ने
दारा का नमक देशद्रोह से किया हलाल।
''धन्य हिन्दू! स्वर्ग में भी पाये पिता जलदान।
प्यासा रहे मुसलमान शाहंशाह बेजुबान।''
आगरे में बोला बंदी प्यासा पिता शाहजहाँ,
''धन्य हो सपूत! तुम्हीं पैदा हुए मुसलमान!''
आगरा, लाहौर और सखर से सेहबान,
दारा और नादिरा ने छान डाले बियाबान,
कहा अंत समय प्रिय पति से ये नादिरा ने,
''प्यारे! मुझे मिले पाक वही खाके हिन्दुस्तान!''

दारा जैसे मित्र से भी घात और दुर्व्यवहार,
मलिक के जीवन को लानत हजार बार।
कैद हुआ दारा, उसे ले चला बहादुर खाँ,
सोती रही नादिरा, न टूटा ख्वाब एक बार।
और अब दिल्ली में अनाथ दारा, राज्यहीन,
बैठने को धूलिभरा हाथी मिला दीन-हीन,
चारों ओर सैनिक हैं तेग लिये तीर लिये,
बीच में है त्रस्त बलि-पशु दारा भाग्यहीन!
रोते थे गरीब, दारा बैठा था झुकाए माथ,
बोला यों भिखारी एक,-''आज हो गए अनाथ!
दाता! दोनों हाथ से लुटाते थे भिखारियों को,
आज हो क्या एक बार चला जाऊँ खाली हाथ''
बैठा रहा दारा वहीं नीचे को झुकाये माथ,
ऊपर की ओर बिना देखे ही उठाया हाथ,
आखिरी निशानी एक चादर थी नादिरा की,
फेंक दी अनाथ ने भिखारी को किया सनाथ।
व्यर्थ है पुकार और व्यर्थ है ये कुहराम,
खुदा को पुकारना है व्यर्थ लेना राम-नाम,
घूमती है लाश अभी नगर में चारों ओर
किन्तु इतिहास में है दारा का अमर नाम।
शान्त हुई दिल्ली और शान्त जन-पारावार,
दक्षिण में किन्तु उठा झंझावत दुर्निवार,
धूलि से दिशाएँ ढँकीं, धूलिभरा आसमान,
दिल्ली पर छा गया प्रलय जैसा अन्धकार।
काँप उठा सिंहासन, काँप उठा शहंशाह,
फूट पड़ा ज्वालामुखी जहाँ उसे मिली राह!
काँप उठी भाइयों के रक्त में रँगी कटार,
जागी प्रतिहिंसा और शासन की नयी चाह!
उत्तर से उठी घटा, काल हुआ आसमान।

दासीपुत्र बना राजद्रोही पिता के समान।
टूटे चूर शासन के, दारा का रुधिर लिए
प्रेत-सा जगाता रहा 'गाजी' दिल्ली का मसान।
-1943

बैसवाड़ा

एक घनी अमराई सा यह
हृदय अवध का
जहाँ सतत बहती है गंगा,
कोयल और पपीहे के स्वर से मुखरित है।
चाँदी सी नम उर्वर धरती,
सई, लोन नदियों के जल से भीज गई है।
खेतों में सनयी, गोहवा, सरसों की शोभा,
तालों में खिलती हैं सुन्दर कोकाबेली।
दुनिया में अनुपम हैं यहाँ शरद की साँझें।
टूटे मन्दिर, लोटों में भर जल पूजने जाती है बहुएँ, कुमारियाँ
धरती की पर्तों के नीचे
सीझ गया है यहाँ परम पावन गंगा-जल।
इस धरती पर जो अठवासे श्रम करते हैं,
उनके तन की पर्तों में अब सूख गया है
रक्त, रेत पर गिरी हुई जल की बूँदों-सा।
जमींदार के 'जन' हैं सब कोरी चमार,
करते हैं जो नित ही बेगार,
सीला भर है जिनकी पगार।
ये छोटे-छोटे खेत, और बाबा-आदम के हल माँची,
इन कच्चे कुओं, चूहों से होती पुरहाई।
धरती की छीना झपटी से,
जाते हैं परदेश कमाने पूत किसी के

कानपुर में मजदूरी, बेकारी
या फिर कलकत्ते में,
कपड़ों की फेरी करते हैं।
धरती के मालिक हैं सब गद्दार गदर के,
जमींदार, ताल्लुकेदार-
सुन्दर शरीर पर कुष्ठ रोग से।
आज अवध के जन-गीतों में,
सुन पड़ते हैं आजादी के नये तराने।
कोयल और पपीहा के स्वर में घुल मिलकर
सुन पड़ती है दूर-दूर आवाज नयी यह
इंकलाब की, आजादी की।
गंगा की उर्वर धरती में
निर्धन जनता ने गाड़ा है अपनी आजादी का झण्डा।
एक दिशा में उठते हैं अब
लाखों कदम धूल-माटी में सने हुए सब एक साथ हो।
आजादी की सरिता में कितनी भँवरें हैं?
पर अदम्य अंतर्धारा-सी,
इस धरती पर बहती है पावन जनगंगा।

तीसरे पहर

घुग्घू और उलूक डाल पर कर्कश बोले,
बोले वन में स्यार, गाँव में कूकुर रोये।
बरगद पर गीधों के पर करते हैं फड़फड़,
काले धब्बों से ऊपर चमगादड़ छाये।
बुझती लौ सी दमक उठी है पीत चाँदनी,
हुआ भोर का भ्रम बेसुध सोने वालों को।
काँव-काँव घुग्घू उलूक के स्वर को समझे,
प्रातः समय खगकुल गाता है मधुर प्रभाती।

गहरी निद्रा से सहसा जगने वालों को-
बोध हुआ यह तो जीवन की काल रात्रि है।
यज्ञ-ध्वंस-सी,
माँस-रक्त की वर्षा होती है धरती पर।
अंधकार के दास हृदय से मना रहे हैं,
यह तीसरा पहर जीवन की कालरात्रि हो।
बुझती लौ सी पीत चाँदनी, अस्थिर आभा,
क्रमशः बढ़ती हुई नहीं दिन की उजियारी।
घुग्घू और उलूक छेड़ते नहीं प्रभाती।
वन के स्यार नहीं हैं वैतालिक ऊषा के।
किन्तु क्षितिज के पार दिवा का रथ आता है,
बढ़ता ही आता है अंधकारमय पथ पर,
पूर्व गगन की ओर किरण की अविकल गति से।
नहीं मृत्यु की अमा निशा, तीसरा पहर है,
नीड़ों में खगकुल गाता है नयी प्रभाती।
निकट आ रही है क्रमशः प्रभात की बेला।
रक्त-माँस की वर्षा करने वाले राक्षस
दूर हटेंगे अँधियारे के साथ गगन से
बुझ जायेगी पीत चाँदनी, अस्थिर आभा
हरी दूब पर किरणों से मोती चमकेंगे।

-1947

आगरे में इलिया एरेनबुर्ग

इलिया एरेनबुर्ग
शहर आगरा आये,
ताज देखकर बैठे,
फलों को भी परखा।
कहा, हमारे घर में
ऐसा ही है पौधा।

बोलीं उनकी बीबी
शौक इन्हें फूलों से,
लेखक से भी बढ़कर,
ये हैं अच्छे माली!
फूल उगाते हैं ये,
तोड़ नहीं पाते हैं,
मैं उन सब फूलों की
करती हूँ रखवाली।
इलिया एरेनबुर्ग
बोले, हम देखेंगे
जरा शहर की रौनक।
जामा मस्जिद आये,
कार वहाँ पर छोड़ी,
देखीं कुछ सुराहियाँ,
चाहा इन्हें खरीदें,
टूट जायेगी लेकिन,
सोचा फिर, जहाज में,
रख दी सब दुकान में।
एक तो छुट्टी का दिन,
शाम हो गई उस पर,
भीड़-भाड़ है भारी।
लौट रहे हैं घर को
मिल-मजूर, कारीगर।
ठेले और साइकिलें
निकल नहीं पाती हैं,
फँसो भीड़ में ऐसी।
इलिया एरेनबुर्ग
खिचड़ी बाल बिखेरे,
कमल कली-सी आँखें

प्रेम भाव से खोलें,
कलाकार की धज से
सँभल-सँभलकर आगे
बढ़ते हैं पग धरते।
देख रही हैं बीबी,
जगमग-जगमग चूड़ी,
पैरिस या मोस्को में
ऐसा काम कहाँ है?
लेकर भले न पहनें,
यादगार तो होगी।
साड़ी भी कुछ देखी,
भारतीय करघों के
उम्दा नये नमूने।
तब तक ये दुकान से
लाला जो फुर्ती से
आगे बढ़कर आये,
फोटू से पहचाना,
परिचय तुरत कराया,
झाड़ी एक नमस्ते।
खुश्चेव जब से आये,
समझ गये हैं तब से
सारे रूसी भाई
कैसे करें नमस्ते।
यों घंटे भर घूमे,
कुछ धक्के भी खाये
और धूल भी फाँकी।
शहर आगरा देखा।
मास्को कहाँ आगरा!
प्रेमडोर में बँधकर

खिंचे चले आये हैं।
हिन्द-रूस की मैत्री
हाटों-बाजारों में
यों दृढ़तर होती है।
शाम इस तरह बीती।
लेकिन बहुत दिनों तक
याद रहेगा हमको
रूसी लेखक के सँग
भीड़-भाड़ में कैसे
बहुत देर घूमे थे।
इलिया एरेनबुर्ग!
तुमने तो देखे हैं
शहर न जाने कितने।
मास्को भी सुन्दर है,
पैरिस का क्या कहना!
लन्दन या वाशिंगटन
इनका जिक्र करें क्या!
लेकिन शहर आगरा
शहर आगरा ही है।
तुम भी याद करोगे,
हमने उनको देखा,
जिनके पुरखों ने ही
इस दुनिया का अचरज
सुन्दर ताज बनाया।
और बनायेंगे कल
हम सब ऐसा भारत,
ताजमहल-सा सुन्दर,
जिसमें जनता के गुण
सोने से निखरेंगे।

तुमने अतीत देखा,
वर्तमान भी परखा,
और तुम्हारी आँखें,
कमलकली-सी खिलती,
हमसे यह कहती थीं,
हाँ, हमने भारत का
भविष्य भी देखा है।

-1956

सॉनेट

एक-

अस्तप्राय शारद गगन में है दिनमान,
फैला रहा राशि-राशि सघन सुवर्ण रवि,
हरे-हरे ईख ज्वार खेतों पर एक छवि,
छायी तरुलता पुष्प दल पर आसमान।
गूढ़ तन्द्रा भरे स्वर्णपुंज तव भासमान,
स्वागत संध्ये, औ तव सुन्दर अलस वेश,
उलझाये स्वप्न छोरों से तव विस्रस्त केश
ढाँपते इमन के स्वरों से क्षिति आसमान!
स्वागत ज्वलित स्नेहदीप सांध्य तारा एक,
आँको उर-उर में सुन्दरियों के विद्यु-रेख
स्नेह-स्वर्णिमा की, निशिदूतिके हे स्वप्नाधार,
कंपित हों देह-मन-प्राण सभी अविवेक
हो अखण्ड एक स्नेह-चेतना का समुद्रेक,
आज जन-जन को हो सुखद ये अन्धकार।

दो-

दूर अमराइयों में अस्त हुआ दिनमान,
उड़े ग्राम-पथ में गोपद-क्षुब्ध धूलि-पुंज,
उठी गृह-गृह से गगन ओर धूम-गुंज,
हुई जहाँ एक-एक तारिकाएँ भासमान।

वासर-रजनि, अहो कातर यों भीति मान
तजो नहीं दीर्घ दृग-कोरकों से दुख-नीर,
लहो लघुकर स्नेहदीप, धर पग धीर
दूर निज शयन-मन्दिर करो दीप्तिमान।
आओ प्रिय-हृदय से लालसा का अन्धकार।
दूर करो, करो शुभ नव ज्योति का प्रसार,
जागे फिर प्राणों में नूतन रहस्य-ज्ञान।
वैभव के मन्दिरों में कितनी विगत वार,
जला गये यों ही मणिद्वीप कर सुकुमार,
माँगे जहाँ प्रेमियों ने प्रथम प्रणयदान!

नई जिन्दगी की किरन

नई जिन्दगी की किरन फूटती है,
नये साल की है नयी ही कहानी।
नयी जिन्दगी है नयी ही रवानी
सभी पर चढ़ा है शहादत का पानी।
नयी हैं उमंगें नयी है जवानी,
नयी जिन्दगी मौत पर टूटती है।
घने बादलों से किरन फूटती है।
किरन फूटती है सहर हो रही है,
अमावस की काली घटा रो रही है।
समुन्दर के ऊपर लहर सो रही है,
किसी की हुकूमत खतम हो रही है।
गुलामी की आखिर कड़ी टूटती है,
घने बादलों से किरन फूटती है।
हरे खेत पर ओस की बूँद छाए,
कुहासा उठा, धान फिर लहलहाए।
नये धान को प्राण सा ही रखाए,

खड़ा है धनी आज लाठी उठाए।
लुटेरों की हिम्मत जहाँ छूटती है,
घने बादलों से किरन फूटती है।
बहुत दिन सहे रात में ओस पाले,
बहुत दिन सहे जिन्दगी के कसाले।
बहाया लहू खेत भी सींच डाले,
रहे रोटियों के हमेशा ही लाले।
लुटेरों पे बागी प्रजा टूटती है,
घने बादलों से किरन फूटती है।
उधर मिल के ऊपर धुआँ छा रहा है,
सुबह की हवा से उड़ा जा रहा है।
नया काफिला भी बढ़ा जा रहा है,
अगिन-बान सा वह चढ़ा जा रहा है।
हुकूमत की साजिश जहाँ टूटती है,
घने बादलों से किरन फूटती है।
जहाँ रात दिन भट्टियाँ जल रही हैं,
गुलामी की सब अड़चनें गल रही हैं।
नयी कूवतें हिम्मतें ढल रही हैं,
हवाएँ वहाँ पर नयी चल रही हैं।
वहीं देश की हथकड़ी टूटती है,
घने बादलों से किरन फूटती है।
महल में बना राज राजा कसाई,
प्रजा गाय सी बेकसी में रँभाई।
मगर खौफ से कँप रही है कलाई,
जहाँ गाय ने सींग अपनी उठाई।
कसाई के ऊपर प्रजा टूटती है,
घने बादलों से किरन फूटती है।
बहुत सोचकर जाल तूने बिछाया,
परिन्दे बुलाये, लुभाया, फँसाया।

मगर दाँव तेरा नहीं काम आया,
परिन्दे उड़े जाल को भी उड़ाया।
हुकूमत की हिकमत जहाँ टूटती है,
घने बादलों से किरन फूटती है।
अभी और तुझसे घमासान होगा,
लहू से शराबोर मैदान होगा।
मगर जुल्म का फिर न सामान होगा,
न यों मौत से मुल्क वीरान होगा।
गुलामी की आखिर कड़ी टूटती है,
घने बादलों से किरन फूटती है।
-(15 अगस्त 1947)

श्री भजनदास की चिट्ठी

कायदे आजम जिन्ना के नाम
जिन्ना साहेब का राम राम।
सेवा माँ हाजिर है कलाम।
अब तो सबकी सैर सल्ला का
अल्लै अल्ला और राम राम।
घर के लरिका परदेश जायँ,
लौटै घानी भरि धनु कमाय।
तुम द्यास का परदेसु कि ह्यो
धन के बदले निरधनु कमाय।
गुजरात देस माँ जनम लिह्यो,
वहि धरती ते संन्यास लिह्यो,
पुरिखन की डेहरी का तजिकै,
लरिकन का सिच्छा कौनि दिह्यो।
जब जनम लिह्यो, हिन्दुस्तानी,
अब मरिहौ तो पाकिस्तानी?

को जान तुम्हरे जियत जियत
मिटि जाय कतौं यह नादानी।
पूरब पच्छिम के बंगाली
भासा उन सबकै बंगाली।
तबहूँ दुइ जाती अलग-अलग,
यह कैसि अकिल के कंगाली!
जो मुस्लिम के याकै जाती
तौ चीनी अरबन के नाती?
फिरि तुर्क, इरानी, जापानी-
काहे इनकी अलगै पाँती?
बदलैहो तुम आबादी का
मुलु जोस मलीहाबादी का,
कस लै जैहो सायर अकबर
मरहूम इलाहाबादी का?
औ बिस्मिल्ला कै सहनाई,
तब हिन्दू मुस्लिम का गाई?
फैयाज मियाँ की गमकन माँ
अब कौनु नवा सुर परि जाई?
तुम तो भूल पाकिस्तान गयो,
औलादि अपनि कुछु छौंड़ि गयो,
हिन्दू मुस्लिम दुई कौमें हैं,
कुछ हिन्दुन का सिखलाय गयो।
मुस्लिम का जो अब नास करी
तब हम ही घर माँ बास करी।
ऐसे हिन्दू जगजोधन का
हम मूरखता माँ बास करी।
यह खेलु भला कब तक होई?
जनता आखिर कब तक सोई?
हम कहो तो कागदु लिखि देई

एका होई औ फिरि होई।
लिखि दीन जौनु मन भावा है।
तुम जस तो पढ़ि ना पावा है।
मुलु फिरि घर माँ एका होई
यह भजनदास का दावा है।

-(18 जनवरी 1948)